51

फार्म।
के गी हाका
उका

प्राक्कथन

कथावाङ्मय के विश्वसाहित्य में 'सोमदेव' के 'कथासरित्सागर' का विशिष्ट महत्त्व है। वैसे 'पंचतन्त्र' की कथाओं की सर्वाधिक महत्ता है। बालकथा और नीतिकथा के रूप में 'विष्णुशर्मा' के पंचतन्त्र की कथाओं ने सभ्यजगत् के अनेकानेक देशों की कथाओं को प्रभावित किया है। 'हितोपदेश' भी उसी श्रृङ्खला का कथा ग्रन्थ है। दूसरी ओर गुणाढ्य की 'वड्डकहा' अर्थात् 'बृहत्कथा' साहित्यिक और निजंधरी कथाओं का भारतीय मूल ग्रन्थ रहा होगा। उक्त रचना बड़ी विशाल पुस्तक थी।

'गुणाढ्य' की बृहत्कथा यद्यपि प्राकृत में रचित थी और अब अनुपलब्ध है तथापि उसके आधार पर, रचित अनेक ग्रन्थ संस्कृत भाषा के माध्यम से आज भी वर्त्तमान और प्रकाशित हैं। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'बृहत्कथा-मंजरी' और 'कथासरित्सागर' उसी महाग्रन्थ के संक्षिप्त संस्करण हैं जो संस्कृत भाषा के माध्यम से लिखे गए हैं। 'कथासरित्सागर' उन्हीं में एक उत्कृष्ट कृति है। इसके लेखक 'सोमदेव' का काल और देश भी सौभाग्य से ज्ञात है। इन सबका विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ—'कथासरित्सागर का एक सांस्कृतिक अध्ययन' में दिया हुआ है।

इस ग्रन्थ के लेखक का काल प्रायः वही है जो 'राजतरंगिणी' के अनुसार कश्मीरनरेश राजा अनंग का है जिसका राज्याभिषेक 'लौकिक वर्ष ४१०४ अर्थात् १०४२ ई० के आसपास हुआ था। सोमदेव उन्हीं के दरबारी कवि थे। राजा अनंत की मृत्यु (आत्महत्या) के बाद शोकाकुल रानी सूर्यमती के चित्तविनोद हेतु इस मनोविनोदक ग्रन्थ की रचना 'सोमदेव' ने की थी। इन सब विवरणों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ के आरम्भ में है। अतः इस विस्तार में जाना अनावश्यक है।

यहाँ कथासरित्सागर के सम्बन्ध में इतना ही कथ्य है कि यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सर्व-प्रथम इसीसे 'गुणाढ्य' एवं उनकी 'बृहत्कथा' की सूचना मिलती है जिसमें उस समय तक उदयन और नरवाहनदत्त की गीं जाथरी' (निजंधरी) कथाएँ भारत में अत्यन्त प्रचलित हो गई थीं। इसके साथ ही साथ उक्त वैशिष्ट्यवाले आर्यों केसांस्कृतिक और जानश्रुतिक नायक उदयन एवं नरवाहनदत्त के विषय में कैसी-कैसी कथाओं का प्रभाव भारत ोनों के लिए हुआ था। इस ग्रन्थ का 'कथासागर' के रूप में कितना व्यापक और दूरगामी प्रभाव था—यह भी ज्ञात द्वारा है।

इन सब दृष्टियों से देश और विदेश के अनेक विद्वानों ने कथासरित्सागर का अध्ययन किया है। साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टि से बहुत-सा अनुशीलन और शोध किया जा चुका है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ के लेखक श्री वाचस्पति द्विवेदी ने एक नवीन दृष्टि से 'कथासरित्सागर : एक सांस्कृतिक अध्ययन' प्रस्तुत करते हुए इस ग्रंथ के विषय में विशिष्ट कार्य किया है—जो अपने आप में अतीव महत्व का है।

पूर्वकृत आलोचनात्मक एवं शोधपरक कार्यों की अपेक्षा इसमें सर्वांगीण सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। उसका संदर्भ और परिधिबोध अत्यन्त व्यापक एवं गम्भीर है। इस शोधप्रबन्ध में ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक परिच्छेद हैं।

इनमें लेखक ने कथासरित्सागर-कालीन विविध सांस्कृतिक पक्षों का गहराई के साथ विस्ता… अनुशीलन किया है। प्रथम अध्याय के परिच्छेदों में ग्रन्थ का सांस्कृतिक महत्त्व, कृतिकार सोमद… और कृतित्व तथा 'बृहत्कथा और कथासरित्सागर' से सम्बद्ध अपेक्षित पक्षों का परिचय दिया गया है।

कथासरित्सागर द्वारा अग्रिम अध्यायों में भौगोलिक स्थिति, देश, जनपद, द्वीप, नगर, ग्राम, नद-नद… जीवजन्तु, वृक्षसंपत्ति आदि की यथासम्भव परिचायक पहचान बताई गई है। क्रमशः सामाजिक पृष्ठभूमि …ताते हुए वर्णव्यवस्था, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों के कर्म और वर्णित स्वरूप, आश्रम (वर्णाश्रम) एवं संस्कार आदि का परिचय देते हुए उनके तत्कालीन शुभ्र एवं अशुभ्र चित्रों का बड़ी तटस्थता के साथ यथार्थ निरूपण किया गय… । जातियों, उपजातियों, शिल्पप्रधान विभिन्न उपजातियों की जीवनदिशा और कर्मचर्या का यथार्थपरक विवरण भी दिया गया है। इसी के साथ-साथ तत्कालीन विवाह प्रथा, दहेज, देय आदि के विभिन्न प्रचलित एवं समाज में आदृत-अनादृत रूपों का ग्रंथकार ने अत्यन्त सजीव तथा सोदाहरण विवरण प्रस्तुत किया है। विवाह के विभिन्न रूपों का अध्ययन तत्कालीन विशिष्ट प्रचलनों एवं रीतियों-लोकाचारों का रोचक चित्र प्रस्तुत करता है। यही अध्याय 'समाज में नारी का स्थान' और उसकी विविधता का रूप भी उद्घाटित करता है। आगे के अध्यायों में राजनीतिक पक्षों का विस्तार के साथ वैदुष्यपूर्ण परिचय है। राजनीतिसम्बद्ध तत्कालीन मान्यताओं का किस प्रकार प्राचीन काल से लेकर कथासरित्सागरीय मध्ययुग तक कैसा विकास हुआ था, इन सब पक्षों पर ग्रन्थलेखक ने प्रकाश डाला है। साथ ही युद्ध, सेना आदि के सम्बन्ध में भी सर्वाङ्गीण विवरण दिया है। इसी अध्याय में आर्थिक जीवन, व्यवसाय-वाणिज्य आदि भी उल्लिखित हैं। साथ ही भोजन, रहन-सहन, वस्त्र, आभूषण, वेषभूषा, वाहन-यान, क्रीड़ा, मनोरंजन-मनोविनोद, पर्व, गोष्ठी, उत्सव-त्योहार, शकुन-विचार आदि का शोधपरक परिचय दिया गया है।

शिक्षा, शिक्षण-विषय, शिक्षाकेन्द्र, ललितकला, धर्मस्वरूप, धर्मचर्या, धर्मदृष्टि विविध धर्म और उनकी उपासना, देवो-अपदेवों की पूजा-अर्चना, तन्त्र, जादू-टोना आदि के विषय में कथासरित्सागरकार ने जो चित्र प्रस्तुत किया है—उनका भी ग्रन्थकार ने समीक्षात्मक परिचय दिया है।

इन सबके अतिरिक्त अनेक सांस्कृतिक पक्षों का वर्णन है जिनके अन्तर्गत विभिन्न अध्यायों और तदन्तर्गत उपर्युक्त परिच्छेदों में सामाजिक, राजनीतिक, सामरिक, शैक्षणिक, धार्मिक, आचारिक, नैतिक आदि पक्षों पर कथासरित्सागरकालीन सांस्कृतिरूपों की अच्छी पहचान होती है।

इन सब से यह लगता है कि ग्रन्थकार में विवेच्यविषयबोध की अच्छी प्रतिभा है जिसके माध्यम … अपने अध्यवसाय से वह कथासरित्सागर के सांस्कृतिक अध्ययन का विश्लेषण करने में सफल हुआ है। मैं अ… हूँ कि भविष्यत् में श्रीवाचस्पति द्विवेदी द्वारा और भी महत्त्वपूर्ण शोध और अनुशीलन के कार्य होंगे।

मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए श्री द्विवेदी को आशीर्वाद और बधाई देता हूँ।

गंगादशहरा
संवत् २०३४ वि०

करुणापति त्रिपाठी
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्राक्कथन

काश्मीर नरेश अनन्त के शासनकाल में महारानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए सन् १०६३ एवं १०८३ के बीच महाकवि सोमदेव विरचित कथासरित्सागर, भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका आधार प्रथम सदी की गुणाढ्य रचित "बृहत्कथा" है, जो रामायण एवं महाभारत के समान संस्कृत कवियों की उपजीव्य रही है। सोमदेव ने अपनी प्रतिभा से केवल कथा की संघटना में ही परिवर्तन नहीं किया, अपितु रोचक वर्णन शैली में, तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों का भी चित्रण किया है।

गुप्तकाल के अन्तिम सूर्य हर्ष के निधन के बाद सम्पूर्ण आर्यावर्त की एकता नष्ट हो गई। छोटे-छोटे राज्यों में बँटे इस देश की राजनीतिक चेतना लुप्तप्राय हो गई। वर्ण एवं जातिगत कट्टरता तथा संकीर्णता ने समाज को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट दिया। राजनीति एवं समाज के विभाजन की तरह, इस समय धर्म भी भक्तिमार्गी वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर, गाणपत्य आदि कई सम्प्रदायों में विभक्त था। वाममार्ग में धर्म के बहाने पंच मकारों का सेवन होता था। उस युग की ये विशिष्ट प्रवृत्तियाँ कथासरित्सागर में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हैं।

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में "कथासरित्सागर के रूप में कल्पना ने एक ऐसे महान् कथासागर की सृष्टि की है, जिसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं और नगरों, राजतन्त्र और षड्यन्त्र, जादू टोना, छलकपट, हत्या और युद्ध, रक्तपायी वेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशु-पक्षी एवं साधु, पियक्कड़, जुआड़ी, वेश्या, विट और कुट्टिनी आदि की सच्ची एवं अतिरञ्जित कहानियाँ एकत्र हो गई हैं। इन सभी कहानियों में बिखरी सामग्री एकत्र कर तत्कालीन समाज का समग्र रूप देखा जा सकता है।"

विषय की विविधता एवं रोचकता ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। पेन्जर एवं टानी की विशद टिप्पणी में विशेषतः कथाभिप्रायों (Motifs) की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इनके सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश नहीं डाला गया है। अतः इन कथाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की इच्छा हुई।

आख्यान साहित्य की दृष्टि से मूल्यांकन की अपेक्षा इस महाग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्यांकन करना अधिक उपयोगी जान पड़ा। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि का सूक्ष्म वर्णन इसमें किया गया है। अतः सांस्कृतिक सामग्रियों को पृथक् कर उनका भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना, भारतीय साहित्य और इतिहास दोनों के लिये बहुमूल्य है। अभीतक इस महाग्रन्थ का सांस्कृतिक दृष्टि से कहीं भी अध्ययन नहीं हुआ था। अतः हमारा यह प्रयास सर्वथा नवीन और मौलिक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कथासरित्सागर का महत्त्व, कवि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा बृहत् कथा के विभिन्न संस्करण आदि विषयों पर विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय "भौगोलिक स्थिति" शीर्षक है। इसमें विभिन्न जनपद, नगर, ग्राम का विश्लेषण तथा उनकी आधुनिक पहचान की गई है। तत्कालीन पर्वत, नदी, अरण्य, वृक्षसम्पत्ति, पशुपक्षी आदि का विवरण भी दिया गया है, जिससे पूर्वमध्ययुगीन भारतीय इतिहास की भौगोलिक पीठिका पर प्रकाश पड़ता है।

तीसरे अध्याय में "सामाजिक जीवन" का विश्लेषण है। इसमें सामाजिक पृष्ठभूमि, वर्णव्यवस्था, आश्रम, संस्कार, विवाह, आदि का विचार किया गया है। समाज में नारी का स्थान, देवदासी तथा सती प्रथा आदि विषयों पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत है।

चौथा अध्याय "राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन" शीर्षक है। इसमें राजा की अर्हतायें, महत्त्व, मंत्रिपरिषद् राज्य के अङ्ग, अस्त्र-शस्त्र, युद्ध की आचारसंहिता, व्यूहरचना आदि की समीक्षा की गई है। तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है।

पांचवा अध्याय "वेशभूषा, भोजन, पान एवं रहन-सहन" शीर्षक है। इस अध्याय में भोजन, पान एवं वस्त्रालङ्कार का वर्णन है।

छठा अध्याय "शिक्षा, धर्म, दर्शन, विज्ञान, ललितकला एवं तन्त्र से सम्बद्ध है। शिक्षा की पृष्ठभूमि, गुरुकुल, अग्रहार, प्रमुख विद्याकेन्द्र, पाठ्यविषय, शास्त्रार्थ प्रणाली आदि की समीक्षा के साथ-साथ नूतन सामग्री की संयोजना की गई है। धर्म के अन्तर्गत, आर्येतर धर्म, हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय, प्रमुख देवता, तीर्थ, बौद्ध एवं जैन धर्म की समुचित विवेचना की गई है। तत्कालीन धर्म का स्वरूप एवं उसकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। शिल्पकला के अन्तर्गत नृत्यगीत, वाद्य, हस्तकला, मूर्त्तिकला, एवं वास्तुकला का आकलन एवं समीक्षा की गई है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ-साथ तन्त्र-मन्त्र एवं जादू-टोना के विविध प्रयोग एवं प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

इस अध्ययन को प्रस्तुत करने में कथासरित्सागर के पूर्ववर्ती, समवर्ती तथा परवर्ती भारतीय तथा विदेशी सामग्री का पूरा उपयोग किया गया है। इस क्रम में विवेचनात्मक दृष्टि एवं तटस्थता प्रधान रही है। विशिष्ट विषयों का स्वतन्त्र मूल्यांकन भी किया गया है।

यों तो बचपन से ही पूज्य पितामह (स्व० महामहोपाध्याय पं० हरिहरकृपालु द्विवेदी) के चरणों में बैठकर पञ्चतन्त्र, हितोपदेश एवं कुछ पौराणिक कहानियों को सुनने का सौभाग्य मुझे मिला था, उस संस्कार ने मुझे कथासरित्सागर के समुचित अध्ययन की ओर प्रेरित किया। क्या जानता था कि एक दिन इन सभी कथाओं के उत्स कथासरित्सागर का अध्ययन मुझे करना होगा।

पूज्य पिताजी (विद्यावाचस्पति पं० श्रीब्रह्मदत्त जी द्विवेदी, प्राचार्य, मुरारका संस्कृत कालेज, पटना सीटी) की आज्ञा थी कि मैं दर्शन अथवा व्याकरण पर कार्य करूं। किन्तु इस विषय के आकर्षण के कारण मैं अपना बालहठ न छोड़ सका। जो कुछ है सब उन्हीं का है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"॥

पटना विश्वविद्यालय द्वारा १९७२ में पी. एच. डी उपाधि के लिये स्वीकृत प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० वेचन झा (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय) के निर्देशन में लिखा गया। उनकी सहायता एवं मार्ग दर्शन के बिना यह कार्य सम्भव न था।

स्व. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, जैन कालेज आरा) ने मुझे इस विषय की ओर प्रवर्तित किया। अतः मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। चौखम्भा ओरियन्टालिया के व्यवस्थापक का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रकाशन का गुरुतर दायित्व निभाया। मेरी पत्नी (श्रीमती कृष्णा कुमारी द्विवेदी) का सहयोग भी कम नहीं, जिसने मुझे गार्हस्थ्य प्रपंचों से मुक्त रख लिखने का अवसर दिया।

माघ कृष्ण अमावास्या
(पूर्ण कुम्भ) सं० २०३३, १९-१-७७

वाचस्पति द्विवेदी

विषय सूची

संकेत सूची

अ० को०	—	अमरकोष
आ० गृ० सू०	—	आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० गृ० सू०	—	आश्वलायनगृह्यसूत्र
आ० पु० भा०	—	आदिपुराण में प्रतिपादित भारत
आ० स० श०	—	आर्यासप्तशती
ऐ० ब्रा०	—	ऐतरेय ब्राह्मण
क० सा० सा०	—	कथासरित्सागर
कौ० अ०	—	कौटलीय अर्थशास्त्र
का० मी०	—	काव्यमीमांसा
का० सू०	—	कामसूत्र
ग्या० भा०	—	ग्यारहवीं सदी का भारत
गौ० स्मृ०	—	गौतम स्मृति
गा० स० श०	—	गाथा सप्तशती
परा० स्मृ०	—	पाराशरस्मृति
पा० का० भा०	—	पाणिनिकालीन भारतवर्ष
म० पु०	—	मत्स्य पुराण
मा० पु०	—	मार्कण्डेय पुराण
मनु०	—	मनुस्मृति
म० भा०	—	महाभारत
या० स्मृ०	—	याज्ञवल्क्यस्मृति
श० ब्रा०	—	शतपथ ब्राह्मण
शु० नी०	—	शुक्रनीति
रघु०	—	रघुवंश
राज० त०	—	राजतरंगिणी
श० सं० त०	—	शक्तिसंगम-तन्त्र
श० क०	—	शब्दकल्पद्रुम
स० सू०	—	समराङ्गणसूत्रधार
A. G. I.	—	Ancient Geography of India
A. I.	—	Alberuni's India
E. A. I.	—	Education in Ancient India
O. S.	—	Ocean of Stories.
S. G. I.	—	Studies in the Geography of Ancient India
E. I.	—	Epigraphic Indica
J. I H.	—	Journal of Indian History.



अध्याय १

प्रथम परिच्छेद

कथासरित्सागर का सांस्कृतिक महत्त्व

परिचय :

महाकवि सोमदेव विरचित कथासरित्सागर का अध्ययन, भारतीय आख्यान साहित्य के स्रोत, परम्परा एवं परवर्त्ती साहित्य पर प्रभाव आदि की अपेक्षा भारतीय सांस्कृतिक जीवन के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। विन्टरनित्स ने इस ग्रन्थ के सांस्कृतिक महत्त्व को बताते हुए कहा कि "हमारा भारतीय संस्कृति का ज्ञान बहुत हद तक सोमदेव के कथासरित्सागर पर निर्भर है। इस ग्रन्थ से हमें भारतीय धर्म एवं प्राचीन भारत में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में जानकारी तो मिलती ही है, जाति-व्यवस्था, नृवंशविद्या, कला, कलाकार एवं शिल्पी, द्यूत, मद्यपान एवं अन्यान्य भारतीय जनजीवन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनायें भी उपलब्ध होती हैं।"[1]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस ग्रन्थ का महत्त्व बताते हुए लिखा है "सोमदेव के कथासरित्सागर में उत्तर-पश्चिम की ओर अपर गान्धार की राजधानी पुष्कलावती तक का उल्लेख है, जहाँ उत्तरपथगामी वणिक्पुत्र म्लेच्छभूयसी भूमि को पार कर पहुँचते थे···कर्पूरद्वीप, सुवर्णद्वीप, सिंहलद्वीप आदि का वर्णन भी कथासरित्सागर में है।"[2] अतः सांस्कृतिक दृष्टि से यह ग्रन्थ विपुल सामग्री से समन्वित है। आगे चलकर डॉ० अग्रवाल ने इस ग्रन्थ को कल्पना जगत् का दर्पण कहा है।[3] इसमें भारतीय संस्कृति, सभ्यता, आचार-परम्परायें एवं विभिन्न दार्शनिक मान्यतायें सुरक्षित हैं।

डा० कीथ ने भी इस ग्रन्थ की पर्याप्त प्रशंसा की है, और सोमदेव को प्रतिभा का धनी माना है।[4]

डा० एस० के० डे० ने इसे विभिन्न चरित्रों का अजायब घर कहा है।[5]

---

1. Winternitz "History of Indian literature" Page 365.
"Lastly we must not forget to mention the extent to which our Knowledge of Indian culture is based on the Kathāsaritasāgar of Somadev. We have already seen that we learn from this book much about Indian religions and know about the position of woman in ancient India.
But we get from Somadeva's book abundant amount of information also about the caste system about ethnographical conditions about art, artists and artisans about court life about gambling about drinking booths and other things about the actual life of Indian people.

२. डॉ० अग्रवाल : कथासरित्सागर, राष्ट्रभाषा-परिषद्—प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ० ११.

३. वही, पृ० १२.

४. डा० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास—हिन्दी संस्करण, पृ० ३३४-३५.

५. डे०, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२१ पाद-टिप्पण।

स्पष्ट है कि कथासरित्सागर भारतीय ज्ञानविज्ञान का कोष है। अनेक वर्ष पूर्व पेन्जर एवं टानी ने इस ग्रन्थ के कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन कर कथाभिप्रायों की विस्तृत विवेचना की है।

पेन्जर एवं टानी ने कथा के मर्म पर तो प्रकाश डाला है, पर उन्होंने इस बृहत् ग्रन्थ में व्याप्त भारतीय लोक-संस्कृति का विश्लेषण नहीं किया है।

अतएव उक्त ग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन १०वीं ११वीं शताब्दी के भारतीय समाज को जानने के लिए आवश्यक है। इस ग्रन्थ की सांस्कृतिक सामग्री का कुछ अंश गुप्तकाल से भी पहले का है। गुप्त-काल में चित्रकला, मूर्त्तिकला, एवं संगीतकला के क्षेत्र में जो कार्य प्रस्तुत किये गये उनका प्रतिबिम्ब इस कथाग्रन्थ में देखा जा सकता है।

कथासरित्सागर में प्रतिपादित भारत की सीमा आधुनिक भारत से भिन्न है। उत्तर में हिमालय के पर्वतीय भूभाग में स्थित बहुत से नगरों के नाम आये हैं। जिनमें बहुतों के सम्बन्ध में निश्चित कुछ कहना सम्भव नहीं। विटंकपुर[1], तृघण्टनगर[2], शैलपुर[3], मुक्तापुर[4], कांचनसृंग[5], आदि ऐसे नगर हैं। मानसरोवर[6], कैलाश[7], अलका भारत की उत्तरी सीमा बता रहे हैं। नेपाल[8] तो भारत का अंग था ही। दक्षिण में दक्षिणापथ से लेकर सिंहलद्वीप[9], लंका[10] तक के प्रसिद्ध प्रदेशों का विस्तृत उल्लेख है। उनमें मुख्य हैं प्रतिष्ठानप्रदेश[11] एवं कर्णाट जिसे आज कर्णाटक[12] कहते हैं। यह आन्ध्र के दक्षिण और पश्चिम का जनपद है। यह कन्नड़ भाषा भाषी राज्य है। संस्कृत कर्णाट का कन्नड़ हो गया है। अवन्ति[13], वत्स[14], उज्जयिनी[15], मालव[16], विदर्भ[17] आदि मध्यदेशों[18] का विस्तृत वर्णन है। पश्चिमोत्तर प्रान्तों में कश्मीर[19], लाट[20], मरुकच्छ[21] एवं पश्चिमी प्रदेशों में कोंकड़[22], सौराष्ट्र[23], स्कन्धावार[24] एवं तुरुष्क[25] तक के भूभाग सम्मिलित हैं। भारत की पूर्वी सीमा में कामरूप[26], ताम्रलिप्ति[27], गौड़[28] आदि प्रदेश सम्मिलित थे।

---

१. क० स० सा० ५।२।२३.
२. वही, ५।२।१९५.
३. वही, ७।८।१२४.
४. वही, ७।८।१९८.
५. वही, ७।१।१४९.
६. वही, ९।६।२०७.
७. वही, १५।१।६४.
८. वही, १२।२२।३.
९. वही, १८।१।९१.
१०. वही, २।४।१२४.
११. वही, १।६।८३.
१२. वही, २।१।१९.
१३. वही, २।१।१९.
१४. वही, २।१।४.
१५. वही, १।२।८.
१६. वही, २।१।६.
१७. वही, ६।१।१०९.
१८. वही, ६।६।१०५.
१९. वही, १०।९।२१४.
२०. वही, ३।५।१०४.
२१. वही, १।६।१६६.
२२. वही, ८।१।४३.
२३. वही, १८।१।७६.
२४. वही, १२।३५।१०५.
२५. वही, ३।५।१०९.
२६. वही, ३।५।११३.
२७. वही, ८।१।५४.
२८. वही, ८।६।४३.

भारत का अधिकार द्वीपान्तरों पर भी था। कटाह द्वीप[1] मलय प्रायद्वीप का एक भाग था, जिसे इस समय केडा कहते हैं।[2]

कर्पूर द्वीप[3] हिन्देशिया का कोई द्वीप होना चाहिए। सुवर्ण द्वीप[4] सुमात्रा की संज्ञा थी। नारिकेल द्वीप[5] निकोबार द्वीप का ही दूसरा नाम है। श्वेत द्वीप[6] क्षीरोद समुद्र के पास था जिसे कास्पियन सागर कहते हैं।

सामाजिक अव्यवस्था एवं राजनैतिक अस्थिरता ही ग्यारहवीं सदी के भारत की विशेषता है। सामाजिक मान्यतायें तेजी से बदल रही थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्गों में समाज विभाजित था फिर भी परस्पर व्यवहार में जातिगत कट्टरता नहीं थी। क्षत्रिय राजा परंतप की पुत्री कनकरेखा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय से विवाह करने का प्रस्ताव करती है। उनमें पहला अभ्यर्थी ब्राह्मण है। राजा को इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। कवि भी इस पर कोई टिप्पणी नहीं करता।[7] अनंगारवती के लिए चारो वर्णों के प्रत्याशी आते हैं।[8] व्यवसाय का आधार केवल जाति नहीं थी। ब्राह्मण व्यवसायी भी थे योद्धा भी। गोविन्द स्वामी ब्राह्मण का पुत्र कुश्ती में सर्वप्रथम आता है।[9] अछूतकन्या से विवाह में राजा को हिचक नहीं।[10] गान्धर्व विवाह समाज में प्रचलित था। बहुविवाह धनिकों के लिए सामान्य बात थी।

सपत्न्यो हि भवन्तीह प्रायः श्रीमति भर्तरि।
दरिद्रो विभृणियादेकामपि कष्टं कुतो बहूः ॥[11]

अधिकांश कहानियां स्त्री चरित्र से सम्बन्धित हैं। सती, कुलटा, वेश्या, पतिसेविका, पतिघातिनी, तन्त्र-मन्त्र में विश्वास रखनेवाली अद्भुत साहसी[12] स्त्रियों का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इनमें दुष्टा, चरित्रहीन, कृतघ्न पत्नियों की अधिकता है। स्त्रियों का चरित्र समझना कठिन है। "इत्थं दुरवधार्यैव स्त्री चित्तस्य गतिः किल"।[13]

विन्टरनिज ने लिखा है कि कथासरित्सागर में स्त्रियों की कहानियां अधिक हैं। इन कथाओं में दुष्टापत्नियों की कथायें अधिक हैं।[14]

---

१. क० स० सा० १८।४।१०५.
२. वही, भूमिका, वा० श०.अग्रवाल, पृ० ११.
३. वही, ९।६।६१.
४. क० स० सा० १८।४।११०.
५. वही, ९।६।५३.
६. वही, वा० श० अग्रवाल भूमिका, पृ० २६.
७, वही, ५।१।४२.
८. वही, ९।२।९९-१०५.
९. वही, ५।२।१२०.
१०. वही, १६।२।८६.
११. वही, ८।६।२०८.
१२. वही, ६।८।१८७.
१३. वही, १०।२।६६.

14. History of Sanskrit Literature, Winternitz Page 358.
"The number of women's stories is quite large. Among them the stories of faithless and wicked wives prevail."

कहीं-कहीं जीविका के लिए भी विधवायें अनैतिक आचरण स्वीकार करती हैं।

सा चात्म-परितोषाय परपुरुषसंगमम्।
विदधाना ययौ गेहात् रात्रौ यतस्ततः ॥[1]

समाज में तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना का प्रभाव विशेष परिलक्षित होता है। इन सिद्धियों के बल पर अलौकिक कार्य सिद्ध करने की होड़-सी दिखाई पड़ती है। स्त्रियां मन्त्र की सिद्धि के लिए पुत्र की हत्या करने में भी नहीं हिचकतीं। समाज में ब्राह्मणों की मर्यादा घट गई थी।[2]

तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल ने सम्पूर्ण देश की एकता को छिन्न-भिन्न कर डाला था। राजा अपने चरित्र से गिर गये थे। उनके भोग-विलासमय जीवन का यह ग्रन्थ सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। अखण्ड आर्यावर्त्त की परिकल्पना धूमिल हो चली थी। छोटे-छोटे राजा निरन्तर युद्धरत थे।

जंगली जातियों का उत्पात देश में आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न कर रहा था। भारत की सीमा पर विदेशी आक्रमणकारियों की काली छाया पड़ने लगी थी। तुरुष्क[3], पारसीक[4], हूण[5], ताजिक[6] (तुर्क) आदि विदेशी जातियों का कथासरित्सागर में विशद उल्लेख है। पुलिन्द[7], शवर[8], किरात[9], आदि आर्येतर जातियों का प्रभाव भी व्यापक था। आर्य एवं अनार्य जातियों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप दोनों ने एक दूसरे की बहुत-सी बातें अपनाईं। भारत की उत्तरी सीमा पर म्लेच्छों[10] का जमाव था। म्लेच्छ संघ स्थापित हो चुके थे।

अतः इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन १०वीं ११वीं शताब्दी के भारतीय समाज के ज्ञान के लिये आवश्यक है। साहसी प्रेमियों, राजाओं, नगरों, राजतन्त्र, षड्यन्त्र, जादू-टोना, वेश्या-विट और कुट्टिनियों द्वारा उपस्थित किये गये विश्वासघात एवं विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों, वनलताओं और पुष्पों का सांगोपांग चित्रण है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आख्यान साहित्य की दृष्टि से मूल्यांकन की अपेक्षा इस महाग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्यांकन कहीं अधिक उपयोगी है।[11]

---

१. क० स० सा० १४।२।९५.
२. वही, ३।४।१०८.
३. वही, ७।३।४०.
४. वही, ३।५।११०.
५. वही, ३।५।१११.
६. वही, ७।३।३६.
७. वही, ४।२।६४.
८. वही, १२।३४।२८९.
९. वही, २।१।७४-७५.
१०. वही, १२।१।२२१.
११. वही, १८।१।३८, ७।३।३५.

द्वितीय परिच्छेद

कवि का व्यक्तित्व और कृतित्व

सौभाग्य से संस्कृत साहित्य के अन्य महाकवियों के समान सोमदेव का काल अज्ञात नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति में इन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। ब्राह्मण कुलोत्पन्न शैव श्रीराम के पुत्र सोम अर्थात् सोमदेव इस ग्रन्थ के संकलनकर्ता हैं। देव कश्मीर के ब्राह्मणों की उपाधि है।

सोमेन विप्रवरभूरिगुणाभिरामरामात्मजेन, विहितः खलु संग्रहोऽयम्।[1]

कवि ने अपने को इस ग्रंथ का रचयिता न कहकर संकलनकर्त्ता कहा है। गुणाढ्य लिखित वृहत्कथा की कथाओं का संयोजन एवं उन्हें नये क्रम से सजाने का काम इन्होंने किया। कथावस्तु वृहत्कथा की ही क्यों न हो, प्रस्तुतीकरण की अभिनव पद्धति, काव्यमय वर्णनशैली इन्हें किसी भी महाकवि की पंक्ति में ला बैठाती है। जहाँ तक विषयवस्तु का सम्बन्ध है, महाकवि सोमदेव संग्रहकर्त्ता हैं किन्तु शैली एवं अभिव्यंजना के कारण ये रचयिता हैं।

प्रवितततरङ्गभङ्गिकथासरित्सागरो विरचितोऽयम्[2]

इन्होंने कश्मीर-नरेश अनन्त की पत्नी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए इन कथाओं का संग्रह किया।

शास्त्रेषु नित्यविहित-श्रवण-श्रमाया[3]
देव्याः क्षणं किमपि चित्त-विनोद-हेतोः।

महाकवि सोमदेव राजा अनन्त के दरबारी कवि थे।[4] राजतरंगिणी के अनुसार संग्रामराज की मृत्यु के बाद हरिराज लौकिक वर्ष, ४१०४ में कश्मीर का राजा हुआ।[5] राजा होने के बाईस दिनों के बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।[6]

उसके मरने पर छोटा भाई अनन्त राजगद्दी पर बैठा। इस प्रकार राजा अनन्त का राज्याभिषेक लौकिक वर्ष ४१०४ अर्थात् १०४२ ई० में हुआ। इनका विवाह जालन्धर-नरेश इन्दुचन्द्र की छोटी पुत्री सूर्यमती के साथ हुआ।[7] रानी सूर्यमती का दूसरा नाम सुभटा था।[8] राजा अनन्त ने १०६३ ई० में अपने पुत्र कलश को राज्य सौंप दिया।[9] कुछ दिनों बाद पुत्र से असन्तुष्ट होकर अनन्त ने राज्य छीन लिया। पुनः १०७७ ई० में राज्य कलश को देकर राजा अनन्त बन चला गया।[10] इस बीच

---

१. क० स० सा० प्रशस्ति श्लो० १३.
२. वही, श्लो० १३.
३. वही, श्लो० ११.
४. वही, O.S.Vol 1, Page Foreword XXXII.
५. राजत० ७।१२७.
६. वही, ७।१३१.
७. वही, ७।१५२.
८. वही, ७।१८०.
9. O. S. Vol. I Foreword XXXII.
१०. वही, O.S. Vol. I Page Foreword XXXII.

कलश ने पिता पर आक्रमण कर दिया। रानी सूर्यमती के प्रयत्न से युद्ध रुका। किन्तु चोरी से उसने पिता के शिविर में आग लगवा दी। राजा अनन्त ने दुखी होकर आत्महत्या कर ली।[1] रानी भी साथ ही सती हो गयी।[2] राजा अनन्त की मृत्यु १०८१ ई० में हुई।[3]

राजतरंगिणी के अनुसार—

वत्सरे सप्तपंचाशे पौर्णमास्यां स कार्त्तिके।
विजयेशाग्रतो राजा जीवितेन व्ययुज्यत ॥[4]

इस प्रकार राजा अनन्त का शासन १०४२ से १०८१ ई० तक कश्मीर में था। महाकवि सोमदेव इनके दरबारी कवि थे अतः निश्चय ही सोमदेव का समय १०४२ से १०८१ ई० है।

यह ग्रन्थ महाकवि सोमदेव ने सम्भवतः राजा के राज्यत्याग के समय लगभग १०७० ई० में लिखा।[5]

पृष्ठभूमि :

कवि के शब्दों में इस कथाग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य चिन्ताकुल रानी सूर्यमती का मनोविनोद था।[6]

शास्त्रेषु नित्यविहित-श्रवण-श्रमाया
देव्या क्षणं किमपि चित्तविनोदहेतोः ॥[6]

रानी सूर्यमती की गुणग्राहिता, उदारतादि गुणों की प्रशंसा राजतरंगिणी में की गई है।[7] विभिन्न शास्त्रों में रुचि की प्रशंसा कवि ने भी की है। राजतरंगिणी में इसे "देवी सूर्यमती भर्तुर्दर्पणस्येव विम्बिता"[8] कहा गया है।

अतः आस्तिक एवं सुबुद्ध रानी के मनोविनोद के लिए धार्मिक एवं रुचिकर कथाओं की आवश्यकता थीं। केवल कपोलकल्पित अविश्वसनीय कथाओं से रानी का मनोरंजन सम्भव न था। अतः पुराणों से आदर्श चरित्रों का, लोक से तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करनेवाले धूर्त, कुलटा, वेश्या आदि पात्रों के विविध मनोरंजक प्रसंगों का एवं प्रमुख प्रेमाख्यानों का संकलन कर कवि ने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की, जिसे सचमुच कथाओं का महासागर कहा जा सकता है।

रानी सूर्यमती की मनोव्यथा तत्कालीन भारत की अशान्ति की ओर संकेत करती है। पुत्र पिता पर आक्रमण करता है।[9] सर्वत्र विश्वासघात, हत्या, लूटपाट का ही साम्राज्य दिखाई देता है। छोटे-छोटे राजाओं के कलह से जनता त्रस्त थी। स्वयं अनन्त के पुत्र कलश ने दुष्ट जयानन्द के बहकावे में आकर पिता पर चढ़ाई कर दी।[10] राजा अनन्त की स्त्रियों के सम्बन्ध की उक्तियां स्त्रियों

---

१. राज० ७।४५२.
२. वही, ७।४७२.
३. O. S. Vol. I.
४. वही, ७।४५२.
५. O. S. Vol. I Page Foreword.
६. क० स० सा० प्रशस्ति श्लो० ११.
७. राजत० ७।१९७.
८. वही, ७।१७९.
९. वही, ७।३७६.
१०. राज० ७।३०३.

की उच्छृंखलता पर प्रकाश डालती हैं।[1] युग की ये सारी विशेषतायें कथासरित्सागर में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हैं।

पेन्जर ने लिखा है कि इस समय के कश्मीर का इतिहास असन्तोष, निराशा एवं खून-खराबी से भरा पड़ा है। इन्हीं दुःखद एवं अन्धकारपूर्ण परिस्थितियों में सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की।[2]

स्थान—कवि के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कश्मीर जनपद के ही किसी भूभाग में इनका जन्म हुआ। देव कश्मीर के ब्राह्मणों की उपाधि है।[3] काश्मीर के राजा अनन्त के दरबारी होने से यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है। साथ ही कथासरित्सागर में वर्णित प्रदेशों में कश्मीर को ही कवि पृथ्वी का स्वर्ग एवं सर्वोत्तम तीर्थ मानता है।

हिमवद्दक्षिणो देशः कश्मीराख्योऽस्ति यो विधिः।
स्वर्गकौतूहलं कर्त्तुं मर्त्यानामिव निर्ममे॥[4]

कश्मीर के पर्वतों नदियों तीर्थों का वर्णन कवि ने बड़ी ही रुचि एवं श्रद्धा से किया है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि कवि सोमदेव कश्मीर के ही निवासी थे।

कृतित्व—महाकवि सोमवदेव की काव्यप्रतिभा से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि ने कथासरित्सागर के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की रचना भी की होगी। किन्तु दुर्भाग्य से न तो कोई ग्रन्थ ही उपलब्ध है न इनके किसी अन्य ग्रन्थ का उद्धरण ही अन्यत्र कहीं उपलब्ध होता है। इनकी एकमात्र रचना कथासरित्सागर ही आज हमें उपलब्ध है। पेन्जर एवं टॉनी, बहुत खोज के बाद भी इनकी किसी अन्य रचना का पता न पा सके।[5]

समसामयिक कवि :

प्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र इनके पूर्ववर्ती थे। उन्होंने सोमदेव से पहले गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधृत बृहत्कथामंजरी की रचना की। उन्होंने राजा अनन्त के आश्रय में रहकर इस ग्रन्थ की रचना की।[5] विन्टरनिज ने क्षेमेन्द्र को सोमदेव से तीस वर्ष पहले माना है।[6]

---

१. वही०, ७।४२४–४२५–४३५.

2. O. S. Vol. I XXXil : The History of Kashmir at this period is one of discontent intrigue, bloodshed and dispair. This tragic history forms as dark and grim a background for the selling of Somadeva's tales as did the Plague of Florence for Boccaccio's "Cento Nouette" neariy three hundred years ago.

३. क० स० सा० ७।५।३६ ३. वही, १०।७।५३

4. O. S. Vol. XXXi. Unfortunately we know nothing of him except what he himself has told us in the shortpoem at the end of his work.

५. सं० सा० इ०, गैरोला, पृ० ८८५.

6. Hist. Ind. Lit. Page 353. "Since Somadev wrote hie work in between 1063 and 1081 A. D. Therefore about 30 years later than Kṣemendre he might have utilised the work of the later.

क्षेमेन्द्र निश्चय ही सोमदेव के पूर्ववर्ती थे। वृहत्कथामंजरी की बहुत-सी असंगतियों को इन्होंने दूर कर इस कथाग्रन्थ को अधिक विश्वसनीय बनाया।[1] किन्तु सोमदेव ने कहीं क्षेमेन्द्र की चर्चा नहीं की। इतना निश्चित है कि अनन्त तथा उसके पुत्र कलश के राज्यकाल में ही क्षेमेन्द्र की जीवनलीला व्यतीत हुई। ग्रन्थकार क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित के रचनाकाल १०६६ ई० का उल्लेख किया है।[२]

क्षेमेन्द्र, सोमदेव के पूर्ववर्ती अवश्य थे। सोमदेव के समय वृहत्कथामंजरी जनप्रिय कथाग्रन्थ था। सोमदेव ने प्रचलित वृहत्कथामंजरी में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया। अतः कथासारित्सागर वृहत्कथामंजरी का परिवर्द्धित रूप कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध शैवदर्शन के आचार्य एवं "ध्वन्यालोक-लोचन" के रचयिता, अभिनवगुप्त भी इनके समसामयिक थे।[3] "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" का रचनाकाल ९० लौकिक सं० अर्थात् १०१५ ई० है। इससे अभिनवगुप्त का आविर्भाव काल दशम शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का आरम्भ निश्चित रूप से प्रतीत होता है।[४]

कश्मीर के प्रसिद्ध कवि विह्लण भी इनके समसामयिक ही थे। राजतरंगिणी के अनुसार "विह्लण" राजा कलश के समय कश्मीर से भाग कर कर्णाट देश के राजा पर्मारि के पास चले आये थे, किन्तु राजा हर्ष की प्रशंसा सुनकर पुनः लौट आये।[५]



1. O. Vol. IX Pege 116.
२. सं० सा० इति०, बलदेव उपाध्याय, पृ० २५७.
3. O. S. Vol. I Page Foreword XIII R. C. Templs.
४. सं० सा० इ०, ब० उपा०, पृ० ६३३.
५. राजत० ७।९३५–९३६.

तृतीय परिच्छेद

बृहत्कथा और कथासरित्सागर

महाकवि सोमदेव ने ग्रन्थ के प्रारम्भ एवं अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि यह गुणाढ्य लिखित बृहत्कथा का रूपान्तर है। प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं "मूल ग्रन्थ (बृहत्कथा) में और कथासरित्सागर में कोई अन्तर नहीं है, हाँ विस्तृत कथाओं को संक्षिप्त किया गया है, तथा भाषा का भेद भी है। मैंने यथासम्भव मूल ग्रन्थ की औचित्यपरम्परा की रक्षा की है। कुछ नवीन काव्यांशों की योजना करते हुए भी, मूल कथा के रस का विघात नहीं होने दिया है।

यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तारसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाभिघातेन काव्यांशस्य च योजना॥
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किन्तु नाना कथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये॥[1]

इससे स्पष्ट है कि इसमें कवि ने मूलकथा के घटनाक्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया है, किन्तु अवान्तर कथाओं को जोड़ने-घटाने में अपनी प्रतिभा एवं कल्पना का उपयोग किया है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि आधारकथा समान होने पर भी भाषा, वर्णनशैली एवं अवान्तर कथाएँ इनकी अपनी हैं। कवि बृहत्कथा के महत्त्व एवं लोकप्रियता से परिचित है[2] अतः गुणाढ्य से किसी प्रकार की स्पर्धा की भावना नहीं है।

ग्रन्थ के उपसंहार के समय भी कवि ने एक बार पुनः इस तथ्य को दुहराया है।

"नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः
सारस्य सज्जनमनोम्बुधिपूर्णचन्द्रः"।[3]

अतः कथासरित्सागर के यथार्थ परिचय के लिए बृहत्कथा और उस पर आधृत अन्य ग्रन्थों के विषय में भी थोड़ा जानना आवश्यक है।[4]

संस्कृत साहित्य में बृहत्कथा का महत्त्व एवं लोकप्रियता रामायण एवं महाभारत के समान है। धनंजय ने इसकी तुलना रामायण से की है।

"रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च"[5]

---

१. क० स० सा० १।१।१०–१२.
२. क० स० सा० १।१।३–बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।
३. वही, प्रशस्ति श्लो० १२.
४. क० स० सा० भूमिका बा० श० अ०, पृ० ६.
५. दशरूपक–धनञ्जय–१।६।८.

गोवर्धनाचार्य इसे भारतीय साहित्य के स्रोतों में अनन्य मानते हैं।

श्रीरामायण-भारत-बृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैभिन्ना।[1]

सुबन्धु के अनुसार—

बृहत्कथारम्भैरिव शालभञ्जिकोपेतैः॥[2]

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में लिखा—

भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थाबृहत्कथाम्॥[3]

बाण ने हर्षचरित में बृहत्कथा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥[4]

आर्यासप्तशती के अनुसार गुणाढ्य व्यास के अवतार हैं।

अतिदीर्घजीविदोषात् व्यासेन यशोपहृतं हन्त।
केनोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः॥[5]

अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के अनुसार—

चित्रार्थां च बृहत्कथामचकथम्।[6]

सोढ्ढलकवि की "उदयसुन्दरी" कथा के अनुसार—

कविर्गुणाढ्यः स च येन सृष्टा बृहत्कथा प्रीतिकरीजनानाम्।
सा संविधानेषु सुसन्धिवन्धे निपीड्यमानेवरसं प्रसूते॥[7]

एक प्राचीन शिलालेख में इनकी प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

पारदास्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।
अनतिर्यो विशालाक्षः शूरोन्यक्कृतभीमकः॥[8]

उद्योतनसूरि के "कुवलयमालाकहा" के अनुसार बृहत्कथा साक्षात् सरस्वती है। गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा हैं। बृहत्कथा सब कलाओं की खान है। कविजन इसे पढ़कर शिक्षित बनते हैं।[9]

"तिलकमंजरी" के कर्ता धनपाल ने बृहत्कथा की उपमा उस समुद्र से दी है जिसकी एक-एक बूंद से अन्य कितनी ही कथाओं की रचना हुई।

सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः।
तेनेतरकथाकन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः॥[10]

---

१. आर्यास० श० ३४.
२. सुबन्धु-वासवदत्ता, पृ० १८१.
३. काव्यादर्श ४२०.
४. हर्षचरित प्रथम उच्छ्वास, श्लो० १७.
५. आ० स० श० ३१.
६. कुवलयानन्द, पृ० १५७.
७. उदयनसुन्दरी कथा, पृ० ५.
८. शिलालेख : सं०सा०इ० गैरोला, पृ० ८९० पर उधृत।
९. कुवलयमालाकहा, पृ० २२.
१०. तिलकमञ्जरी, पृ० १०.

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में कथाओं के भेद बताते हुए बृहत्कथा का उल्लेख किया है।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बृहत्कथा के मूलरूप से परवर्ती साहित्यकार पूर्ण परिचित थे। उनके बीच इस ग्रन्थ की मूल प्रति विद्यमान थी। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थरत्न आज हमारे बीच उपलब्ध नहीं है।

कथासरित्सागर के कथापीठ में दिये गये विवरण से पता चलता है कि गुणाढ्य प्रतिष्ठान प्रदेश के सुप्रतिष्ठित नगर में प्रधान मंत्री थे। सातवाहन तो वहाँ के राजा की परम्परागत उपाधि थी। गुणाढ्य किस राजा के प्रधानमंत्री थे, यह अज्ञात है।

आंध्रप्रदेश के शिलालेखों से पता चलता है कि दक्षिण में गोदावरी और किस्ला नदियों के बीच इनका राज्य स्थापित था, जिसकी राजधानी गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर स्थित प्रतिष्ठान नगर था, जिसे आजकल पेथन कहा जाता है।

कुछ लोग राजा शातकर्णी को ही गुणाढ्यकालीन सातवाहन मानते हैं, जिसने शुंगराजा पुष्यमित्र से उज्जयिनी जीता था, किन्तु उसके किये गये अश्वमेध यज्ञ की चर्चा गुणाढ्य ने नहीं की। इतनी महत्त्वपूर्ण घटना पर उनका ध्यान अवश्य जाना चाहिए था।

आचार्य दण्डी ने जिनका समय षष्ठ शती है, केवल गुणाढ्य की चर्चा ही नहीं की है, अपितु उनके सम्बन्ध की जनश्रुति का भी निर्देश किया है। अतः बृहत्कथा ईसा की प्रथम सदी से लेकर षष्ठ सदी के बीच लिखी गई है।

सोमदेव ने कथासरित्सागर के प्रारम्भ में गुणाढ्य के जीवन से सम्बन्ध विचित्र कथा का उल्लेख किया है। यह कथा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में प्राप्त कथा के अनुसार पार्वती के आग्रह पर शंकर विद्याधरों की कहानियाँ सुनाते हैं। छिपकर उन कहानियों को सुनने के कारण शिव के गण माल्यवान् एवं पुष्पदन्त को, पार्वती पृथ्वी पर जाने का शाप देती हैं। वे दोनों गण क्रमशः वररुचि और गुणाढ्य के नाम से कौशाम्बी नगरी में पैदा हुए।

गुणाढ्य काणभूति पिशाच को अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाता है। उसका जन्म सुप्रतिष्ठित नगर में हुआ। क्रमशः वह राजा सातवाहन के दरबार में प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ। एक दिन राजा सातवाहन रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे। किसी रानी ने कहा "मोदकैस्ताडय" राजा ने लड्डू मंगाये, किन्तु रानी का अभिप्राय तो "मा उदकैः" से था।

गुणाढ्य, राजा को ६ वर्षों में व्याकरण सिखाने का आश्वासन देता है। किन्तु शिवशर्मा ब्राह्मण ने सिद्धि के बल पर नया कलापक या कातन्त्र-व्याकरण बनाकर छ महीने में ही राजा को विद्वान् बना दिया। गुणाढ्य ने अपमानित होकर संस्कृत न लिखने-बोलने की प्रतिज्ञा कर जंगल की शरण ली। पिशाच काणभूति ने पुष्पदन्त से सुनी कथा को पैशाची भाषा में गुणाढ्य को सुनाई, जिसे गुणाढ्य ने अपने

---

१. काव्यानुशासन, क० ८ सू० ८.

रक्त से लिखकर राजा सातवाहन के पास भेजा। राजा सातवाहन ने उसे महत्त्व नहीं दिया। उसने लौटा दिया। क्षुब्ध गुणाढ्य एक-एक पन्ने को पशु-पक्षियों को सुनाकर, जलाने लगा। पशु-पक्षी खाना-पीना भूलकर कथा सुनते हुए दुर्बल हो गये। उनका सूखा मांस खाकर राजा बीमार पड़ गया। वास्तविकता जानने पर, क्षमा याचना कर राजा सातवाहन, बचे हुए एक लाख श्लोकों को लौटा लाता है, जो बृहत्कथा के नाम से विख्यात हुई।

इस कथा से कई तथ्य सामने आते हैं। गुणाढ्य ने इन कथाओं का संग्रह काणभूति पिशाच से किया। काणभूति पिशाच को यह कथा पुष्पदन्त ने सुनाई। पुष्पदन्त ने छिपकर इन कथाओं को शिव से सुना। इस प्रकार आदि प्रवक्ता शिव हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शैव होने के कारण गुणाढय अथवा सोमदेव ने इस प्रकार की कल्पना कर डालो। प्राकृत से भिन्न कोई पैशाची भाषा भी थी।

महाभारत[1] के अनुसार पिशाच पश्चिमोत्तर प्रान्त हिमालय एवं मध्य एशिया में निवास करने वाली एक मानवीय जाति थी, जिनकी भाषा पैशाची थी। कश्मीर-परम्परा इन्हें मध्य एशिया की मरुभूमि का मूल निवासी मानती है।

वररुचि (६ ठी शताब्दी) एक ही पैशाची भाषा मानते हैं। मार्कण्डेय पुराण (७ वीं शताब्दी) के अनुसार पैशाची भाषा के तेरह भेद हैं। किन्तु इसमें बहुत-सी ऐसी विभाषाएँ सम्मिलित हैं जो सचमुच पैशाची नहीं है।

वैयाकरणों में स्थान के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी केकय देश को सभी पैशाच भाषा भाषी प्रान्त मानते हैं।[2]

यह प्रदेश पंजाब में सिन्धु नदी के पूर्वीतट पर स्थित है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार केकय पैशाची ही बृहत्कथा की भाषा है। वररुचि द्वारा प्रतिपादित पैशाची, केकय-पैशाची से मिलती है।

राजशेखर (नवीं शताब्दी) की काव्य-मीमांसा[3] के अनुसार विन्ध्य समीपस्थ भाग को इस भाषा की मूल भूमि माननी चाहिए।

ग्रियर्सन ने दोनों को बिल्कुल भिन्न सम्प्रदाय का माना है। एक पूर्वी पैशाची है तथा दूसरी पश्चिमी।

इन प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि गुणाढय की बृहत्कथा, पैशाची भाषा में (जो पश्चिमोत्तर प्रान्त की भाषा थी) लिखी गई है। सोमदेव ने पैशाची से ही अनुवाद कर कथासरित्सागर की रचना की।[4]

बृहत्कथा पर आधृत अबतक चार ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं :—

१. बुधस्वामीकृत बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह
२. संघदासगणिकृत वसुदेवहिण्डी
३. क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी
४. सोमदेवकृत कथासरित्सागरः।

---

१. महाभा० द्रो० पर्व—१२१ अ–१४ कुलिंदास्तंगवाम्बष्ठा पैशाचाश्वसवर्गरा।

२. O. S. (Voc I) Page 92.

३. का० मी०, पृ० १४, १२४.

४. Grierson—Raj Shekhar and Paishachi. R. A. I. July 1931 Page 424–428.

बुधस्वामी कृत बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ५वीं सदी में लिखा गया। पेन्जर इन्हें आठवीं या नवीं सदी में मानते हैं।[1] दोनों ही अवस्थाओं में बुधस्वामी कश्मीरी संग्रह-कर्त्ताओ से पूर्व के ही हैं।[2] यह संस्कृत भाषा में लिखी गई है। कहीं-कहीं प्राकृत के श्लोक भी हैं। इसमें २८ सर्ग हैं। लगभग पांच हजार (४५३९) श्लोक हैं। इसके कर्ता बुधस्वामी ने गुप्तकालीन स्वर्णयुग की संस्कृति के ढाँचे में बृहत्कथा को ढालने का यत्न किया। विद्वान् इस बृहत्कथा को नेपाली वाचना का रूप मानते हैं। इसमें नरवाहनदत्त अपने अट्ठाइस विवाहों में से केवल ६ की कथा कह पाया है। इस अनुपात से कुल मिलाकर २५ हजार श्लोकों की संख्या होनी चाहिए थी।

बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह में मौलिक बृहत्कथा का बहुत कुछ स्वरूप सुरक्षित रह गया है।[3] लाकोत का भी यही मत है।[4]

ध्यान देने योग्य विषय यह है कि "बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह" में प्रधान देवता शिव नहीं, कुबेर हैं। नायक नरवाहनदत्त का नाम ही इसका प्रमाण है। नरवाहनदत्त का अर्थ है "नरवाहन के द्वारा दिया गया"। नरवाहन कुबेर की ही उपाधि है, शिव की नहीं।

"किन्नरेशो वैश्रवणः पौलस्त्यो नरवाहनः"[5]

अतः उदयन ने पुत्रप्राप्ति के लिए कुबेर की ही आराधना की होगी। अन्यथा नायक का नाम शिवदत्त आदि कुछ होता।[6] साथ ही सम्पूर्ण ग्रन्थ में यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर आदि का चरित्र ही प्रधान है। कुबेर ही इनके अधिष्ठातृ देवता हैं। अतः कुबेर की ही प्रधानता स्वाभाविक प्रतीत होती है।

इससे स्पष्ट है कि कश्मीरी संग्रहकर्त्ताओं ने अपनी मान्यताओं के अनुरूप बनाने के लिए यथा-सम्भव परिवर्तन किये हैं।[7] बृहत्कथाश्लोक-संग्रह का क्रम बहुत ही स्पष्ट एवं उचित है। किन्तु कश्मीरी संग्रहकर्त्ताओं ने क्रम को इधर-उधर कर मनोनुकूल बनाया है।

बृहत्कथा के मूल स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए संघदासगणिकृत "वसुदेवहिण्डी" की प्राप्ति उल्लेखनीय घटना है। हिण्डी शब्द का अर्थ पर्यटन है, अर्थात् वसुदेव का पर्यटन। यद्यपि यह ग्रन्थ बृहत्-कथा के ढाँचे पर ही ढाला गया, किन्तु "कामकथा" की जगह इसे "धर्मकथा" का रूप दिया गया एवं जैनधर्म की प्रभावना के लिए कितने ही नये प्रसंग जोड़े गये। इसमें श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के एक सौ विवाहों में से उनतीस विवाहों की कथा वर्णित है। शेष ७१ विवाहों की कथा बाद में धर्मदास गणि ने सत्रह हजार श्लोकों में "मध्यम वसुदेवहिण्डी" लिखकर पूरी की।[8]

नरवाहनदत्त के पराक्रम को जैनों ने कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित कर दिया है। इसकी भाषा भी प्राचीन है। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार बुधस्वामी के साथ ही या सम्भवतः एक सौ वर्ष के भीतर बृहत्कथा का यह "प्राकृत संस्करण" प्राप्त हुआ। लगता है इस नये मिले हुए प्राकृत ग्रन्थ में

---

१. O.S. Vol. IX Page 101.
२. O.S. Vol. IX Page 101.
३. O.S. Vol. IX Page 101.
४. Lacote (Essay Sur Guṇādhya, Page 33).
५. अमरकोष १।१।६९.
६. O.S. Vol. IX Page 119.
७. O.S. Vol. IX Page 118.
८. क० स० सा० भूमिका, पृ० ७.

बृहत्कथा का प्राचीन रूपान्तर प्राप्त हो गया।[1]

तदनन्तर बृहत्कथमंजरी के रचयिता क्षेमेन्द्र का स्थान आता है। ये कश्मीर के राजा अनन्त (१०२९-१०६४) की सभा के सभासद थे। रामायण का सार रामायणमंजरी के समान बृहत्कथा का सार "बृहत्कथामंजरी" क्षेमेन्द्र ने लिखी। इसमें १८ लम्बक और ७५०० श्लोक हैं। उनकी भाषा अपेक्षाकृत जटिल है। अपने संस्करण के उपखण्डों को क्षेमेन्द्र ने गुच्छ कहा है। पांच लम्बक तो कथासरित्सागर से मिलते-जुलते हैं। किन्तु आगे के लम्बकों में संगति ठीक नहीं है। बृहत्कथा की इस परम्परा में इनका विशेष महत्त्व नहीं है।[2]

इन ग्रन्थों की प्राप्त अन्तिम कड़ी सोमदेव विरचित कथासरित्सागर है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह कथारूपी सरिताओं का महासागर है। उन्होंने अनुभव किया कि उनकी महान् कृति में सभी कथायें उसी प्रकार निबद्ध हैं, जैसे सभी सरितायें महासागर में प्रविष्ट होती हैं।

भरत के अनुसार कथा में कल्पना और सत्य दोनों का योग रहता है।[3] इनमें काल्पनिक अंश अधिक होते हैं। इसमें भी कुछ तो ऐतिहासिक सत्य है, अधिकांश काल्पनिक है।

इसे १८ लम्बकों एवं २४ तरंगों में विभक्त किया गया है। यह "लम्बक" शब्द अपने मूल स्रोत की ओर संकेत करता है। "लम्बक" का मूल संस्कृत रूप "लम्भक" था। एक विवाह द्वारा एक स्त्री की प्राप्ति लम्भक कहा जाता था और उसी की कथा के लिए "लम्भक" शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4] १८ लम्बकों के अलग-अलग नाम दिये गये हैं। जैसे—(१) कथापीठ, (२) कथामुख, (३) लावाणक, (४) नरवाहनदत्त-जनन, (५) चतुर्दारिका, (६) मदनमंजुका, (७) रत्नप्रभा, (८) सूर्यप्रभ, (९) अलंकारवती, (१०) शप्तियश, (११) वेला, (१२) शशांकवती, (१३) मदिरावती, (१४) मदनमंचुका, (१५) महाभिषेक, (१६) सुरत-मंजरी, (१७) पद्मावती एवं (१८) विषमशील।

इसमें कुल २२ हजार श्लोक हैं। ईलियड एवं ओडेसी दोनों मिलकर भी इसके आर्ध के ही बराबर हैं।[5]

ब्लूमफिल्ड ने इसे विश्व का सर्वोच्च एवं अद्वितीय कथा साहित्य माना है।[6] सोमदेव का कथासरित्सागर विस्तार कथासम्पत्ति एवं कथा कहने की प्रणाली में अद्वितीय है।[7]

---

१. क० स० सा० भूमिका, पृ० १३.

२. O.S. Vol. IX, Page-121—As to Kṣemendra we should have lost little if he had not lived or atleast any lete hed not Produ:ch a version of the Bṛhad Kathā.

३. भरतनाट्यशास्त्रम्—प्रबन्धस्य कल्पनारचना बहुवनृतास्तोकसत्या।

४. क० स० सा० भूमिका, पृ० ७.

५. O.S. Vol. I. Page Foreword.

६. O.S. Vol. VII Page 1. "If I am not mistaken, even Somadeva's Ocean has no equal or superior in these respects in the fiction literature of the world."

७. O.S. Vol. VII, Page I "Somadeva's Ocean, are pretty nearly unique, both in size and in the wealth nnd of story telling."

कथाओं को कहने की दृष्टि से सोमदेव का अपना स्थान है। उनकी प्रवाहमयी शैली की रोचकता दूसरों में नहीं है। पेन्जर ने सोमदेव के ग्रन्थ की प्रशंसा में लिखा है "जब हम इस ग्रन्थ को देखते हैं, तो इसमें आई हुई हर प्रकार की कथाओं को देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। ईसवी सन् से सैंकड़ों वर्ष पहले की जीवजन्तु कथाएँ इसमें हैं। द्युलोक और पृथ्वी की ऋग्वेदकालीन कथायें भी यहाँ हैं। उसी प्रकार रक्तपान करनेवाले वैतालों की कहानियाँ, सुन्दर काव्यमयी प्रेमकहानियाँ और देवता, मनुष्य एवं असुरों के युद्धों की कहानियाँ भी इसमें संगृहीत हैं। यह न भूलना चाहिए कि भारतवर्ष कथा-साहित्य की सच्ची भूमि है, जो इस विषय में ईरान और अरब से बढ़चढ़ कर है। भारत के इतिहास की कथा भी तो इसी प्रकार की एक कहानी है। इसका अतिशयोक्तिपूर्ण रूप इन आख्यानों से कम रोचक नहीं है।

इन कहानियों का संग्रह करनेवाले लेखक सोमदेव विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष थे। कवियों में उसकी प्रतिभा कालिदास से दूसरे स्थान पर आती है। स्पष्ट रोचक और मन को खींच लेनेवाले ढंग से कहानी कहने की उनमें वैसी ही अद्भुत शक्ति थी, जैसी कहानियों के विषयों की व्यापकता और विभिन्नता है। मानवीय प्रकृति का परिचय, भाषाशैली की सरलता, वर्णन का सौन्दर्य और शक्ति एवं चातुर्यभरी उक्तियाँ इन सबकी रचना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है।

दूसरी ओर जैसा कि प्रायः पूर्वी कहानियों में मिलता है, यहाँ एक विशेषता यह है कि कई २ कहानियाँ पहली कहानी के पेट में समाई हुई हैं, और आश्चर्यजनक वेग से एक के बाद दूसरी कहानी उभरती हुई सामने आती चली जाती है। तब पाठक अभिलाषा करता है कि कोई सूत्र सहायक बनकर उसे कथाओं के इस भूल भुलैये से उसका उद्धार करे। सोमदेव ने इस प्रकार का एक सहायक सूत्र सावधानी के साथ तैयार किया है।

कथासरित्सागर अलिफलैला की कहानियों से प्राचीनतर ग्रन्थ है, और अलिफलैला की अनेक कहानियों के मूलरूप इसमें है। उनके द्वारा न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों को बल्कि बोकैशियो चौसर एवं लाफातेन एवं अन्य लेखकों के द्वारा पश्चिमी संसार को भी अनेक कल्पनाएँ प्राप्त हुई हैं। सोमदेव ने सोचा कि जैसे हिमालय से आई हुई अनेक धाराएँ आगे पीछे बहती हुई समुद्र में ही पहुँच जाती हैं, वैसे ही छोटी-बड़ी सभी कहानियाँ उनके इस महान् ग्रन्थ में इकट्ठी हो जायं और यह सच्चे अर्थ में कहानीरूपी नदियों का सागर बन जाय।

"कथासरिसागर के रूप में कल्पना ने एक ऐसे महान् कथासरित्सागर की सृष्टि की है कि उसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं और नगरों, राजतन्त्र एवं षड्यन्त्र, जादू और टोने, छल और कपट, हत्या और युद्ध, रक्तपायी वेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशु-पक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे साधु, पियक्कड़, जुआड़ी, वेश्या, विट और कुट्टनी इन सभी की कहानियाँ एकत्र हो गई हैं। ऐसा यह कथासरित्सागर भारतीय कल्पना जगत् का दर्पण है, जिसे सोमदेव भविष्य की पीढ़ियों के लिए छोड़ गये हैं।"

अध्याय २

प्रथम परिच्छेद

भौगोलिक स्थिति

किसी भी युग के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए तत्कालीन भौगोलिक स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। रहन-सहन, रीतिरिवाज, परम्परा, अर्थनीति, समाज, राजनीति आदि पर भौगोलिक प्रभाव पड़ता है। किसी भी युग का समग्र चित्र तत्कालीन ग्रन्थों में प्रतिपादित भूगोल के आधार पर खींचा जा सकता है। विशाल आर्यावर्त में फैले, वन, पर्वत, नदी, जनपद, नगरादि का वर्णन रामायण, महाभारत, पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में भी हमें उपलब्ध होता है। किन्तु भौगोलिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों के कारण आज उन्हें सही-सही पहचान पाना कठिन सा हो रहा है।

कथासरित्सागर में प्रतिपादित तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति पूर्वापेक्षा अधिक सुनिश्चित एवं बोधगम्य है। अतः द्वीप, समुद्र, नगर, ग्राम आदि के सम्वन्ध में जानना आवश्यक है।

आर्यावर्त एवं पृथ्वी

कथासरित्सागर में ऐसा कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रदेश या स्थान नहीं बचा है, जिसकी किसी न किसी रूप में चर्चा न की गई हो। किन्तुं सवसे आश्चर्य का विषय तो यह है कि इतने विशाल ग्रन्थ में कहीं भी भारत, आर्यावर्त जैसा सम्पूर्ण देश का वाचक कोई एक नाम नहीं मिलता। अलग-अलग प्रान्तों के नाम मिलते है। उत्तरापथ[१], दक्षिणापथ[२] मध्यदेश[३] पूर्वी भाग[४], अपरान्त[५] आदि देश के विभागों के नाम आये हैं। जहां समस्त देश को भारत या आर्यावर्त पद से अभिहित करना चाहिए था वहां सम्पूर्ण पृथ्वी की ही परिकल्पना कर ली गई है।[६] विभिन्न नगरों की सम्पूर्ण क्षिति, भू, मेदिनी, पृथ्वी में प्रसिद्ध वताया गया है। किन्तु भारत या आर्यावर्त की चर्चा नहीं की गई है। यौगन्धरायण, उदयन को सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने का परामर्श देता है।[७] राजा उदयन की विजय-यात्रा वाराणसी[८] से प्रारम्भ होती है। क्रमशः वंगदेश[९] कलिंगदेश[१०], चोल[११], मुरल[१२], आदि देशों को जीतता हुआ उज्जयिनी पहुंचता है। पुनः लाट[१३], कैलास[१४], कामरूप[१५] को जीतकर मगध पहुँचता है। राजा उदयन की इस विजय को सम्पूर्ण पृथ्वी

---

१. क० स० सा० ७।३।४८.
२. वही, १८।१।७६.
३. वही, ८।४।१०६.
४. वही, १८।१।७६.
५. वही, १८।१।७६.
६. वही, २।१।४,२।३।३१,३।१।६,३।३।६४, ३।४६९.
७. वही, ३।४।२.
८. वही, ३।५।५४.
९. वही, ३।५।८९.
१०. वही, ३।५।९२.
११. वही, ३।५।९५.
१२. वही, ३।५।९६.
१३. वही, ९।५।१००.
१४. वही, ३।५।१०४.
१५. वही, ३।५।१०७.

विजय की संज्ञा दी जाती है।[1] आगे भी 'निगीर्ण वसुधातलः'[2] कहा गया है। इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन प्राचीन समय से ही उपलब्ध है। छोटे-छोटे राजाओं को भी कवियों ने सम्राट्, महाराजाधिराज- अवनीपति आदि सम्बोधनों से सम्बोधित किया है। शतपथ ब्राह्मण[3] में भी इस प्रकार की अत्युक्तियां मिलती हैं। दुष्यन्त पुत्र भरत को सम्पूर्ण पृथ्वी का विजेता कहा गया है। पौराणिक आख्यानों से स्पष्ट है कि जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग पर उसका शासन था जिसे भारतवर्ष कहा गया है। अशोक, समुद्रगुप्त आदि को भी सम्पूर्ण पृथ्वी का शासक कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी शब्द का प्रयोग छोटे-छोटे राजाओं के राज्यों के लिए भी होता था एवं "सम्पूर्ण पृथ्वी" शब्द का प्रयोग किसी बड़े अथवा स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए हुआ करता था।[4]

इस प्रचलित परम्परा के अनुसार ही सोमदेव ने भी भारतवर्ष को ही सम्पूर्ण पृथ्वी मान लिया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्हें भारत की सीमा के अतिरिक्त प्रदेशों का ज्ञान नहीं था। सुदूरपूर्व के द्वीपों का क्रमवद्ध वर्णन सिद्ध करता है कि उन्हें व्यापक भौगोलिक ज्ञान था। निश्चय ही परम्परागत अतिशयोक्तिपूर्ण काव्यगत शैली के अनुसार यहां भी वर्णन किया गया है।

जम्बू द्वीप, आर्यावर्त, भारतवर्ष आदि नाम बहुत पहले से ही यहां प्रचलित थे। रामायण, महाभारत, पुराण आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। निश्चय ही सोमदेव इन नामों से परिचित थे। किन्तु तत्कालीन भारत छोटे २ राज्यों में विभक्त था। आपसी रागद्वेष की भावना तीव्रतर थी। अखण्ड भारत का चित्र धूमिल हो चला था। प्रत्येक छोटा राज्य अपनी इकाई में ही सर्वोच्च होने का दंभ भर रहा था। एक छत्र राज्य करनेवाले शासक के अभाव में एक राष्ट्रीयता की भावना लुप्त प्राय थी। सम्भव है कवि ने इसी से समूचे देश का कोई एक नाम नहीं दिया।

देश एवं राष्ट्र :—

विषय,[5] देश,[6] राष्ट्र,[7] साम्राज्य,[8] आदि शब्दों का प्रयोग कहीं सीमित अर्थ में, कहीं व्यापक अर्थ में कहीं पर्यायवाची के रूप में हुआ है। सर्वत्र अतिशयोक्ति पूर्ण उक्तियां ही प्रधान हैं।

पृथ्वी की उत्पत्ति :—

पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इनकी धारणा प्राचीन मान्यताओं के अनुसार ही है। भगवान् शिव पार्वती से पृथ्वी की उत्पत्ति की कथा कहते हैं। "प्राचीन काल में।

---

१. क० स० सा० ३।५।११३ एवं विजित्य वत्सेशो वहुधां सपरिच्छदः. २. वही, ३।५।१५.

३. श० प० ब्रा० १३,५,४, १-१-१३ य आहरद् विजित्य पृथिवीं सर्वामिति.

४. Studies in the geography, D. C. Sircar, Page 4.

"Although often the word earth was used to indicate the dominions even of pretty ruler, expression whole earth was used to Signify the Kingdom of an imperial or atleast an independent monarch."

५. क० सा० ३।५।११८. ६. वही ३।४।६१.

७. वही ३।६।२९, ३।६।३३, ३।५।६०. ८. वही ३।३।६४, ३।४।६६

प्रलय होने पर सारा संसार जलमय हो गया था। मैंने अपनी जांघ चीर कर उसमें रक्त की एक बूंद डाल दी। वह रक्त बिन्दु जल के भीतर अंडे के रूप में परिणत हो गया। उसे फोड़ने पर उसमें से एक पुरुष निकला। उस पुरुष को देखकर सृष्टि के लिए मैंने प्रकृति की रचना की।"[१]

इस प्रकार उन दोनों ने अन्यान्य प्रजापतियों को तथा प्रजापतियों ने अन्य प्रजाओं को उत्पन्न किया। इसलिए हे देवि, वह प्रथम पुरुष, सबसे पुराना होने से जगत् में पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[२]

मनुस्मृति के अनुसार भी प्रलय होने पर सारी सृष्टि जलमय हो गई थी। तदनन्तर बीज की उत्पत्ति हुई।

पृथ्वी का स्वरूप अंडाकार है, यह मान्यता भी प्राचीन है। प्रकृति और पुरुष के संसर्ग से ही इस पृथ्वी का निर्माण हुआ है। शिव ही परम तत्त्व हैं। सृष्टि के मूलकारण हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कपाल के समान है तथा पृथ्वी अंडा के समान। अण्डा और कपाल आकाश एवं पृथ्वी हैं, जो रोदसी कही जाती हैं।[४]

सात द्वीप, सात समुद्र अथवा चार समुद्र से परिवेष्टित पृथ्वी—

कथासरित्सागर के अनुसार यह पृथ्वी द्वीपों एवं सात समुद्रों से घिरी हुई है।[५] विष्णु पुराण में सप्त द्वीप एवं सप्त सागर पृथ्वी का वर्णन आया है।[६] राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी इसी आधार पर सात समुद्रों की गणना है।[९] कथासरित्सागर में पृथ्वी को कहीं सात समुद्रों से घिरा हुआ बताया

---

१. क० स० सा० १।२।९-११. पुरा कल्पक्षये वृत्ते जातं जलमयं जगत्।
मया ततो विभिद्योरं रक्त बिन्दु र्निपातितः॥
जलान्तरतदभूदण्डं तस्मात् द्वेधा कृतात् पुमान्।
निरगच्छत् ततः सृष्टा सर्गाय प्रकृतिर्मया॥

२. वही १।२।१२. तां च प्रजापतीनन्यान् सृष्टवन्तो प्रजाश्च ते।
अतः पितामहः प्रोक्तः स पुमान् जगति प्रिये॥

३. मनु १।८ अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

४. क० स० सा० १।२।१५ किं चेतन्मे कपालात्म जगद्देवि करे स्थितम्।
पूर्वोक्ताण्ड कपाले द्वे रोदसी परिकीर्त्तिते।

५. क० स० सा० १८।३।१०३. जय देव सप्त सागर सीममहि मानिनी नाथ।

६. वही १२।३२।४१. ७. वही १२।३६।२३९

८. वि० पु० गी० प्रे संस्करण—२।२।६ एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः

९. काव्य मीमांसा—पृ० २२०. लावणोरसमयः सुरोदकः सर्पिषोदधिजलः पयः पयः
स्वादु वारिरुदधिश्च सप्तमस्तान् परीत्य त इमे चवस्थिताः

गया है, कहीं चार ही समुद्र से।[1] चतुस्समुद्रा पृथ्वी का वर्णन भी अत्यन्त प्राचीन है। पृथ्वी सात समुद्रों से घिरी हुई है या चार ही से? इस प्रश्न का समाधान करते हुए राजशेखर ने दोनों को ही ठीक माना है। उनके अनुसार शास्त्रीय विधान से दोनों ही मत सही है।[2] महाकवि कालिदास ने भी पृथ्वी को चार समुद्रों से परिवेष्टित माना है।[3]

भारतवर्ष को चार समुद्रों से घिरा हुआ मानने की परम्परा रही है। यह प्राचीनकाल से चली आती हुई धारण के अनुसार है। विचार करने पर भारत के पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण में समुद्र की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु उत्तर की ओर तो कोई समुद्र भारत की सीमा को स्पर्श नहीं करता। अतः राय चौधरी के अनुसार मध्य एशिया की किसी झील को भूल से समुद्र मान लिया गया।[4] डी० सी० सरकार ने सम्भावना व्यक्त करते हुए लिखा कि वेदों में वर्णित सप्तसन्धिवः (उत्तर पश्चिम की सात नदियां) पौराणिकों द्वारा सात समुद्र मानलिये गये।[5]

दोनों ही विचार धारायें प्राचीन समय से प्रचलित हैं। अतः कथासरित्सागर में भी उनका यथावत् वर्णन किया गया है। पृथ्वी के दोनों सिरे पर उत्तर वेदी एवं दक्षिण वेदी है जिस पर विद्याधरों का अधिकार है।

उत्तरी ध्रुव एवं दक्षिणी ध्रुव को देवस्थान माना गया है। आर्य धर्मशास्त्रों में दक्षिणी ध्रुव के देवस्थान की पितृयान मार्ग और उत्तरी ध्रुव के देवस्थान को देवयान मार्ग कहा गया है। इन दोनों स्थानों पर विद्याधरों का निवास एवं राज्य था। दोनों वेदियों का शासक चक्रवर्ती कहा जाता था।[6]

सीमा विस्तार—

ग्यारहवीं सदी तक भारत सुदूर देशों के घनिष्ट सम्पर्क में आचुका था। सामुद्रिक यातायात के मार्ग प्रशस्त हो गये थे। अन्य देशों की जानकारी हो चुकी थी। कथासरित्सागर में ऐसे अनेकानेक देशों का वर्णन मिलता है।

जो भारत की सीमा से बाहर रहे हैं। पश्चिय में गान्धार[7] तक इनकी पहुंच हो चुकी थी।

---

१. क० स० सा० १२।२।८१. चतुः समुद्रां पृथिवीं प्रगाधिसममेलया
इत्येतस्यै वरं चादात् विजितासुर्महामुनिः

२. का० मी० पृ० २२०. भिन्नाभि प्रायतया सर्वमुपपन्नम् इति यायावरीयः
सप्त समुद्रवादिनस्तु शास्त्रादनपेता एव

३. र० वं० २।७. पयोधरीभूत चतुस्समुद्रां.

४. Geography of Anciant India. D. C. Sircar Page-8.

५. वही पृ० ९.

६. क० स० सा० ८।१।१०.

७. वही—पृ० २३१—नोट

८. क० स० सा० १२।३५।१०५.

पारसीक[1] तुरुष्क[2] ताज्जिक[3] आदि नाम निर्देश से स्पष्ट है कि भारतीय उस समय उत्तर में नेपाल[4] अलका[5] मानसरोवर[6] आदि को पार कर चीन देश के सम्पर्क में आ चुके थे। वे सुदूर पूर्व के देशों से सुपरिचित थे।

सुवर्ण द्वीप[7] नारिकेल द्वीप[8] श्वेत द्वीप[9], कटाह द्वीप[10] आदि द्वीपों के यात्राप्रसंगों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। दक्षिण में सिंहल द्वीप[11] इनकी पहुंच के भीतर था।



१. वही ३।५।११९,
२. वही ३।५।१०९.
३. वही ७।३।३६.
४. वही १२।२२।३.
५. वही ७।८।५३.
६. वही ९।६।२०२.
७. वही १८।४।११०.
८. वही ९।६।५३.
९. वही १८।९।७६.
१०. वही १८।४।१०५.
११. वही ९।६।६३.

द्वितीय परिच्छेद

देश विभाग

दिशा के आधार पर देश का कई भागों में विभाजन किया गया था। मुख्यतः इनके नाम हैं—मध्य देश अपरान्त, उत्तरापथ, दक्षिणापथ एवं पूर्वी प्रदेश।

मध्य देश—(६.६.१०५, १८.१.७६, ८.४.१०६)

मध्य देश का निर्देश कथासरित्सागर में कई बार किया गया है। पूर्वोक्त सभी विभागों में मध्य देश को ही सर्वोत्कृष्ट बताया गया है।[1] मनुस्मृति के अनुसार भी उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत पश्चिम में प्रयाग एवं पूर्व में विनशन तक मध्य देश की सीमा मानी गई है।[2] बौद्ध साहित्य में मध्य देश की सीमा बढ़ाकर मगध एवं अंग प्रदेश को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।[3] अश्वघोष से हिमवत् एवं परियात्र के मध्य भाग को मध्य देश माना है।[4] राजशेखर ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के देशों का नाम निर्देश कर बचे हुए देशों को मध्य देश के अन्तर्गत माना है।[5] इसके अनुसार पश्चिम में सरस्वती (कुरुक्षेत्र) पूर्व में प्रयाग, दक्षिण में विन्ध्य और उत्तर में हिमालय मध्य देश की सीमा माने गये हैं।

कथासरित्सागर में वर्णित मध्य देश भी मनुस्मृति एवं राजशेखर के अनुसार ही है। गङ्गा के कारण इस प्रदेश का महत्व सर्वाधिक है।

अन्तर्वेदी (६.६.४२)

गङ्गा यमुना के अन्तराल को अन्तर्वेदी कहा गया है राजशेखर ने प्रयाग, विनशन एवं गङ्गा यमुना के मध्य भाग को अन्तर्वेदी कहा है। कथासरित्सागर में भी अन्तर्वेदी का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। मध्य देश के ही विशिष्ट भाग को अन्तर्वेदी कहा गया है।

अपरान्त—(८.१.४३, १८.१.७.६)

क. स. सा. में भारत के पश्चिमी प्रदेशों को अपरान्त का शाब्दिक अर्थ पश्चिमान्त है। पश्चिमी समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश इसके अन्तर्गत माने गये हैं। महाकवि कालिदास ने समुद्र एवं सह्य

---

१. क. स. सा. ३।४।६१. देशेष्वपि च विन्ध्याद्रि हिमवन्मध्यवर्तिषु
जाह्नवी जलपूतो यः स प्रशस्यतमो मतः

२. मनु. २।२१.   ३. महावग्ग (बी. १३–१२).

४. सौन्दर नन्द २।६२. मध्य देश इव व्यक्तो हिमवत् परियात्रयोः

५. का. मी. पृ. २२७.

६. का. मी. "विनशन प्रयागयोः गंगायमुनयोः च अन्तरम्-अन्तर्वेदी

पर्वत के मध्य भाग को अपरान्त कहा है।[1] राजशेखर के पश्चाद्देश के अन्तर्गत वर्णित देवसभ, सुराष्ट्र, भृगुकच्छ, आनर्त, अर्बुद आदि प्रदेश पश्चाद्देश हैं।[2]

यह मान्यता पुराणों के आधार पर की गई प्रतीत होती है। मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, वायु, मत्स्य पुराणादि के अनुसार नासिक, नर्मदा का उत्तरी भाग, भृगुकच्छ सरस्वती सहित सुराष्ट्र, आनर्त, अर्बुद इतने प्रदेश अपरान्त हैं।[3] इन्हीं प्रदेशों को कथासरित्सागर में भी अपरान्त के अन्तर्गत गिना गया है।

उत्तरा पथ—(७.३.३४)

भारत के उत्तरवर्ती प्रदेशों को उत्तरापथ कहा गया है। राजशेखर ने उत्तरापथ के प्रदेशों की लम्बी सूची दी है। पृथूदक से आगे सभी प्रदेश उत्तरापथ के अन्तर्गत हैं।[3] पृथूदक का वर्तमान नाम पिहोवा है जो सरस्वती नदी के तट पर स्थित है। पिहोवा पूर्वी पंजाब का एक जिला है जो थानेश्वर से पश्चिम की ओर है।

शक, केकय, हूण, काम्बोज, कुलूत, तुरुष्क आदि प्रसिद्ध जनपद इसके अन्तर्गत गिने गये है। हिमालय का पर्वतीय प्रदेश इसके अन्तर्गत होने से यह क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। उत्तरी भारत की सभी प्रमुख नदियों का यह उद्गम क्षेत्र है। पुराणों में भी उत्तरापथ की विस्तृत सूची दी गई है। क० स० सा० में उत्तरापथ का विशेष महत्व वर्णित है। सम्पूर्ण विद्याधर क्षेत्र हिमालयीय पर्वतीय शृंगों पर स्थित माना गया है। विद्याधर क्षेत्र हिमालय के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक फैला हुआ है।[4] म्लेच्छों के सम्पर्क के कारण उत्तर दिशा को दूषित बताया गया है। राजा उदयन यौगन्धरायण से पूछते हैं कि उत्तर दिशा को छोड़कर पूर्व दिशा में विजय प्रयाण क्यों किया जाय।[5] इसके उत्तर में यौगन्धरायण कहता है कि उत्तर दिशा म्लेच्छों के सम्पर्क के कारण दूषित है।[6]

दक्षिणा पथ (१८.१.७६)

भारत के दक्षिणी प्रदेशों को दक्षिणा पथ के नाम से अभिहित किया गया है। राजशेखर के अनुसार माहिष्मती के आगे दक्षिणापथ माना गया है। इसमें महाराष्ट्र, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, कांची, मुरल, सिंहल, चोल, कोंकण आदि प्रसिद्ध प्रदेश गिने गये हैं। क० स० सा० में दक्षिणापथ के सभी महत्व पूर्ण प्रदेशों की चर्चा किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती है।

पूर्वदिक्—(१८.१.७६)

वङ्ग, अङ्ग आदि प्रदेश पूर्व दिशा में गिने गये हैं। राजशेखर ने वाराणसी से पूर्व के सभी प्रदेशो

---

१. रघु० वं०–चतुर्थ सर्ग–५३ २. का० मी० पृ० २२७
३. Geo. of Ancient India Page-32.
४. क० स० सा० १४।३।६६. ५. वही ३।४।५७
६. वही ३।४।५८ स्फीतापि राजन् कौवेरी म्लेच्छ संसर्ग गर्हिता।
७. का० मी० २२६. माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः"

को पूर्व दिशा में सम्मिलित किया है।[1] इसमें अंग, बंग, कलिंग, कोशल, उत्कल, मगध, विदेह, नेपाल प्राग्ज्योतिषपुर, ताम्रलिप्ति, कामरूप आदि प्रदेश सम्मिलित हैं।

क० स० सा० में इन सभी प्रदेशों का बार बार उल्लेख किया गया है। पूर्व दिशा इन्द्र की दिशा मानी गई है। यह सभी दिशाओं में शुभ एवं मङ्गलदायक है। सूर्य इसीं दिशा में उगते हैं। अतः यौगन्धरायण राजा को पूर्व दिशा से ही विजय यात्रा प्रारम्भ करने का परामर्श देता है।[2]

---

१. वही २२६. "वाराणस्याः पुरतः पूर्वदेशः"

२. क० स० सा० ३।४।६०–६२.

प्राच्यामुदेति सूर्यस्तु प्राचीमिन्द्रोऽधितिष्ठति
जाह्नवी याति च प्राचीं तेन प्राची प्रशस्यते ॥
तस्मात् प्राचीं प्रयान्त्यादौ राजानो मंगलैषिणः ॥

तृतीय परिच्छेद

जनपद

कथासरित्सागर में निम्नलिखित जनपदों के नाम आये हैं।

वत्स—(२.१.४, ६.४.३८)

वत्सराज उदयन कथासरित्सागर के प्रधान चरित नायक हैं। अतः इस ग्रन्थ में वत्स देश का नाम-निर्देश शताधिक बार हुआ है। वत्स का उल्लेख वेद, श्रौतसूत्र,[1] महाभाष्य[2] में भी हुआ है, किन्तु इन उद्धरणों का विशेष सम्बन्ध वत्सगोत्रीय लोगों से है, वत्स जनपद से नहीं।

शब्द कल्पद्रुम के अनुसार भारतवर्ष के उत्तरी भाग में स्थित देश विशेष का नाम वत्स है एवं उसका पर्याय कौशाम्बी[3] है। आधुनिक मान्यता के अनुसार प्रयाग के समीप की भूमि को वत्स देश माना गया है। यह जनपद यमुना के किनारे अवस्थित था एवं इसकी राजधानी कौशाम्बी थी।

जैन परम्परा में वत्स देश एवं कौशम्बी का विशेष महत्व है। महाभारत में भी इस देश का उल्लेख है। भीमसेन ने पूर्वदिग्विजय के समय इसे जीता था।[4]

वत्स देशीय पराक्रमी भूपाल पाण्डवों के समय थे, और उनकी विजय चाहते थे।[5] काशिराज प्रतर्दन के पुत्र का पालन गोशाला में वत्सों के (बछड़ों) द्वारा किया गया था, इसी के नाम पर इसे वत्स कहा जाने लगा।[6]

अवन्ती—(२.२.१६, २.२.१८३)

यह प्राचीन भारत के प्रसिद्ध जनपदों में से एक है। यह मालवा का ही एक भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार इसकी सीमा ताम्रपर्णी से लेकर किसी पर्वत के उत्तरी भाग तक फैली हुई मानी गई है, जो भगवती कालिका का स्थान है।[7] यह कालिका निश्चय ही उज्जैन के प्रसिद्ध महाकाल की शक्ति है।

---

१. श्रौ० सू० १६।११।२३. २. म० भा० ११६४.

३. श० क० "भारतवर्षस्योत्तरे देशविशेषः तत्पर्यायः कौशाम्बी.

४ म० भा० सभा० ३०।१० ५. म० भा० उद्योग० ५३।१-२.

६. म० भा शान्तिप० ४९।७९ बने संवर्धितो गोभिः सोभिरक्षतु मां मुनेः।
प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः।

७. श० सं० त० श्लोक १७ ताम्रपर्णी समारम्भ शैलाच्छेत्तरार्द्धतः।
अवन्ती संज्ञको देशः कालिका तत्र तिष्ठति॥

बौद्ध साहित्य में उज्जयिनी से माहिष्मती तक का प्रदेश अवन्ती जनपद के अन्तर्गत माना गया है।[1] आचार्य पाणिनि ने इसे मध्य भारत का प्रसिद्ध जनपद माना है।[2]

मत्स्यपुराण के अनुसार कार्तवीर्यार्जुन के कुल में अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था, उसी के नाम पर इस प्रदेश का नामकरण हुआ।

महाभारत में नर्मदा के दक्षिणी तट पर इस प्रदेश का अस्तित्व वर्णित है, जो महानदी के पश्चिमी तट पर है।[3] इस प्रकार निश्चय ही यह उज्जयिनी के समीप का प्रसिद्ध प्राचीन जनपद था, जिसकी चर्चा पाणिनि, बुद्ध एवं महाभारत काल से ही उपलब्ध है।

बाणभट्ट ने वेतवा नदी के तटपर स्थित विदिशा नगरी को अवन्ति देश की राजधानी माना है।

मालव देश—(२.२.६, २.२.७०)

मालव पश्चिमी भारत का प्रसिद्ध जनपद था। शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार अवन्ति से पूर्व और गोदावरी के उत्तर इस जनपद की स्थिति मानी गई है।[4] कुछ लोगों के मतानुसार उसकी सीमा पंजाब तक थी। स्मिथ के अनुसार झेलम और चेनाव के संगम के नीचे झंग और माण्टगोमरी जिले के एक भाग के निवासी मालव कहे जाते थे।[5] मैक्रिंडल के अनुसार यह जनपद इससे भी अधिक विस्तृत था, तथा उसमें चेनाव तथा रावी का वर्तमान दोआव तथा चेनाव सिन्धु संगम तक का प्रदेश सम्मिलित था।[6] महाभारत के अनुसार नकुल ने इस जनपद को जीता था। यहाँ के राजा और निवासी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। मालव गणों ने भीष्म के आज्ञानुसार अर्जुन का सम्मान किया था[7]। प्राचीन काल में निश्चय ही यह प्रदेश अधिक विस्तृत था एवं इसकी सीमायें पंजाब एवं राजपूताना तक फैली हुई मिलती हैं। इस प्रदेश के निवासी मालव कहे जाते थे। इनकी वीरता प्रसिद्ध थी। कथासरित्सागर में मालव देश में उत्पन्न वीरवर का चरित्र अनुपम शौर्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

विदेह—(३.५.५६)

श० सं० तं० के अनुसार विदेह को तीरभुक्त अथवा तैरभुक्ति भी कहा गया है। इसी का अपभ्रंश रूप तिरहुत आज भी प्रसिद्ध है। गंडकी नदी से लेकर चम्पारण (चम्पारण्य) तक इसकी सीमा मानी गई है।[8] इसकी ख्याति ब्राह्मण काल से भी पूर्व हो चुकी थी। श० प० ब्राह्मण के अनुसार विदेह प्रथम ज्ञान के प्रवर्तक थे।[9] इसकी राजधानी मिथिला थी।

---

१. बुद्ध० का० भा० भूगोल०, पृ० ४५०.
२. अष्टाध्यायी ४।१।१७६.
३. म० भा० वन० प० ६१।२१. एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्। अवन्तीं ऋक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥
४. श० सं० त० ३।७।२१ अवन्तीतः पूर्वभागे गोदावर्यास्तथोत्तरे। मालवाख्यो महादेशो धनधान्यपरायणः ॥
५. Journal of R. A. S. 1903, Page 631.
६. Invasion of India, Page 351.
७. म० भा० सभा पर्व० ७।३४।११.
८. श० स० तं० ३।७।२७ गंडकी तीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे। विदेहभूः समाख्याता तैरभुक्ताभिधः स तु ॥
९. श० प० १।४।१।१०.

वंग—(३.५.६, १८.१.७६)

क० स० सा० के अनुसार पूर्वी सीमा के अन्तिम छोर पर समुद्र तक बंग देश का विस्तार बताया गया है। श० सं० तं० के अनुसार भी इसकी सीमा ब्रह्मपुत्र से समुद्र पर्यन्त बताई गई है।[1] कालिदास ने गङ्गा एवं ब्रह्मपुत्र से घिरे भूभाग को वंग देश कहा है।[2] वंग के साथ अंग प्रदेश का नाम भी ज्यादातर मिलता है, क्योंकि इसकी पश्चिमी सीमा अङ्ग जनपद तक बताई गई है।

अङ्ग—(१२.१६.४, १८.१.७६)

भागलपुर से मुंगेर तक का भूभाग अङ्ग देश है।[3] इसकी राजधानी चम्पापुरी थी जो भागलपुर से दो मील पश्चिम है। कनिंघम ने भागलपुर से २४ मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ी के पास चम्पा नगर या चम्पापुर की स्थिति मानी है। प्राचीन काल में चम्पा एक अत्यन्त सुन्दर एवं समृद्ध नगर था। यह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। पार्जिटर ने पूर्णिया जिले के पश्चिमी भाग को अङ्ग जनपद में सम्मिलित माना है।[4] महाभारत के अनुसार अङ्ग नामक राजा के नाम पर इसका नाम अङ्ग पड़ा है।[5] अनङ्ग ने (कामदेव) अपना अङ्ग यहीं त्याग किया था।[6]

श० सं० तं० के अनुसार वैद्यनाथ से भुवनेश तक का भूभाग अङ्ग कहा जाता था।[7] वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार महानदी के पूर्व अङ्ग प्रदेश था[8]। अङ्ग जनपद की चर्चा ऐतरेय ब्राह्मण में भी है।[9] बुद्ध के समय यह प्रसिद्ध महाजनपदों में एक था।[10] क० स० सा० के अनुसार अङ्ग प्रदेश का प्रधान नगर विटङ्कपुर था जो समुद्र तट पर था।[11] इससे स्पष्ट है कि अङ्ग प्रदेश का विस्तार समुद्र तक था। श० सं० तं० के अनुसार यदि इस प्रदेश का विस्तार भुवनेश (भुवनेश्वर) तक मान लिया जाय तो उसकी सीमा दूर तक पहुंच जाती है।

चेदि—(३.५.५८, ६.८.१०, १६.३.६)

चेदि जनपद वत्स जनपद के दक्षिण में यमुना नदी के पास स्थित था।

चेत्तीय जातक के अनुसार इस जनपद की राजधानी सोत्थितवती नगरी थी जिसे नन्दलाल दे ने महाभारत की शुक्तिमती नदी से मिलाया है।[12] शिशुपाल इसी चेदि जनपद का सम्राट् था।[13]

---

१. श० सं० त० ३।७।३ रत्नाकरं समारम्य ब्रह्मपुत्रान्तगं शिवे। बंगदेशो यथा प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदायकः॥
२. रघु० ४।३६. ३. Anc. geo. India Page 547. ४. R. A. S. 1897 Page 95.
५ म० भा० आदि १०४।५३-५४. ६. रामायण १।२३।१४.
७. श० सं० तं०—३।७।२ वैद्यनाथं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिवे। तावदङ्गाभिधो देशो यात्रायां नहि दुष्यति॥
८. का० सू० १।७. ९. ऐ० ब्रा० ३।२२. १०. दीघ्यनिकाय २।२३९.
११. क० स० सा० १२।१५।३, अंगदेशेऽग्रहारोऽस्ति महान् वृक्ष घटाभिधः।
५।२।३५ तस्मात् प्रयाहि जलधेरुपकण्ठप्रतिष्ठितम्। नगरं प्रथमं तावत् विटङ्कपुर संज्ञकम्॥
१२. Geo. Ancient india—Page 129. १३. बुद्ध कालीन भूगोल, पृ० ४२७.

कलिङ्ग—(३.५.९२, ७.२.१३)

श० सं० तं० के अनुसार जगन्नाथ के पूर्वी हिस्से से लेकर कृष्णा नदी के किनारे तक का भूभाग कलिंग के अन्तर्गत माना गया है।[१] जगन्नाथ उड़ीसा के प्रसिद्ध पुरी जिले में है। तन्त्रशास्त्र में पुरी पीठ स्थान माना गया है। इसे उत्कल भी कहा जाता है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इसे उत्तर में उड़ीसा से लेकर दक्षिण में आन्ध्र या गोदावरी के मुहाने तक समुद्र तट पर फैला हुआ माना है।[२] महाभारत के अनुसार वर्तमान उड़ीसा तथा दक्षिण में वैतरणी नदी एवं विजगापट्टम् तक का प्रदेश कलिंग के अन्तर्गत था[3]। कामसूत्र के अनुसार कलिंग प्रदेश गौड़ विषय के दक्षिण तक था।[४]

चोल—(३.५.९५)

चोल जनपद का विस्तार तंजोर और दक्षिण के आरकार जिले तक माना गया है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्डय, आदि राष्ट्रों का उल्लेख आया है। चोल राज्य द्रविड़ के नाम से भी पुकारा जाता था।

मुरल—(३.५.९६)

मुरल जनपद का उल्लेख काव्य-मीमांसा में भी है।[५] इसके अनुसार केरल और मुरल दोनों अलग-अलग जनपद थे। टॉनी ने हाल (Hall) का उद्धरण देते हुए लिखा कि यह केरल का ही दूसरा नाम है, जिसे आज मालावार कहते हैं। विलसन ने इसे पोलेमी के कुरुला (Curula) माना है।[६]

कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में सह्य पर्वत और अपरान्त देश के निकट मुरला नाम की नदी का वर्णन किया है।[७] केरल से अपरान्त तक सह्य पर्वत के निकट फैले हुए भूभाग का नाम मुरल है। यह मुरला नदी के तट पर बसा हुआ जनपद था। कुछ ऐतिहासिक केरल देश की काली नदी को मुरला मानते हैं।[८]

राजशेखर के बाल भारत[९] के अनुसार मुरल के लोग प्रतीहार महीपाल प्रथम के सम्पर्क में आये। नवसाहसाङ्कचरित[१०] के अनुसार परमार सिन्धुराज ने (९९५–१०१० ए० डी) मुरल लोगों को हराया।

क० स० सा० के अनुसार चोल के आगे एवं गोदावरी नदी के समीप यह प्रदेश था।[११] मुरल नदी की चर्चा कथासरित्सागर में नहीं है।

---

१. श० सं० तं० जगन्नाथात् पूर्वभागात् कृष्णातीरान्तगं शिवे। कलिंगदेशः संप्रोक्तः वाममार्गपरायणः॥
२. का० मी०, पृ० २८२. ३. महा० भा० ३।११४।४. ४. का० सू० ४।६.
५. का० मी०, पृ० २२६. ६. O. S. Vol ii Page 92. ७. रघु० वं० ४।५५ मुरलामारुतोद्धूत।
८. का० मी० पृ० २९४. ९. बा० भा० १–७. १०. न० सा० च० १०–१४,२०.
११. क० स० सा० ३.५.९७ यत्तस्य सप्तधा भिन्नं पपुर्गोदावरी पयः।

लाट—(३.५.१०४, ८.४.१०६)

लाट देश की स्थिति अवन्ती से पश्चिम और विदर्भ से उत्तर-पश्चिम की ओर मानी गई है। इसमें भृगुकच्छ, नौसारी आदि जिले सम्मिलित थे। श० सं० तं० के अनुसार भी इस देश की यही स्थिति थी।[1]

मार्कोपोलो ने लिखा है कि लाट देश गुजरात का प्राचीन नाम है जिसमें उत्तरी कोंकण और भड़ोच सम्मिलित थे। उनके अनुसार मुस्लिम युग में पश्चिमी समुद्र को लार समुद्र कहा जाता था। महाभारत में इसकी चर्चा की गई है।[2] क० स० सा० में भी इस प्रदेश का, कई स्थलों पर वर्णन किया गया है। यह स्त्रियों के सौन्दर्य के लिए विशेष प्रसिद्ध था।

कामरूप—(३.५.११३, १८.५.१७५)

राजशेखर ने भारत के पूर्वी भाग के एक पर्वत को कामरूप माना है।[3] रघुवंश में कालिदास ने भी इसकी चर्चा की है। कामरूप पर्वत नीलकूटगिरि का ही दूसरा नाम है। श० सं० तं० के अनुसार यह कालेश्वर से लेकर श्वेतगिरि एवं त्रिपुरा से लेकर नील पर्वत तक विस्तृत था।[4] इस जनपद की पहचान असम से की जाती है। आज भी कामरू-कमच्छा (कामरूप, कामाख्या) तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध है। इसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी। राजशेखर ने जनपदों में कामरूप के स्थान पर प्राग्ज्योतिषपुर को ही गिना है।[5]

मगध—(३.१.११९, ३.५.११५)

इस जनपद की सीमा उत्तर में गंगा, दक्षिण में शोण नदीं, पूर्व में अङ्ग प्रदेश और पश्चिम में सघन जंगल अथवा वाराणसी तक फैली हुई थी। श० सं० तं० के अनुसार कालेश्वर, काल भैरव वाराणसी में तप्तकुण्ड-सीताकुण्ड मुंगेर तक मगध देश माना गया है।[6] श० सं० तं० के अनुसार मगध का दक्षिणी भाग कीकट और उत्तरी भाग मगध माना गया है।[7]

कीकट का नाम वेद में भी मिलता है।[8] महाभारत में मगध का नाम कीकट आया है। वायु पुराण में भी कीकट शब्द मिलता है।[9] छठी शताब्दी तक इस प्रदेश की राजधानी गिरिव्रज थी।[10] बाद में यह राजगृह हो गया। मगध, बुद्ध एवं महावीर का जन्म प्रदेश है। इसकी दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र

---

१. श० स० त० ३।७।५५ अवन्तीतः पश्चिमे तु वैदर्भाद्दक्षिणोत्तरे। लाटदेशः समाख्यातः वर्वरं शृणु पार्वती ॥

२. म० भा० अनु० ३५।१७ मेकला द्रविड़ा लाटाः   ३. का० मी०, पृ० २२६ कामरूपादयः पर्वताः।

४. श० सं० तं० ३।७।१०.   ५. का० मी०, पृ० २२६.

६. श० सं० तं० ३।७।१० "कालेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे। मगधाख्यो महादेशो यात्रायां न हि दुष्यति ॥"

७. श० सं० तं० ३।७।११ दक्षिणोत्तरक्रमेणेव क्रमात् कीकटमागधो।

८. ऋग्वेद (iii ५३–१४).   ९. वा० पु० १०८–७३.   १०. O. S. Tawney—Pag 3.

प्रसिद्ध विद्या केन्द्र बना । क० स० सा० के अनुसार दूर-दूर से लोग विद्याध्ययन के लिए यहां आते हैं ।[1] राजगृह तो प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था ही ।[2]

पद्म प्रदेश—(३.६.७)

क० स० सा० में इस प्रदेश का केवल एक बार उल्लेख मिलता है। इसकी ठीक पहचान नहीं की जा सकीं है। यह किसी अन्य जनपद का नामान्तर प्रतीत होता है। कनिंघम ने कश्मीर प्रदेश के पद्मपुर की चर्चा की है जिसे आज पम्पुर कहा जाता है। यहां के राजा बृहस्पति थे जिसका राज्यकाल ८३२ से ८४४ ई० है ।[3] एक दूसरा पद्मपुर विदर्भ में था जो भवभूति का जन्म स्थान माना गया है ।[4]

श्रीकण्ठ जनपद—(८.१.१०८, ३.६.३३)

प्राचीन भारत का यह भी एक प्रसिद्ध जनपद प्रतीत होता है। कथासरित्सागर में इसे कभी राष्ट्र[5] कभी विषय[6] की संज्ञा दी गई है। किन्तु इसका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है, श्रीकुन्तल को ही श्रीकण्ठ कहा जाता हो। डी० सी० सरकार ने श्रीकुन्तल को ही श्रीकण्ठ मानने की सम्भावना व्यक्त की है। यह थानेश्वर के समीप था ।[7] श० सं० तं० के अनुसार कामगिरि और द्वारका के बीच का देश श्रीकुन्तल कहा जाता था ।[8] ११७६ ई० के एक शिलालेख में काम देश के शासक का निर्देश है जो सपादलक्ष पर्वत के राजा के अधीन था ।[9] यह काम पर्वत हो सकता है, कुमायूं का ही दूसरा नाम हो। श्रीकण्ठ श्रीकुन्तल का ही दूसरा नाम हो सकता है।

कोशल—(६.१.७९, ६.६.२१३)

अवध प्रदेश ही कोशल जनपद है। बौद्ध साहित्य के सोलह जनपदों में इसकी गणना की गई है। इसके पश्चिम में कुरु-पांचाल तथा पूर्व में विदेह माना गया है। रामायण काल में इस जनपद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। राम के बाद यह दो भागों में विभक्त हो गया। कुश दक्षिण कोशल के राजा हुए एवं लव उत्तर कोशल के।

राजशेखर ने पूर्व के जनपदों में इसकी गणना की है ।[10] श० सं० तं० के अनुसार इसे महाकोशल कहा गया है ।[11] इसके अनुसार इस जनपद का विस्तार गोकर्णेश से दक्षिण, तैरभुक्ति से पश्चिम आर्यावर्त से उत्तर एवं महापुरी से पूर्व माना गया है ।[12] गोकर्णेश नेपाल में था। महापुरी दिल्ली का ही दूसरा

---

१. क० स० सा० १।३।७. २. वही, २।२।८. ३. राज त०.४।६९४.

४. Studies in the Geo. of Ancient and Medieval India, Page 153.

५. क० स० सा० ३।६।३३. ६. वही, ३।६।९. ७. S. G. A. M. I. Page 101.

८. श० सं० तं० ३।७।४३. कामगिरिं समारभ्य, द्वारकान्तं महेश्वरि। श्रीकुन्तलाभिधो देशो हूणं शृणु महेश्वरि ॥

९. I. A. Vol 10 Page 342. १०. का० मी०, पृ० २२६. ११. श० सं० तं० ३।७।३९.

१२. वही, ३।७।३९. गोकर्णेशात् पूर्वभागे आर्यावर्त्तात्तु चोत्तरे। तैरभुक्तात् पश्चिमे तु महापुर्याश्च पूर्वतः ॥

नाम था। विन्ध्य से उत्तर मगध से पश्चिम हिमालय से दक्षिण एवं पाञ्चाल से पूर्व का प्रदेश आर्यावर्त कहा गया है।[1] क० स० सा० में कतिपय स्थलों पर कोशल राजाओं का वर्णन किया गया है।

मद्र—(८.१.१७, १६.३.२७)

महाभारत का प्रसिद्ध मद्र जनपद भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश था। इसका विस्तार रावी से झेलम तक बताया गया है। महाभारत के अनुसार भीष्म, मन्त्रियों, ब्राह्मणों और सेना के साथ आये तथा उन्होंने मद्रराज शल्य से पाण्डु के लिए माद्री का वरण किया।[2] मद्र जनपद के लोग युधिष्ठिर के लिए भेंट लेकर आये थे।[3]

महाभाष्य में भी मद्रराज और मद्र राज्ञी का उल्लेख है।[4] श० सं० तं० के अनुसार इस देश की स्थिति विराट और माण्डव के मध्य थी।[5] इसकी राजवानी शाकल थी। क० स० सा० में भी मद्र की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) का वर्णन है।[6]

कर्णाट—(८.४.१०६, १८.३.३)

यह प्रसिद्ध कर्णाट (आधुनिक कर्णाटक) देश है जिसमें मैसूर, कुर्ग आदि जिले सम्मिलित हैं। यह आन्ध्र के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। इसकी राजधानी श्रीरंगपत्तन और महिषपुरी थी। श० सं० तं० के अनुसार इसका विस्तार रामनाथ से प्रारम्भ होकर श्रीरंगपत्तन तक था।[7]

सौराष्ट्र—(८.४.१०६, १८.१.७६)

भारत के पश्चिमी छोर का प्रसिद्ध काठियावाड़ जनपद और गुजरात प्रदेश का कुछ भाग सौराष्ट्र के नाम से कहा जाता है। द्वारका इसकी राजधानी थी। इसे आनर्त देश भी कहते हैं। राजशेखर ने पश्चिमी देशों में सौराष्ट्र की गणना की है।[8] श० सं० तं० में इसकी सीमा कोंकण से हिंगुलाज तक बताई गई है।[9] इसी का दूसरा नाम गुर्जर है। शत योजन तक इसका विस्तार बताया गया है।

गौड़—(८.६.४३, १८.३.३)

श० सं० तं० में गौड़ देश का विस्तार वंग से भुवनेश्वर तक बताया गया है।[10] इसका उल्लेख अष्टाध्यायी में भी है।[11] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका उल्लेख है।[12] इस तरह इस प्रदेश का विस्तार

---

१. Bagchi—"Studies in the Tantra Page 108.

२. म० भा० आ० प० ५१।१४. ३. म० भ० स० ५२।१४. ४. म० भा० ४।१।१.

५. श० सं० तं० ३।७।५३. वैराटपाण्ड्योर्मध्ये पूर्वदक्षक्रमेण च। मद्रदेशः समाख्यातः माद्रीशास्तत्र तिष्ठति ॥

६. क० स० सा० ८।१।१७. "शाकलं नाम मद्रेषु बभूव नगरं पुरा।"

७. श० सं० तं०—३।७।१६. राजनाथं समारभ्य श्रीरङ्गान्तं वरेश्वरि। कर्णाट देशो देवेशि साम्राज्य भोग्यदायकः ॥

८. कां० मी० पृ० २२७.

९. श० सं० तं० हिंगुलाजान्तको देवि शतयोजनमाश्रितः। सौराष्ट्रो देशो देवेशि नाम्ना तु गुर्जराभिधः ॥

१०. श० सं० तं० ३।७।३८ बंगदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिवे। गौड़-देशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः ॥

११. अष्टाध्यायी ६।२।१०० "अरिष्ट गौड़ पूर्वे च" १२. कौ० अ० २।१३.

बंगाल के मुर्शिदाबाद से लेकर मालदा जिले तक है। कभी-कभी इसका प्रयोग सम्पूर्ण बंगाल के लिए भी हुआ है। यह प्रदेश वर्तमान बंगाल का ही पूर्वी भाग था।

निषध—(६.६.२४३, १३.१.८०)

निषध जनपद की प्रसिद्धि महाभारत काल से ही है। महाभारत के अनुसार विनशन को निषध राष्ट्र का द्वार कहा है, जहां सरस्वती लुप्त हुई है।[1] इस प्रकार यह विन्ध्य एवं सत्पुरा पर्वत श्रेणी में मालवा एवं खानदेश की सीमा पर स्थित था। का० मीं० में इसकी गणना वर्ष पर्वतों में की गई है।[2] क० स० सा० में भी निषध पर्वत का नाम कई बार आया है।[3] अमरकोष[4] में भी इसे पर्वत विशेष बताया गया है। म० भा०[5] में भी यह पर्वत विशेष के रूप में प्रयुक्त है। क० स० सा०[6] के अनुसार यह प्रदेश हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में था। हो सकता है हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में भी कोई निषध देश रहा हो। महाभारतादि प्रसिद्ध निषध देश निश्चय ही मध्यभारत में विन्ध्य श्रेणी में था। पुराणों में भी इसकी स्थिति विन्ध्य के पीछे मानी गई है।

कश्मीर—(७.५.३७, ६.१.४५, १०.७.५२)

तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध कश्मीर जनपद की सीमा शारदामठ से कुंकुम पर्वत तक बताई गई है।[7] कल्हण ने राजतरंगिणी में शारदादेवी का वर्णन किया है।[8] क० स० सा० में इस प्रदेश का विशिष्ट वर्णन कवि ने किया है।[9] कवि का स्वदेश प्रेम एवं प्रदेश की नैसर्गिक सुषमा इसके प्रधान कारण प्रतीत होते हैं।

सिन्धु—(१८.३.४, ३.५.१०८)

म० भा० में सिन्धु देश का नृपति जयद्रथ बताया गया है। यह राजा जयद्रथ द्रौपदी के स्वयम्वर में सम्मिलित हुआ था[10]। भाष्यकार ने पाणिनिसूत्र[11] सिन्धु तक्षशिलादिभ्यो…" के सिन्धु पद की चर्चा के लिए उद्धृत किया है। सिन्धु नदी के कारण इसका नाम सिन्धु पड़ा। वैदिक काल में यह प्रदेश घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था[12]। डा० अग्रवाल ने इसे सिन्धुसागर के दोआब का प्रदेश माना है।[13] श० सं० तं०[14] के

---

१. म० भा० १३०१४ द्वारम् निषधराष्ट्रस्य दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च।

२. का० मी०, पृ० २२३. ३. क० स० सा० १३।१९।१४२. ४. अ० को० २।३।३.

५. म० भा० ३।५३।३. ६. क० स० सा० १३।१।८०.

७. श० स० तं०—३।७।९. शारदामठमारभ्य कुंकुमाद्रितटान्तकः। तावत् कश्मीरदेशः स्यात् पञ्चाशत् योजनात्मकः॥

८. रा० त० ८।२५५६, २७०६. ९. क० स० सा०—७।५।३७. १०. म० भा० आदि० प० १८८।२१.

११. अष्टाध्यायी ४।३।९३. १२. Vedic Index II Page 45.

१३. Agrawal. India as Known to Panini, Page 50.

१४. श० सं० तं०—३।७।५७. लङ्काप्रदेशमारभ्य भक्तान्तं परमेश्वरि। सैन्धवाख्यो महादेशः पर्वते तिष्ठति प्रिये॥

अनुसार इस प्रदेश का विस्तार लंका से मक्का पर्यन्त है। किन्तु यह लङ्का प्रदेश उत्तर की ओर कहां था पता नहीं चलता। पंजाब का सिंहलपुर माना जा सकता है। क० स० सा० के अनुसार सिन्धु प्रदेश के निवासी म्लेच्छ थे जिसका संहार उदयन ने किया।[1]

नैपाल—(१२.२२.३)

यह प्रसिद्ध नेपाल जनपद हिमालय की तराई में पूर्व से पश्चिम की ओर फैला हुआ है। का० मी०[2] में पूर्व देशों की गणना में नेपाल की गणना भी की गई है। श० सं० तं० के अनुसार यह प्रदेश जटेश्वर से योगिनी तक फैला हुआ है।[3] डी० सी० सरकार ने योगिनीपुर को दिल्ली माना है। किन्तु जटेश्वर की पहचान नहीं हो सकी है।

पारसीक—(१८.३.६४)

परसिया (Percia) के निवासी को पारसीक कहा जाता था। क० स० सा० में इस देश की गणना म्लेच्छ देशों में की गई है।[4] उनका उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।[5] कालिदास के रघुवंश में भी इनका उल्लेख है।[6] मुद्राराक्षस (सातवीं शताब्दी), गौड़वह (आठवीं शताब्दी) में भी इउका उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि सुदूर अतीत से ही भारतवासी इनके सम्पर्क में आ चुके थे। क. स. सा. के अनुसार यह प्रदेश भी राजा विक्रमादित्य के अधीन था। पारसीक नृप निर्मूक राजा के दरबार में आकर सर झुकाता है।[7]

विदर्भ—(६.५.३६.९.५.५६)

आधुनिक बरार ही प्राचीन विदर्भ जनपद माना जाता है। श० सं० तं० के अनुसार भद्रकाली से पूर्व रामदुर्ग से पश्चिम विदर्भ प्रान्त कहलाता है।[8] यह भद्रकाली उज्जैन की प्रसिद्ध कालिका हैं, जिसका वर्णन पहले के श्लोक में किया गया है।

इस प्रकार उज्जयिनी के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश विदर्भ कहा जाता था। का० मी० में इसकी गणना दक्षिणापथ के देशों में की गई है।[9] दण्डी ने काव्यादर्श में इसका उल्लेख किया है।[10] महाभारत के अनुसार दमयन्ती विदर्भराज की पुत्री थी। इस प्रकार प्राचीन समय से ही यह प्रसिद्ध जनपद भारत के मध्य में स्थित था। इसके दो महत्त्वपूर्ण नगरों का उल्लेख क० स० सा० में मिलता है। प्रतिष्ठान और कुण्डिनपुर कई कथाओं के केन्द्र स्थान हैं। कहीं-कहीं प्रतिष्ठान को प्रदेश एवं सुप्रतिष्ठित नगर को उसकी राजधानी बताई गई है।[11]

---

१. क० स० सा० ३।५।१०८. २. का० मी०, पृ० २२६.

३. श० शं तं० ३।७।३६. जटेश्वरं समारभ्य योगिन्यन्तं महेश्वरि। नेपालदेशो देवेशि शिलहट्टं शृणु प्रिये ॥

४. Geo An. Med. India, Page 97. ५. म० भा० ६।७।६५–६६. ६. रघु० वं० ४।६०.

७. क० स० सा० १८।३।४. ८. श. सं० तं० ३।७।१८. ९. का० मी०, पृ० २२६.

१०. का० द० १–४०. ११. क० स० सा० १।६।८,

अपरान्त (कोंकण) (८.१.४३) पश्चिमी प्रान्तों में कोंकण प्रसिद्ध जनपद था। इसकी गणना अपरान्त के देशों में की गई है। काठियावाड़ उसी में सम्मिलित था। श० सं० नं० के अनुसार पश्चिमी घाट एवं अरब सागर के मध्य भाग को कोंकण कहा गया है।[1]

पुलिन्द—(१२.३४.२६५) श० सं० नं० के अनुसार शिलहट से पूर्व एवं कामान्य से उत्तर पुलिन्द देश था।[2] इस देश के निवासी पुलिन्द कहे जाते थे, जिनकी गणना जंगली जातियों के साथ की गई है।

विराट—(१२.३५.४) इसे विदर्भ के उत्तर एवं इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण तथा मरुदेश से पूर्व बताया गया है।[3] महाभारत में विराट को मत्स्य नगर भी कहा गया है।[4]

गान्धार—(१२.३५.१०५) सोलह महाजनपदों में गान्धार जनपद का उल्लेख है। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। पेशावर एवं रावलपिण्डी का भाग गान्धार था। अशोक का राज्य गान्धार तक फैला हुआ था।

तुरुष्क—(३.५.१०६) यह आज का तुर्किस्तान है। क० स० सा० में इसका भी उल्लेख है।[5]

चीन—(८.१.४६, ८.१.१७५) क० स० सा० में चीन के राजा सुरोह की चर्चा की गई है। श० सं० तं० में मानशेष से पूर्व चीन देश बताया गया है।

मानसरोवर से पूर्व तिब्बत देश है। किन्तु चीन और तिब्बत में उस समय भेद नहीं किया गया है। महाभारत में चीन को गणना कम्बोज के साथ की गई है।[6]

भरुकच्छ—(१.६.७६) संस्कृत भृगुकच्छ शब्द का प्राकृत में भरुकच्छ हो गया जिसे आजकल भरोंच कहते हैं। गुजरात का प्रसिद्ध भड़ोंच या ब्रोच ही भरुकच्छ जनपद था। का० मी०[7] में पश्चिमी जनपदों में भृगुकच्छ की गणना है। क० स० सा०[8] में इसे नर्मदा के किनारे फैला हुआ बताया गया है।



१. श० सं० नं०—३।७।४५. अथ घट्टं समारभ्य कोटिशस्य तु मध्यमः। समुद्रप्रान्त देशोऽस्ति कोंकणः परिकीर्तितः॥

२. श० सं० नं०—३।७।५०. शिलाहट्टात् पूर्वभागे कामरूपातथोत्तरे। पुलिन्द देशो देवेशि नरनारायण परः॥

३. श० सं० तं० ३।७।५०. वैदर्भदेशात् ऊर्ध्वं च इन्द्रप्रस्थाच्च दक्षिणे। मरुदेशात् पूर्वभागे विराटः परिकीर्तितः॥

४. म० भा० ४।१३।१.   ५. श० सं० तं० ३।७।३४. मानशेषाद् पूर्वं चीनदेशः प्रकीर्तितः॥

६. म० भा० ६।९।६६.   ७. का० मी० पृ० २२७.

८. क० स० सा० १।६।७६. अस्तीह भरुकच्छाख्यो विषयो नर्मदातटे।

चतुर्थ परिच्छेद

द्वीप

कथासरित्सागर में द्वीपों का सविस्तार वर्णन तत्कालीन भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमा का द्योतक है। समुद्र यात्रा की कठिनाइयों को झेलते हुए भारतीय व्यापारी, नाविक, धर्म प्रचारक दूर देशों में जाकर अपनी संस्कृति की अमिट छाप छोड़ जाते थे। आदिकाल से ही सामुद्रिक अभियानों के प्रमाण मिलते हैं। ई० पूर्व १७वीं शताब्दी में मेसोपोटामिया के हिटाइटी और मितानी सम्राटों ने अपनी मैत्री की संधि को स्थायी रूप देने के लिए भारतीय देवताओं—इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य का आह्वान किया।

भारत ने तलवार के बल पर विदेशों को जीतने और वहाँ धर्म एवं संस्कृति फैलाने का प्रयास नहीं किया। फिर भी यहाँ की संस्कृति की गहरी छाप पश्चिमी एशिया, मिश्र, रोम से लेकर पूर्व में चीन एवं पूर्वी द्वीप समूह तक फैली है। इस सफलता का श्रेय उन व्यापारियों धर्मप्रवर्तकों एवं ऐसे वीरों को है, जिन्होंने भौगोलिक सीमा लांघ कर यातायात की असुविधाओं को झेलते हुए विदेशों में अपनी सभ्यता का बीज बोया।

सामुद्रिक अभियान गौरवपूर्ण विषय था। वसुदेव हिण्डी के एक प्रसङ्ग से उस युग की धारणा का पता चलता है। सत्यभामा के पुत्र सुभानु के लिए एक सौ आठ कन्यायें इकट्ठी की गई थीं, किन्तु उनका विवाह रुक्मिणी के पुत्र साम्ब से कर दिया गया। इस पर प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा—देखिये साम्ब ने अन्तःपुर में बैठे-बैठे १०८ कन्यायें पालीं जबकि आप सौ वर्ष तक घूमते फिरे। इसके उत्तर में वसुदेव ने कहा—साम्ब तो कुएं का मेढक है जो सरलता से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट हो गया। मैंने तो पर्यटन करते हुए अनेक सुख और दुःखों का अनुभव किया। मैं मानता हूँ कि दूसरे किसी पुरुष के भाग्य में इस तरह का उतार चढ़ाव न आया होगा। वस्तुतः वसुदेव के इस छोटे से वाक्य में उस महान् युग की हलचल का बीज समाया हुआ है। उस समय के बेचैन हृदय पश्चिम के यवन देश से पूर्व के यव द्वीप और सुवर्ण द्वीप तक के विशाल क्षेत्र को रात दिन रौंदते रहते थे। बाण के शब्दों में कहा जाय तो उनके पैरों में मानों द्वीपान्तर संचारी पादलेप लगा हुआ था।[1] वे यह मानते थे कि द्वीपान्तरों की यात्रा के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती (अभ्रमेण श्री समाकर्पणं न भवति) मत्स्य पुराण के लेखक ने समुद्र को ललकारते हुए कहा—हे उत्ताल तरंगोंवाले महार्णव आजतक लङ्का आदि द्वीपों में निवास करनेवाले राक्षस ही तुम्हारे जल में आते जाते रहे हैं, अब अपने उस जल को शिलाओं से जड़े हुए प्रांगण में बदल डालो।[2]

उस समय समुद्र यात्रा का तांता लगा हुआ था। महाभारत के सभापर्व में भी इसका सविस्तार वर्णन मिलता है। दिव्यावदान में तो यहां तक कहा गया है कि महासमुद्र की यात्रा किये बिना अर्थोपार्जन

१. क०स०सा० भूमिका, वा०श० अग्रवाल पृ० १०. २. मत्स्य पु० १४५–४५५ "महार्णवाः कुरुत सिलोपनं पयः।

की आशा ऐसी ही है जैसे ओस की बूंदों से घड़ा भरने का प्रयत्न। दिव्यावदान में सार्थवाह के कथन से यह बात सूचित होती है।[1] "भाइयों महासमुद्र की यात्रा में दुःख बहुत हैं सुख थोड़ा है। बहुत से जाते हैं पर थोड़े लौट पाते हैं। क्या आपने ऐसे किसी का नाम सुना जो छ बार महासमुद्र की यात्रा से सफलता के साथ अपने जहाजों को लेकर लौट आया हो?"[2]

कथासरित्सागर में द्वीपान्तर गमन की बहुत सी कथायें हैं। समुद्रसूर नाम का व्यापारी जहाज द्वारा सुवर्णद्वीप जाता है और वहां के मुख्य नगर कलशपुर[3] में निवास करता है। सुवर्णद्वीप से लौटते समय रुद्र नामक व्यापारी का जहाज समुद्र में नष्ट हो गया।[4] इसी प्रकार कटाह की राजकुमारी का जहाज भी भारत आते समय सुवर्णद्वीप के निकट नष्ट हो गया। राजकुमारी ने उसी द्वीप में शरण ली। कटाहद्वीप बड़ा समृद्धशाली था और सुवर्णद्वीप के निकट होने के कारण दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध था।[5] देवस्मिता का अपने पति गुह सेन नामक व्यापारी के पीछे ताम्रलिप्ति से कटाह जाने का विवरण भी है।[6]

चन्द्रस्वामिन् का अपने पुत्र तथा छोटी बहन की खोज में द्वीपों की ओर प्रस्थान का वृत्तान्त है। कनकवर्मन् नामक व्यापारी ने उसे बचाया था। उनके नारिकेल द्वीप लाने की बात सुनकर चन्द्रस्वामिन् एक जहाज द्वारा समुद्र पार कर उस द्वीप की ओर गया।[7] वहां उसे पता चला कि कनकवर्मन् कटाहद्वीप चला गया है। चन्द्रस्वामिन् ने उसी ओर प्रस्थान किया। पर व्यापारी वहां से कर्पूर द्वीप जा चुके थे। इस प्रकार चन्द्रस्वामिन् क्रम से नारिकेल द्वीप, कटाह द्वीप, कर्पूर द्वीप, सुवर्ण द्वीप और सिंहल द्वीप गया।

इन उदाहरणों के आधार पर कथासरित्सागर में निम्नलिखित द्वीपों का वर्णन हमें मिलता है।

कटाहद्वीप, उत्स्थल द्वीप, रत्नकूट द्वीप, सुवर्ण द्वीप, नारिकेल द्वीप, कर्पूर द्वीप, सिंहल द्वीप, मुक्तिपुर द्वीप, श्वेत द्वीप, हंस द्वीप एवं मलयपुर द्वीप। इन द्वीपों की अधिकांश यात्रायें व्यापार, अर्थोपार्जन अथवा सुन्दरी की प्राप्ति के लिए की गई है। चन्द्रस्वामी[8] धनोपार्जन के लिए स्वर्णद्वीप जाता है। राजा पृथ्वीरूप सुन्दरी के लिए मुक्तिपुर[9] जाता है।

बन्दरगाह—इन द्वीपों की अधिकांश यात्रायें "ताम्रलिप्ति[10] नगर से की गई है। इसे आज तामुलुक कहते हैं। यह हुगली नदी के किनारे बंगाल में स्थित था। उस समय का यह प्रसिद्ध बन्दरगाह था। सामुद्रिक यात्राओं के प्रस्थान केन्द्र कुछ अन्य नगरों के नाम भी आये हैं। दक्षिणी भारत के समुद्र तट पर स्थित विटंकपुर[11], पत्रपुर, सागर पुर आदि नगर प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहां से द्वीपान्तरों की यात्रायें प्रारंभ की जाती थीं।[12]

द्वीपों के नगर—साधारणतः द्वीपों का ही नाम निर्देश किया गया है, इन द्वीपों के किसी विशिष्ट स्थान का नहीं। किन्तु इन द्वीपों के कुछ प्रसिद्ध नगरों के नाम मिलते हैं।[13] सुवर्णद्वीप की ओर जाता हुआ

---

१. म० भा० सभापर्व ४९।१६.   २. दिव्यावदान, पूर्णावदान, पृ० २४–३५.
३. क० स० सा० ९।४।९७.   ४. क० स० सा० ९।४।८६.   ५. वही, ९।४।१०५–१२५.
६. वही, २।५।७०.   ७. वही ९।६।५४–७०.   ८. वही, ९।६।१४०.
"स्वर्णद्वीपं वणिज्यया" ९।६।१५७ 'तेनाब्धौ मे धनं नष्टं कृत्स्नं द्वीपान्तरार्जितम्"
९. क० स० सा० ९।१।१२०.   १०. वही, २।५।७३–८३.   ११. वही, ५।२।३५.
१२. वही, ९।१।१२८.   १३. वही, ९।२।३१९.

ईश्वर वर्मा नामक एक व्यापारी कांचनपुर[1] में उतरा था जिसकी समता सुवर्णपुर से की जाती है। समुद्र सूर नामक व्यापारी का जहाज कलसपुर[2] जाते समय टूट गया था। शम्बर सिद्धि समुद्रों के बीच घूमता हुआ मलयपुर[3] नामक महानगर में पहुँचता हैं।

सुवर्ण द्वीप—(९.६.१४०) सुवर्ण द्वीप वर्तमान सुमात्रा का ही दूसरा नाम है, जहां आठवीं सदी में शैलेन्द्र वंशी राजाओं ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो लगभग तीन सदी तक विजय शाली रहा। सोमदेव के कानों में अवश्य ही शैलेन्द्रों के यश की भनक पड़ी होगी। क्योंकि दो कहानियों में उन्होंने स्वर्णद्वीप[4] का उल्लेख किया है। टॉनी ने भी दक्षिणी एवं मध्य सुमात्रा को स्वर्ण द्वीप माना है जहाँ से सोने का निर्यात होता था[5]।

प्राचीन भारतीय तथा विदेशी साहित्य में सुवर्ण भूमि और सुवर्ण द्वीप का उल्लेख बार २ मिलता है। सर्वप्रथम हमें जातकों में सुवर्ण द्वीप का उल्लेख मिलता है। सिलोन के "महावंश" तथा "द्वीप वंश" ग्रन्थों के अनुसार बौद्ध थेरी ने सुवर्ण भूमि जाकर अपना धर्म फैलाया। सुस्सोन्दी. सुप्पारक, महाजन आदि जातकों में इसका उल्लेख है।

पुराणों में भी भारतवर्ष के बाहर एक देश का उल्लेख है जिसकी भूमि और पहाड़ सोने के थे[6]। दिव्यावदान में सुवर्ण भूमि तक पहुँचने के लिए कठिनाइयों का उल्लेख है[7]।

कटाह द्वीप—(९.६.६०) कटाह द्वीप मलय प्रायद्वीप का एक भाग था जिसे इस समय केडा कहते हैं एवं राजेन्द्र चोल के लेखों में इसे कडार कहा गया है। कुमार दास के "जानकी हरण" महाकाव्य में भी कटाह द्वीप का उल्लेख है[8]।

टॉनी ने भूल से इसकी तुलना कथेय (Cathay) से की है जो चीन का मध्यकालीन नाम था। पंजर ने भी इसे मलय द्वीपों में से एक माना हैं।[9]

नारिकेल द्वीप—(९.६.५३) नारिकेल द्वीप वर्तमान निकोबार का प्राचीन नाम था जिसे राजेन्द्र चोल के लेखों में "निकब्बरं" कहा गया है। कटाह द्वीप की यात्रा में नारिकेल द्वीप एक पड़ाव के समान था। सोमदेव ने उसका वर्णन किया है।[10] नारियल यहाँ की मुख्य उपज है।

कर्पूर द्वीप—(९.६.६१) कटाह द्वीप से आगे जिस कर्पूर द्वीप का वर्णन है वह हिन्देशिया का ही कोई द्वीप है, और सम्भव है वह वरास नामक कपूर की जन्मभूमि आजकल का वरोस नामक द्वीप हो जिसे गुप्त युग में वरुक्क द्वीप कहते थे। पेन्जर ने भी इसे ही ठीक माना है। या तो यह बोर्नियो था या सुमात्रा का वह भाग है जिसे आज वरुप कहा जाता है।[11]

---

१. वही, १०।२।७६. २. वही, ९।४।१०८. ३. वही, १८।३।७९.
४. क० स० सा० ५४–१००, ५६–६२. ५. O. Svd. IV Page 224.
६. मत्स्य, ११३,१२,४२ गरुड–५५–५ वामन १३,७,१० ७. Cowell Page 107.
८. जानकीहरण १।१७. ९. O. S. Vol. I Page 155.
१०. क० स० सा० ५४।१४–१५. ११. O. S. Vol. IV Page 224.

मलय द्वीप—(१८.३.७) कथासरित्सागर में द्वीपान्तर के मलयपुर का भी उल्लेख आया है। यहाँ के राजा की पुत्री मलयवती के साथ विक्रमादित्य ने विवाह किया। यह आधुनिक मलाया का प्राचीन नाम प्रतीत होता है।

वायु पुराण के अनुसार यहाँ सुनहरे तोरण एवं गढ़[1] थे। प्राचीन काल से ही मलाया के साथ भारत का व्यापार सम्बन्ध था। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर सुनन्दा के मुख से कलिंग राजा हेमांगद के सम्बन्ध में द्वीपान्तर (मलाया) से आई हुई लौंग के सुगन्धित वृक्ष के पवन का उल्लेख है।

सिंहल द्वीप—(११.१.५१) सिंहल द्वीप भारतीय प्रदेशों में ही गिना जाता रहा है। राजशेखर ने दक्षिण देशों में सिंहल द्वीप का उल्लेख किया है।[3] वर्तमान सिलोन को सिंहल द्वीप माना गया है। "बालरामायण" नाटक के दशम अङ्क में लङ्का विजय कर लौटते हुए राम को विभीषण कहते हैं "पश्यस्यग्रे जलधि परिखं मण्डलं सिंहलानाम्" इससे पता चलता है कि लंका से आगे कुमारी द्वीप से पहले यह कोई द्वीप था। राजशेखर ने भी सिंहल द्वीप को वर्तमान लंका से पृथक् माना है।

वराह मिहिर ने भी सिंहल द्वीप को लंका से पृथक् माना है।[4] श० सं० तं० में एक सिंहल नामक देश का वर्णन मिलता है, जो इन सबसे अलग कोई पश्चिमोत्तर प्रान्त[5] का देश विशेष था।

क० स० सा० के वर्णनों से स्पष्ट है कि यह दक्षिण की ओर ही वर्तमान लंका के समीप का ही कोई प्रसिद्ध द्वीप था। चन्द्रस्वामी कर्पूर द्वीप से सुवर्ण द्वीप एवं सुवर्ण द्वीप से सिंहल द्वीप होता हुआ अपने देश लौट आता है।

राजा विक्रम शक्ति से वर्णन करता हुआ अनंगदेव कहता है कि समुद्र मार्ग से मैं सिंहल द्वीप पहुँचा और वहाँ स्वर्ण निर्मित राजधानी देखी।[6] फ्लीट का यह अनुमान भी विचारणीय है कि सिंहल द्वीप की राजधानी लंका थी।[7]

श्वेत द्वीप—(६४.२१, १०.७.५४) श्वेत द्वीप का उल्लेख महाभारत के नारायणीय पर्व में, हर्ष चरित तथा पुराणों में मिलता है। विष्णु को श्वेत द्वीप पति[8] कहा गया है। क्षीरसागर में निवास के कारण यह एक लाक्षणिक प्रयोग है।

टॉनो ने इसे बर्फीला प्रदेश माना है।[9] वेबर ने इसे अलेक्जेन्ड्रिया में माना है। यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। जार्ज ग्रियर्सन ने इसे मध्य एशिया में माना है। रिचार्ड गार्बे का भी यही मत है।[10] इन्होंने

---

१. वायु० पु० ४८।२७।२. २. रघु० वं० ६।५७. ३. का० मी० पृ० २२६.

४. India as seen in the Brihatsanhita of Varahmihir, A. M. Shastri–Page 86.

५. २६. सं० तं०—III ७।४९.

६. क० स० सा० १८।२।९१,९२ "अगच्छं सिंहलद्वीपं वाहनेनाब्धिवर्त्मना "राजधानीं च तत्राहमपश्यं हेमनिर्मिताम्"

७. I. A. XXIX, Page 185. ८. तीर्थ चिन्तामणि, वाचस्पति मिश्र "शङ्खः कपिलश्चैव श्वेतद्वीप पतिस्तथा"

९. O. S. Vol. IV Page 185. "It is an island same as whiteman's land ice landic chronicles.

१०. Indian unddas christentum, Page 192.

वालकश झील को श्वेत द्वीप माना है। केनेडी ने इस्सीक कुल झील (Issyk kul) को, जिसके बारे में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है, श्वेत द्वीप माना है। यह वालकश झील से लगभग तीन सौ मील दूर है। दोनों ही झीलें रूस के तुर्किस्तान प्रान्त में है।

क० स० सा० में इसे पुराणों के अनुसार ही विष्णु का निवास स्थान माना गया है।[1] वा० श० अग्रवाल ने इसे क्षीरोद समुद्र के पास माना है, जिसे आजकल कास्पियन सागर कहते हैं।[2]



१. क० स० सा० ९।४।२१.   २. क० स० सा० भूमिका, पृ० २६.

पञ्चम परिच्छेद

नगर और ग्राम—

कथासरित्सागर में ग्राम एवं नगरों के विस्तृत उल्लेख से उनकी समृद्धि एवं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्था का पता चलता है। नगरों की प्रसिद्धि के कई आधार थे। धार्मिक महत्व के तीर्थस्थान नगरों में परिणत हो गये। राज्यों की राजधानियां सुन्दर एवं सुव्यवस्थित नगर में परिणत हो गईं। भौगोलिक महत्व के स्थान भी स्वभावतः नगर कहे जाने लगे। इन नगरों में किसी को राजधानी किसी को महानगरी, तथा नगरी नगर महापुर, पुर आदि कहा गया है।[1]

इनका विस्तृत विवरण वीरमित्रोदय में दिया गया है। नगर के आठ भेद बताये गये हैं। खेट, ग्राम अग्रहार, कुब्ज, दुर्ग, पत्तन, पुर तथा राजधानी ये आठ प्रकार हैं। जिसमें केवल शूद्र रहते हों वह खेट जिसमें सभी जातियां रहती हों वह ग्राम, जहाँ केवल ब्राह्मण रहते हों वह अग्रहार तथा सीमान्त नगर को कुब्ज कहा गया है। देश की रक्षा के लिए जल एवं दुर्गम वन से युक्त स्थान को दुर्ग तथा द्वीपान्तर से लाये गये वस्तुओं के क्रय विक्रय के स्थान को पत्तन माना गया है। अनेक जातियां जहाँ रहती हों तथा जुलाहों से युक्त स्थान को पुर कहा गया है। जहाँ राज महल हो, चतुरंगिणी सेना हो, अनुचरों का समूह हो तथा देवालय हों वह राजधानी कही गई है।

मथुरा[2] कौशाम्बी[3], कामन्दिका[4] आदि को महानगरी कहा गया है। श्रावस्ती[5] अयोध्या[6] आदि राजधानियां हैं। पौण्ड्रवर्द्धन[7] काम्पिल्य[8] आदि नगर हैं। ताम्रलिप्ति[9] अलका[10] आदि को नगरी कहा गया है। नागपुर[11], कुण्डिनपुर[12] आदि पुर हैं। ताम्रलिप्ति[13] मलयपुर[14] को महानगर कहा गया है। इस वर्गीकरण के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं प्रतीत होता। एक ही नगर को कभी महानगरी, कभी नगर कभी महानगर कहा गया है।

---

१. "वीरमित्रोदय" (लक्षण-प्रकाश), पृ० २४३. खेटग्रामाग्रहाराश्च कुब्जं दुर्गं च पत्तनम्।
पुरं च राजधानीति कीर्तिता अष्ठधा बुधैः॥ शूद्रैरधिष्ठितं खेटं ग्रामं शूद्रैर्द्विजोत्तमैः।
विप्रैरेवाग्रहारः स्यात् कुब्जं सीमान्तवासतः। दुर्गं देशादि रक्षार्थं जलादि वनदुर्गमम्॥
चतुरङ्गबलोपेतमगम्यं सर्वशत्रुभिः। द्वीपान्तरगत द्रव्यक्रय-विक्रयकान्वितम्॥
पत्तनं चेति विख्यातं पुरलक्षणमुच्यते। अनेकजातिसंयुक्तं तन्तुवाययुतं पुरम्॥
नृपमन्दिरसंयुक्ता चतुरङ्गबलान्विता। भृत्यैर्देवालयैर्युक्ता राजधानीति चोच्यते॥

२. क० स० सा० ३।१।८४. ३. वही, १।१।६४. ४. वही, १२।१०।१६.
५. वही, ३।१।६३. ६. वही, १२।२०।३. ७. वही, ३।४।२५४.
८. वही, ५।२।२१. ९. वही, ३।४।२९१. १०. वही, ३।५।१०४.
११. वही, १८।२।१४५. १२. वही, १४।४।००. १३. वही, १२।२६।७.
१४: वही, १८।३।७९.

नगर सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र समझे जाते थे। चन्द्रस्वामी शशि के साथ नगरवासियों की चतुराई की परीक्षा लेने पाटलिपुत्र जाता है।[1]

नगर सुनियोजित ढंग से बसाये गये थे। नगरों के कई वर्णन हमें कथासरित्सागर में मिलते हैं। पुत्रक ने पाटलिपुत्र नगर के निर्माण के लिए नक्सा बनाया[2]। नगरों के दिये गये वर्णन के आधार पर इनकी सामान्य विशेषतायें देखी जा सकती हैं।

समुचित विन्यास योजना—

नगर सुनियोजित ढंग से बसाये गये थे। राजा यशःकेतु नगर का वर्णन करता हुआ कहता है कि नगर में मणिमयस्तम्भों से युक्त, सफेद पुते हुए बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाले ऊँचे-ऊँचे भवन हैं। विविध. रत्नों एवं मणियों की सीढ़ी वाली वापिकायें हैं। बड़-बड़े वृक्षों से पूर्ण उद्यान[3] हैं।

नरवाहनदत्त ऐसे नगर में पहुँचता है जिसमें पर्वताकार अट्टालिकायें एवं गलियां हैं। चारों ओर नगर द्वार हैं एवं सुमेरु के समान सोने के राजभवन हैं। नगर पूर्णविस्तृत है। राजमार्ग विस्तृत एवं सजे हुए बाजार हैं।[4]

२. सफेद पुते भवन—नगर के भवन सफेद पुते हुए बताये गये हैं। उज्जयिनी नगरी के भवन सफेद पुते हुए हैं।[5]

३. नगर के समीप विस्तृत जलाशय एवं वापी—लगभग सभी नगरों के वर्णन में विस्तृत जलाशय एवं वापियों का उल्लेख अपरिहार्य रूप से मिलता है। "सद्रत्न बद्धसोपान वापी"[6] के बिना नगरों की शोभा कैसे सम्भव है।

४. प्राकार से परिवेष्टित—नगर की सुरक्षा के लिए चारों ओर ऊँचे प्रकार बनाकर उसे घेर दिया जाता था। उसके आगे परिघायें बनायी जाती थीं। विमलपुर के चारों ओर ऊँचे प्रकार बने हुए हैं।[7]

५. चार द्वार एवं सुरक्षाव्यवस्था—नगर में प्रवेश के लिए चारो दिशाओं में चार दरवाजे होते थे। इन्हें प्रवेश द्वार कहा जाता था। इन द्वारों पर सुदृढ़ सैनिक व्यवस्था सुरक्षा के लिए की जाती थी। मृगांकदत्त उज्जैयिनी में प्रवेश करना चाहता है। किन्तु ऊँचे प्राकारों[8] एवं सुदृढ़ सैनिक व्यवस्था[9] के कारण प्रवेश सम्भव नहीं हो पा रहा है।

---

१. वही, १८।५।१३१–"मत्वा नागरिकं क्षेत्रं तद वैदग्ध दिदृक्षया"।

२. क० स० सा० १।३।७६.	३. वही, १२।१९।९०–९३.	४. वही, ७।९।८–९.

अद्रि कूट निभाट्टाल प्रतोलीगोपुरान्वितम्। मेर्वाभ सर्वसौवर्ण राजमन्दिर राजितम्॥

नगरविपुलाभोगं भूमण्डलमिवापरम्। प्रविश्य तत्र विपणी मार्गेण........ ..॥

५. वही, ६।१।१३७.	६ क० स० सा० १२।१४।४४.

७. १५।२।३ संप्राप्तच्च सौवर्णप्रांशुप्राकार सुन्दरम्। ३।४।०४ - पिहित वारकृतप्राकर-गुप्तयः। १८।५।७२— उच्च प्राकारहारिणाम्।

८. वही १२।३५।१२ गिरीन्द्र शिखराकारः प्राकारैः परिवेष्टिताम्.

९. वही, १२।३५।११ अधिष्ठित प्रतोलीकां रक्षिभिर्विविधायुधैः

उसका मंत्री, उसे नगर के चार[1] द्वारों के बारे में बताता है।

नगर का प्रत्येक द्वार दो हजार हाथी, पच्चीस सौ घोड़े, दस लाख पैदल रक्षकों से रक्षित है। अतः प्रवेश सम्भव नहीं है। नगरों में दुर्ग[2] बने हुए थे।

६. **राजमार्ग एवं गलियां**—विस्तृत राजमार्ग एवं प्रतोली[3] आवागमन की सुविधा के लिए बने हुए थे। जिन्हें प्रतोली, प्रतोलिका[4], रथ्या[5] आदि कहा जाता था। इन पर जल छींटा जाता था। "चन्दनोदक संसिक्ताचारु रथ्याम्"।

७. **बाजार में क्रयविक्रय**—क्रयविक्रय के लिए नगर के बीच में बाजार थे।[6]

८. **सभी वर्णों के लोगों का निवास**—नगरों में सभी जातियों के लोग परस्पर सद्भावपूर्वक रहते थे। किसी के साथ जातीय आधार पर सुविधाओं में भेद नहीं किया जाता था।

प्रतिष्ठान प्रदेश के सुप्रतिष्ठित नगर में सभी व्यवसाय के एवं जातियों के लोगों का वर्णन करता हुआ काणभूति कहता है कि कहीं सामवेदी विद्वान् साम गान कर रहे हैं, कहीं शास्त्रार्थ हो रहा है, कहीं जुआड़ी डींग हाँक रहे हैं, कहीं बनियों की मण्डली है।[7]

मानसार के अनुसार नगर की परिभाषा में बताया गया है कि "जहाँ पर क्रय-विक्रय आदि विभिन्न व्यवहार सम्पन्न होते हैं, अनेक जातियों एवं परिवारों के लोग निवास करते हैं, विभिन्न श्रेणियों के कर्मकार बसते हों और जहाँ सभी धर्मावलम्बियों के धर्मायतन हों, वह नगर है।"[8]

नगर के प्रारम्भ में ही शिव मन्दिर बने हुए बताये गये हैं। अन्य देवताओं के मन्दिरों की अपेक्षा शिव मन्दिरों की अधिकता है।

कुछ बौद्ध विहार भी बने हुए थे जिनमें बौद्ध भिक्षु निवास किया करते थे।[9]

स्थान-स्थान पर धर्मशालायें थीं जिन्हें सत्रवाह[10] कहा जाता था। मनोरंजन के लिए देवकुल[11] बनाये गये थे।

ईश्वर वर्मा कांचनपुर नगर में एक देवकुल में जाता है, जहाँ सुन्दर वेश्या का नृत्य हो रहा है।

नगरोद्यान[12] एवं क्रीड़ोद्यान भी मनोरंजन के स्थल थे। नगर के भवनों के भी नाम रखे गये थे। भूगर्भ भवनों से युक्त भवन का नाम "पाताल वसति"[13] रखा गया।

---

१. वही, १२।३५।२३ एकैकस्मिन् नगर्यां हि द्वारेष्वस्यां चतुर्ष्वपि. २. वही—१८।१७७.
३. क० स० सा० १८।५।७६. ४. वही, १२।३५।११. ५. वही, ८।१।७५.
६. वही, १।६।२७. ७. वही, १।६।२५–२७, "क्वचित् सामानि छन्दोगा गायन्ति यथाविधः".
८. मानसार, अध्याय (१० नगरविधान), जनैः परिवृत्तं द्रव्यक्रयविक्रयकादिभिः। अनेक जातिसंयुक्तं कर्मकारैः समन्वितम्। सर्वदेवतसंयुक्तनगरं चाभिधीयते। ९. क० स० सा० ६।१।२०.
१०. क० स० सा० ४।१।७१. ११ वही, १०।१।७३. १२. वही, १८।४।२६२, ६।२।५८.
१३. वही, ८।६।२३४.

६

निवासकोट्ट[१], कोट्ट[२], कटक[३], वातायन युक्त हर्म्य[४], दुर्ग[५] आदि नगर के प्रमुख भवनों में थे। भवन के लिए कटक शब्द का प्रयोग महाभारत में भी हुआ है।[६]

कथासरित्सागर में नगरों के पुर कूट, शृंग, वती आदि शब्द अन्त में जोड कर बनाये गये हैं।

पुर—मुक्तापुर, शैलपुर कूट—वज्रकूट, चित्रकूट
वती—इरावती, पुष्करावती शृंग—वेदूर्गशृंग, कांचनशृंग

राजाओं के नाम पर भी नगरों के नाम रखे गये हैं। चिरायु नामक राजा के नाम पर चिरायुनगर[७] कहा गया।

ग्राम :

कथासरित्सागर में नगरों की अपेक्षा ग्रामों की संख्या अत्यल्प है। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं है। ग्राम[८], पल्ली[९], भिल्लपल्ली[१०], एवं अग्रहार[११] शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है।

गाँवों में रहनेवाले ग्राम्य कहे जाते थे एवं नागरिकों की अपेक्षा वे कम सुसंस्कृत[१२] समझे जाते थे। कुछ ग्राम भी नगरों से कम प्रसिद्ध नहीं थे। लावाणक ग्राम[१३], नन्दिग्राम[१४] आदि ऐसे ही ग्राम हैं। इनमें सभी वर्णों के लोगों का निवास था। पहले ग्राम शब्द से नगरों का भी बोध होता था। जैसे वाहीक ग्राम।[१५] पतंजलि ने जनसंख्या के आधार पर ग्राम, घोष, नगर एवं संवाह का भेद किया।[१६] किन्तु कथासरित्सागर के समय तक इनमें स्पष्ट भेद माना जा चुका था। इनमें संकलित अधिकतर मूर्खों की कथायें ग्राम की ही बतायी गई हैं।

ग्राम के लिए "पल्ली" शब्द का प्रयोग कथासरित्सागर में अधिक हुआ है। शवरों, किरातों की निवासभूमि पल्ली कही जाती थी। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इसके निवास स्थान को पल्ली कहा गया है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार "स्वल्पग्राम" पल्ली कहे जाते थे। जिस प्रकार अहीरों की वस्ती को पाणिनि ने घोष[१७] कहा है उसी प्रकार भिल्ल, शवर, किरात आदि जंगली जातियों की निवासभूमि पल्ली कही जाती थी। कभी-कभी नगर भेद के लिए भी पल्ली शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे त्रिचनापल्ली। किन्तु क० स० सागर में भिल्ल आदि जातियों की भूमि को ही पल्ली कहा गया है।

---

१. वही, १२।३५।३३ २. वही, १२।३५।५५. ३. वही, १८।१।७७.
४. वही, १२।३६।१६३. ५. वही, ९।४।४५.
६. महाभा० ४।२४।१२ जनाकीर्णेषु देशेषु कटकेषु परेषु च। ७. वही, ७।७।९.
८. क० स० सा० १७।४।२१२ निर्गत्य योगिनीग्राम..., नाम्ना मदग्रहारश्च ग्रामोऽयं निर्वतोभव ८।६।२००.
९. वही, २।५।४३. १०. वही, २।५।४३. ११. वही, ५।२।७४, ९।६।७४.
१२. १८।५।१३९ यूयं ग्राम्याः पुनर्मूर्खा नाभिप्रायं विदन्ति यत् १३. वही ३।१।११९.
१४. वही, १२।२५।११९. १५. प० का० भारत, पृ० ७७ १६. भाष्य ७।३।१४.
१७. अष्टाध्यायी ६।२।८५.

राजाओं के द्वारा ब्राह्मणों को बसने के लिए दी गई भूमि अग्रहार कही जाती थी। ऐसे गावों को अग्रहार[1] ही कहा गया है। एक जगह अग्रहार, ग्राम एवं नगर तीनों की चर्चा एक साथ की गई है। "ततोऽग्रहारान् ग्रामांश्च चिन्वन् स नगराणि च" इस प्रकार दान दी गई भूमि पर ब्राह्मणों के जो बड़े गांव बस गये थे, उन्हें 'महाग्रहार'[3] कहा गया है।

कथासरित्सागर में उल्लिखित नगर :

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कथासरित्सागर में अनेक पौराणिक नगरों के नाम आये हैं। उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

कोशाम्बी (१. २. ३०)—कथासरित्सागर में कोशाम्बी का नाम निर्देश सर्वाधिक हुआ है। इसे "महानगरी"[4] शब्द से सम्बोधित किया गया है। पेन्जर के अनुसार हस्तिनापुर के बाद कोशाम्बी ही भारतीय राजाओं की राजधानी बनी। इस स्थान का ठीक-ठीक पता तो नहीं चल सका है, किन्तु इतना निश्चित है कि वह दोआब अथवा यमुना के पश्चिमी तट पर विन्ध्य पर्वत के समीप ही था। जिसकी सीमा मगध से मिली हुई थी। इलाहाबाद से चौदह मील पश्चिम कराली नामक स्थान पर मिले अवशेषों से इस स्थान का निश्चय होता है।"[5]

कनिंघम ने इस पर विस्तार से विचार किया है। ब्राह्मणों में, बौद्धजातकों में एवं महाभारत में इस नगर का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार अर्जुन के बाद आठवीं पीढ़ी में राजा चक्र ने हस्तिनापुर के बाद कोशाम्बी को राजधानी बनायी। इन्होंने इलाहाबाद के समीप "कौसम" ग्राम को ही प्राचीन कोशाम्बी माना है।[6] प्रमाणों के आधार पर यही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

उज्जयिनी (१. २. ८)—यह अवन्ति या पश्चिमी मालवा प्रदेश की राजधानी थी और चर्मण्वती की सहायक नदी शिप्रा के तट पर बसी थी। कालिदास आदि ने इसकी पर्याप्त चर्चा की है। यह आज भी वर्तमान है। कथासरित्सागर में भी इस नगर को विक्रम क्षेत्र कहा गया है।[7]

पाटलिपुत्र (१. ३. ३.)—मगध साम्राज्य की प्रसिद्ध राजधानी आज भी पटना के नाम से प्रसिद्ध है। प्रारम्भ में यह मगध का एक सामान्य ग्राम था जिसे पाटलिग्राम कहा जाता था। राजगृह से वैशाली जानेवाले मुख्य मार्ग पर यह पड़ाव का गाँव था। ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार इसकी नींव अजातशत्रु के शुनीध और वर्षकार नामक दो मन्त्रियों द्वारा इसमें दुर्ग बनाये जाने के क्रम में पड़ी।[8]

किन्तु कथासरित्सागर में इसके निर्माण की अलग ही एक कथा दी गई है। इसे लक्ष्मी एवं सरस्वती का क्षेत्र कहा गया है।[9] राजा पुत्रक ने अपनी पत्नी "पाटलि" के नाम पर इस नगर को बसाया।[10] तक्षशिला के समान यह भी प्रसिद्ध विद्या केन्द्र था।[11] काव्यमीमांसा में दिये गये विवरण

---

१. क० स० सा० ९।६।७४. २. वही, ८।६।२०. ३. वही, ५।२।७४
४. वही, १।१।६४. ५. ओ० एस० ७, पेज ७. ६. Anc. Geo. India, Page. 330.
७. क० स० सा० १०।१०।१० आगतोऽहं सखे विद्याक्षेत्रात् पाटलिपुत्रकात्"
८. सु भङ्गनाविलासिनी—२।५।४०. ९. वही, १।३।३. १०. वही, १।४।७८.
११. काव्यमीमांसा, पृ० १३५ : श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार परीक्षा।

कथासरित्सागर से ही लिये गये प्रतीत होते हैं। कथासरित्सागर के अनुसार उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पंतजलि का, जिनकी परीक्षा की चर्चा काव्यमीमांसा में की गई है, पाटलिपुत्र कार्य-क्षेत्र था।

मथुरा (३.१.८४)—इस प्राचीन महानगरी की चर्चा भी इस ग्रन्थ में कई बार की गई है। कभी इसे नगरी[1], कभी महानगरी[2] कहा गया है। इसे बड़ा ही समृद्ध नगर बताया गया है। भगवान् कृष्ण की यह राजधानी महाभारत एवं पुराणों में प्रसिद्ध है।

अयोध्या –(१.४.४७)—यह पौराणिक नगर राजधानी[3] के रूप में चित्रित की गई है। वर्तमान उत्तर प्रदेश में सरयू के तट पर बसी हुई उत्तर कोशल की प्राचीनतम राजधानी अयोध्या प्रसिद्ध है। यह प्रसिद्ध तीर्थों में एक है।

श्रावस्ती—(३.१.६४)—रघुवंश[4] के अनुसार रामपुत्र लव की यह राजधानी थी। रामायण में भी इसे लव की राजधानी बतायी गई है—"श्रावस्तीति पुरी रम्या, श्राविता च लवस्य च"[5]। लव ने उत्तर कोशल पर राज्य किया था। इस प्रकार यह उत्तर कोशल की राजधानी थी। यह सम्पूर्ण क्षेत्र आज के गोंडा और बहराइच जिले की सीमा पर स्थित था।

यह बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था। बुद्धघोष के अनुसार 'सवत्थ" अर्थात् "ऋषियों की निवास-भूमि के कारण इसका नाम श्रावस्ती पड़ा। जातकों के अनुसार आवश्यकता की सारी चीजों के यहाँ मिलने से इसका नाम श्रावस्ती पड़ा। (सर्वम् अस्ति > सब्बम् अत्थि सावत्थी > श्रावस्ती)

पुराणों[6] के अनुसार इस नगर का निर्माण राजा श्रावस्त ने कराया। महाभारत[7] के अनुसार श्रव के पुत्र श्रावस्तक ने इसे बसाया।

सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में श्रावस्ती का उल्लेल मिलता है। जैन साहित्य में भी सावत्थी (आवस्ती) का निर्देश हुआ है। फाहियान एवं ह्वेनसांग ने इस नगर का वर्णन किया है। ह्वेनसांग के समय तक यह नगर ध्वस्त हो चुका था। उसने ध्वस्त विहारों में हजारों बौद्धों को रहते देखा था।[8]

ताम्रलिप्ति—(२.५.५४)—क० स० सा० में इस नगरी के विस्तृत उल्लेख से इसकी प्रसिद्धि स्पष्ट है। यह पूर्वी समुद्रतट का प्रसिद्ध बन्दरगाह था जहाँ से द्वीपान्तरों की यात्रा प्रारम्भ होती थी। इसे पूर्वी समुद्र तट पर स्थित बताया गया है।[9] राजशेखर[10] ने भी पूर्व के देशों में तामलिप्तक की गणना की है। यह बंगाल के मीदनापुर और कलना जिले में स्थित आज का तामुलुक नगर है। रघुवंश[11] के अनुसार यह कपिशा नदी के किनारे बसा हुआ बताया गया है। पार्जिटर ने मीदनापुर से होकर बहने वाली कसाय नदी को कपिशा माना है। इस नगर का उल्लेख महाभारत[12] में भी है।

---

१. क० स० सा० २।४।७८. २. वही, ३।१।८४. ३. वही, १२।२०।३. ४. रघुवं० १५।९७
५. रामा० ४. ६. विष्णु पु० ५।४, भाष्य—१२।३०.
७. महाभा० वनप० २०१–३४. ८. Hist. Geo. Ancient. India, Page 126.
९. पूर्वाम्बुधेरदूरस्थां नगरीं ताम्रलिप्तिकाम् ३।४।२९१ अस्तीह ताम्रलिप्तीति पुरी पूर्वाम्बुधेस्तटे १२।१४।३.
१०. का० मी०, पृ० २२६. ११. रघुवंश चतुर्थ सर्ग ३८. १२. महाभा० सभा प० २९।१०९४–११००.

महावंश के अनुसार[1] अशोक के द्वारा भेजे गये धर्मप्रचारकों की लंका यात्रा यहीं से प्रारंभ हुई थी। बी० सी० ला ने लिखा है "कथासरित्सागर में प्राप्त विवरणों से स्पष्ट है कि ताम्रलिप्ति ४ थी से १२ वीं शताब्दी तक प्रमुख व्यापार केन्द्र एवं बन्दरगाह था।[2]

प्रतिष्ठान—(१.६.८३)—कथासरित्सागर के अनुसार यह दक्षिणी भारत का प्रसिद्ध नगर था—"अस्ति नाम्ना प्रतिष्ठानं नगरं दक्षिणापथे"।[3] यह हैदराबाद के औरंगाबाद जिले में गोदावरी के किनारे स्थित आज का पैथन है, जो शालिवाहन अथवा सातवाहन की राजधानी थी।[4] टॉलेमी ने सिरीपोलेमाई (Siripocemaios) की राजधानी पेथन बताया है। डा० रोप्ट के अनुसार यह आन्ध्र का पुलमाई था, जिसने १३० ई० में शालिवाहन को हराकर प्रतिष्ठान पर शासन किया। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार अश्मक की राजधानी प्रतिष्ठान नगर था, जो गोदावरी के किनारे बसा था।[5]

वलभी—(६.३.८३)—यह गुजरात का प्रसिद्ध नगर है जहाँ शिलादित्य नामक राजा ने राज्य किया था। इस नगर के अवशेष भावनगर में मिले हैं। शिलालेखों में इसे वलभद्र का सुन्दर राज्य कहा है। जनभाषा में यह वलभी ही कहा जाता था। ह्वेनसांग ने इसे कलपी कहा है।

तक्षशिला—(६.१.१०, ६.२.१०) प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र तक्षशिला का कई बार उल्लेख किया गया है। इसे कश्मीर में वितस्ता नदी के किनारे बताया गया है।[6] यह गान्धार राज्य की राजधानी थी। पाणिनि[7] एवं पतंजलि[8] ने भी इसका उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेख में इसकी चर्चा है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने यहां भ्रमण किया था। बौद्ध जातकों में इसकी पर्याप्त चर्चा है।

यह पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में स्थित वर्तमान तक्षशिला है। दिव्यावदान माला[9] के अनुसार एक भिक्षुक ब्राह्मण के द्वारा राजा चन्द्रप्रभ के शिरच्छेद के कारण इसे तक्षशिला कहा गया। फाहियान ने इसे चुशा–शि० लो० (Chu-Sha-Shico) कहा है। निश्चय ही इसका संस्कृतरूप च्युतशिर रहा होगा।

वर्धमान नगर—(७.५.३)—आज का बंगाल प्रदेश का वर्दवान प्राचीन वर्धमान नगर था।

पोण्ड्रवर्धन—(३.४.२४४)—कथासरित्सागर के अनुसार पोण्ड्रवर्धन नगर पूर्व दिशा में स्थित था।[10] पौण्ड्र लोगों की चर्चा महाभारत में भी है। इन्हें वंग एवं किरातों के साथ गिना गया है।[11]

---

१. महावंश ११।३८.

२. Hist. Geo. Anci. Andi. B. C. Law, Page 263. "According to Kathasaritsagar (ch. 14) Tamralipti was a verilim post and an emporium of commerce from 4th to the 12th century A. D.

३. क० स० सा० ९।१।११७.

४. O. S., Page 60.

५. पा० का० भा०, पृ० ४०.

६. क० स० सा० ६।१।१० : आसीत् तक्षशिला नाम वितस्ता पुलिनेपुरी.

७. अष्टाध्यायी—४-३-९३.

८. महाभा० १'३'१

९. दिव्यावदानमाला, पृ० ३१०.

१०. क० स० सा० ३।४।२५४. गच्छन्हरहः प्राच्यां दिशि प्राप स च क्रमात्। मध्ये मार्गवशायातं नगरं पौण्ड्रवर्धनम्।

११. महाभा० सभाप० १३।५८४.

उत्तरी बंगाल का यह हिस्सा जिसे पौण्ड्रवर्धन कहा जाता था, बहुत दिनों तक गुप्त साम्राज्य का अंग था।[1] ह्वेनसांग ने इसे पुन-ना फ-तन-ना (Pun-na-pa-tan-na) कहा है। पार्जिटर के अनुसार वर्तमान संथाल परगना, वीरभूम एवं हजारीबाग का उत्तरी हिस्सा पौण्ड्रों के अधीन था।

कनिंघम के अनुसार वर्तमान महास्थान अथवा महास्थानगढ़, जो बोगरा शहर से सात मील की दूरी पर है प्राचीन पौण्ड्रवर्धन नगर था। करतोया नदी इसे आसाम के कामरूप अथवा प्राग्ज्योतिषपुर से अलग करती थी।

ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में "प्राज्योतिपाश्च पौण्ड्राश्च" पाठ मिलता है। डी० सी० सरकार[2] ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

कुण्डिनपुर—(६.१.१०६)—कथासरित्सागर के अनुसार विदर्भदेश में कुण्डिनपुर नगर की स्थिति बताई गई है।[3] मालतीमाधव नाटक में भी माधव विदर्भ के कुण्डिनपुर में भेजा जाता है।

विदर्भ प्रान्त वरदा नदी के दोनों ओर था। इसकी प्राचीन राजधानी कुण्डिनपुर थी। इसका वर्तमान नाम कोण्डिन्यपुर है, जो वरार के अमरावती जिले के चन्दूर तालुका में है। डी० सी० सरकार ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[4]

शाकलपुर—(८. १. ६६, ८. १. १७)—क० स० सा० के अनुसार मद्र देश में शाकल नामक नगर था।[5] इसे शागल भी कहा जाता था। यह मद्र देश की राजधानी थी। यह रावी या इरावती के पश्चिम में अपगा[6] नदी के किनारे जिसे अब अपक कहते हैं, स्थित था। महाभारत में इसे शमी, पीलू और करीलों के वन के बीच बसा बताया गया है। आज स्यालकोट जो पंजाब में है, प्राचीन शाकलपुर था। कनिंघम ने शांगलावाला टीबा के ध्वंसावशेषों को शाकल माना है।[7]

काम्पिल्य—(५. २. २१.)—महाभारत के अनुसार यह दक्षिणी पांचाल की राजधानी थी।[8] रामायण ने इसे स्वर्ग के समान लिखा है।[9] बदायूं एवं फरूखाबाद के बीच में स्थित वर्तमान कम्पिल प्राचीन काम्पिल्य था। नन्दलाल डे के अनुसार यह फरुखाबाद जिले में है।[10]

द्रौपदी का स्वयंवर इसी नगर में हुआ था। इस प्रकार सुदूर अतीत से ही यह नगर प्रसिद्ध रहा है।

हस्तिनापुर—(६. ४. १७५)—महाभारत का प्रसिद्ध नगर हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र की राजधानी थी। महाभारत के अनुसार सुहोत्र के पुत्र राजा हस्ती ने इसे बसाया था। इसीलिए इसका नाम

---

१. Ray Chaudhary-Pol. hist. of Ancl. India, P. 456-57.

२. D. C. Sircar-Geog. of Ancient and Medeaval India, Page 28.

३. विदर्भेष्वपि नगरं श्रीमत्कुण्डिनसञ्ज्ञकम्—क० स० सा० ९.५.५६.।

४. Studies in Geo, Page 153.

५. क० स० सा० ८।१।१७—शाकलं नाम मद्रेषु बभूव नगरं पुरा

६. शमीपीलुकरीणां वनेषु सुखवर्त्मसु—शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा—महाभारत कर्ण प०, अ० ४४-१०.

७. Ancient Geo. India—Page 206.

८. २१३८, ७३-७४.

९. रामा० आदि० सर्ग ३३, श्लो० १९.

१०. Geo. Dist. P. 88.

हस्तिनापुर पड़ा।[१] मेरठ जिले के वर्तमान नगर भवाना को प्राचीन हस्तिनापुर माना गया है।[२]

अलका—(३. ४. १०७, १२. ३४. ४१)—कथासरित्सागर के अनुसार हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में अलका नाम की नगरी है।[३] इसे कुवेर की राजधानी बताई गई है। महाकवि कालिदास के अनुसार भी अलका हिमालय की गोद में वसी है।[४] पं० सूर्यनारायण व्यास ने मेघदूत के अध्ययन के आधार पर अलका को जावालिपुर अर्थात् जोधपुर से ७० मील दक्षिण में माना है।[५]

गोकर्णनगर—(६०. ७. २५)—कथासरित्सागर के अनुसार इस नगर की स्थिति दक्षिण में मानी गई है।[६] यह मैसूर के कन्नड़ जिले के दक्षिणी भाग में स्थित वर्तमान गोकर्ण नामक गाँव ही प्राचीन गोकर्ण नगर था। रामायण के अनुसार भगीरथ ने पुत्र की कामना से यहाँ तप किया था।[७] पुराणों में भी इसे बड़ा ही पवित्र नगर माना गया है।

अहिच्छत्र—(६. २. ११९)—यह उत्तरी पांचाल की राजधानी थी।[८] महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है।[९] यह उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। प्रयाग के समुद्रगुप्त वाले शिलालेख में जिस शक्तिशाली राजा अच्युत का नाम आया है, उसके सिक्के भी अहिच्छत्र में मिले हैं। अहिच्छत्र को कहीं-कहीं अहिक्षेत्र भी लिखा गया है। यह रूप टालेमी के अदिसद्र से भी मिलता है।[१०] हरिवंश पुराण के अनुसार अर्जुन ने यह नगर द्रोणाचार्य को दिया था। एकबार पार्श्वनाथ इस नगर में भ्रमण कर रहे थे। तभी कमठासुर ने ईर्ष्यावश भारी वर्षा से सारा नगर जलमग्न कर दिया। पार्श्वनाथ भी आकण्ठ जलमग्न हो गये। तब नागराज ने रानियों सहित उनपर फनों का छत्र लगा दिया। तबसे इस नगर को अहिच्छत्र कहा जाने लगा। चीनी यात्री ह्वेनसांग के समय तक यह नगर महत्वपूर्ण था।

कांची—(८. १. ४४)—क० स० सा० में इसे बड़ा ही सम्पन्न एवं विशाल नगर बताया गया है। पृथ्वीरूपी वधू की करधनी है।[११] पर्वताकार विशाल भवन हैं, उन्नत राजमार्ग हैं। इसे समुद्र तट पर बसा हुआ बताया गया है।[१२] यह बड़ाही प्रचीन तीर्थस्थान है। भागवतपुराण में भी इसका उल्लेख है।[१३] पतंजलि के महाभाष्य[१४] एवं योगिनी तन्त्र[१५] में भी इसकी चर्चा है। इसका वर्तमान नाम कांजीवरम् है। यह मद्रास से ४३ मील की दूरी पर पलार नदी के किनारे बसा हुआ है।[१६] इसके पश्चिमी

---

१. महाभा० आदि० प० ९५।३४।२४३. २. कनिंघम—ए० जी० आइ०, पृ० ७०२.

३. क० स० सा० ३।५।१०७ ततः कुवेरतिलकामलकासङ्गशंसिनीम्। ४. मेघदूत—श्लो० ५–७.

५. विश्वकवि कालिदास : एक अध्ययन, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, पृ० ७६८.

६. क० स० सा० ६।७।२५—अभूद्दक्षिणभूमौ प्राग्गोकर्णाख्येपुरे नृपः।

७. रामा० आदिका०, सर्ग ४८, श्लोक० १२. ८. Ancient India. Page 167.

९. महा० आदि० १४०. १०. Macrindel India as described by Ptalemy, Page 134.

११. अस्ति काञ्चीति नगरी गरीयोगुणगुम्फिता। काञ्चीव वसुधावध्वाः सदलङ्कृतितां गता ॥—क०स०सा०७।९।२०.

१२. क० स० सा० ७।९।८–९. १३. भा० पु० स० ११०, ७९, १४. १४. महाभा० अ० २, पृ० २९८.

१५. योगिनी तं० अ० १, श्लो० १७. १६. कनिंघम, पृ० ४६२.

एवं पूर्वी भाग को क्रमशः शिवकांची एवं विष्णुकांची कहा जाता है। यहाँ का कामाक्षी मन्दिर आज भी बहुत प्रसिद्ध है। यह प्राचीन द्रविड़ प्रदेश की राजधानी थी।

विशालापुरी—(क० स० सा० १२. २८. ३)—क० स० सा० के अनुसार यह पुरी पृथ्वी का स्वर्ग है।[1] यह अवन्ति जनपद की प्रधान नगरी है। कालिदास ने भी "श्रीविशालां विशालां" कह कर इसकी प्रशंसा की है।

गंगाद्वार—(१. ३. १०)—वर्तमान हरिद्वार को ही गंगाद्वार कहा गया है। महाभारत में इसे गंगाद्वार ही कहा गया है। मैत्रेय ने विदुर को यहीं श्रीमद्भागवत का पाठ सुनाया था। यह उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में हैं। ह्वेनसांग ने इसे मोपुलो अथवा मयूर कहा है। इसे मायापुर भी कहा जाता था। कनिंघम के अनुसार मयूरों की अधिकता के कारण इसे मयूरपुर भी कहा जाना सम्भव है।

कनखल–(१. ३. ४)—यह हरिद्वार से दो मील पर स्थित है। पुराणों के अनुसार दक्ष यज्ञ यहीं हुआ था। महाभारत के अनुसार यह पवित्र तीर्थ है।[2]

राजगृह—(१. ३. ७) यह मगध की प्राचीन राजधानी है। अजातशत्रु के पिता बिम्बिसार ने इसे बसाया था, जो बुद्ध के समकालीन थे। अतः यह ईसा के ५०० वर्ष पूर्व बसाई गयी होगी। ह्वेनसांग के समय तक इस नगर का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। क० स० सा० के अनुसार यह प्रसिद्ध विद्या केन्द्र था।[3]

विदिशा—(१२. ४. ७२)—यह भोपाल के समीप वेतवा (वेत्रवती)[4] के किनारे स्थित वर्तमान वेसनगर है, जिसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। पुराणों के अनुसार भी विदिशा वेत्रवती नदी के किनारे बसी थी जो पारिपात्र पर्वत से निकली है।[5] यह मालवा की राजधानी थी। कादम्बरी के अनुसार शक्तिशाली राजा शूद्रक ने यहाँ राज्य किया। मेघदूत के अनुसार यह दशार्ण जनपद की राजधानी थी।[6] यहाँ बौद्धों का प्रधान धर्म केन्द्र था। प्रसिद्ध सांची स्तूप यहाँ है।

पुष्करावती—(६. २. १२)—यह गान्धार की प्राचीन राजधानी सिन्धु नदी के किनारे बसी थी। यह वर्तमान चारसद है जो स्वेत एवं काबुल नदी के संगम पर स्थित है।[7] यह नगरी भरतपुत्र पुष्कर के द्वारा बसाई गई थी।

कथासरित्सागर में वाराणसी,[8] प्रयाग,[9] चित्रकूट,[10] गया[11] आदि प्रमुख तीर्थों का भी उल्लेख सर्वत्र है। इन प्रसिद्ध नगरों की स्थिति विदित ही है।

---

१. क० स० सा० १२.२८.३—

अस्ति शक्रपुरीवान्या छाया सुकृतिनां कृते। दिवश्च्युतानां विहिता विशालाख्यापुरी भुवि॥

२. महाभारत, वनपर्व ८४।३०.

३. स्थानं राजगृहं नाम जग्मुर्विद्यार्जनेच्छया–क० स० सा० १. ३. ४.

४. मे० दू० ५ मे० २५

५. Law—geo of early Buddhism, Page 3.

६. वासुदेव शरण अग्रवाल : ज्योग्रफिकल डाटा इन पाणिनि अष्टाध्यायी जे० बी० पी० एच० सोसाइटी, वोल्यूम १६, पार्ट १, पृ० १८.

७. क० स० सा० ५।२।७९.

८. वही, १२।२६।८०.

९. वही, ७।१।३२.

१०. वही, १२।२६।८४.

हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में बहुत से नगरों की स्थिति बतायी गई है। किन्तु उनकी पहचान आज सम्भव नहीं है। उनमें कुछ के नाम इस प्रकार है :—

[1]शैलपुर, [2]मुक्तापुर, [3]विद्याधरनगर, [4]वज्रकूटनगर, [5]त्रिकूट पताका, [6]कंचनशृंग, [7]धूमपुर, [8]विलासपुर, [9]हर्षपुर, [10]कलशपुर, [11]कौतुकपुर, [12]चिरपुर, [13]कनकपुर, [14]शंखपुर, [15]अषाढ़पुर, [16]वैदूर्यशृंगनगर, [17]सुरपुर, [18]धवलपुर, [19]रत्नाकरनगर, [20]वज्रकूट, [21]लम्बानयरी, [22]अचलपुर, [23]भीमपुर।

समुद्र के किनारे बसे कुछ नगर निम्न थे—

[24]सागरपुर, [25]वक्रोलकपुर

कुछ ग्रामों के नाम इस प्रकार हैं :—

[26]वहुसुवर्ण ग्राम, [27]कलाप ग्राम, [28]वक्रीलक ग्राम, [29]लावाणक ग्राम, [30]नन्दिग्राम, [31]वसुमति ग्राम।



१. वही, ७. ८. १२५.
२. वही, ७८. १९८.
३. वही, ७. ८. २१८.
४. वही, ८. १. ५.
५. वही, ८. ३. १५३.
६. वही, ७. १. २१.
७. वही, ७. ५. ८४.
८. वही, ७. ६. ४२.
९. वही, ९. ४. ९८.
१०. वही, ९. ४. १०८.
११. वही, ९. ४. १५२.
१२. वही, ९. ५. १३.
१३. वही, ९. ५. २६.
१४. वही, १३. १. ८४.
१५. वही, १४. १. ६४.
१६. वही, १०.७ ५७.
१७. वही, ९. ६. ८०.
१८. वही, ९. ६. १४०.
१९. वही, १०. ३. ९५.
२०. वही, १०. ९. २४२.
२१. वही, ११. १. ३६.
२२. वही, १३. १. १४९.
२३. वही, १८. ४. २२८.
२४. वही, ९. २. ३१९.
२५. वही, १४. ४. २३.
२६. वही, ग्राम १. ७. ४१.
२७. वही, ८. ४. ३६.
२८. वही, १२. ९. १६.
२९. वही, ३. १. ११९.
३०. वही, १२. ३५. ११९.
३१. वही, १४. ४. ४०.

षष्ठ परिच्छेद

पर्वत, नदियाँ और वन प्रदेश

किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास में प्राकृतिक भूगोल का कम योग नहीं रहता। यदि हिमालय न होता तो भारत का नक्शा ही कुछ और होता। आचार-विचार रहन-सहन, खान-पान एवं आर्थिक जीवन इनसे अत्यधिक प्रभावित होते हैं। पर्वतीय प्रदेशों के निवासी कठोर श्रमशील होते हैं। नदियों के समीप रहनेवाले व्यावसायिक कारणों से आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं। शारीरिक गठन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है।

पर्वत—हिमालय, विद्याधरों की निवास भूमि है। कथासरित्सागर में मुख्यतः विद्याधरों का चरित्रवर्णन होने से, सम्पूर्ण हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र का विशद उल्लेख किया गया है। हिमालय की विभिन्न चोटियों एवं उन पर बसे नगरों की विस्तृत सूची दी गई है। विन्ध्य पर्वत की भी कम चर्चा नहीं है। अन्य पौराणिक पर्वतों का भी उल्लेख है। विष्णु पुराण के अनुसार सात कुल पर्वत हैं। राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में उनकी गणना की है। कुमारी द्वीप में सात कुल पर्वत बताये गये हैं। विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, अक्ष, महेन्द्र सह्य और मलय, ये सात कुलाचल हैं[1]।

कथासरित्सागर में भी कुलाचलों की चर्चा है[2]। गणेश की स्तुति में कहा गया है कि कर्णताल के प्रवल आघातों से कुलपर्वतों को एक ओर करके सफलता का मार्ग प्रदर्शन करनेवाले विघ्नराज गणेश की जय हो[3]। इस प्रकार कुलाचलों में महेन्द्र, मलय, विन्ध्य, अक्ष पर्वतों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है। हिमालय को उत्तर एवं दक्षिण दो भागों में बांटा गया है। इसमें वहुत सी पर्वत मालायें हैं। कैलाश उत्तरी भाग में है[4]। पर्वतराज हिमालय तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। अनेक शिखरों वाले उस हिमालय का, चमकती हुई प्रभा से शोभित तथा चन्द्रमा से चमकता हुआ एक वड़ा शिखर है, जिसका विस्तार आकाश के समान असीम और अनन्त है। इस पर्वत की स्थली वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर करनेवाली तथा शिव की कृपा से प्राप्त होनेवाली औपधियों और सिद्धियों का कोप हैं[5]।

प्राप्त पर्वतों का विवरण इस प्रकार है :—

हिमवत् (१.१.१३.)—कथासरित्सागर में इसे सभी कुलाचलों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। यह गिरीन्द्रों का चक्रवर्ती है[6]। यह भारत की प्राकृतिक उत्तरी सीमा है। कालिदास ने इसे पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ बताया है[7]। मार्कण्डेय पुराण में इसे धनुष की प्रत्यंचा के समान बताया गया

---

१. का० मी० रा० शे०, पृ० २२४. विन्ध्यश्च पारियात्रश्च शुक्तिमानृक्षपर्वतः। महेन्द्रसह्यमलया सप्तैते कुलपर्वताः॥
२. वि० पु० २।३।३. ३. क० स० सा० ४।१।१ कर्णतालबलाघातसीमन्तितकुलाचलः।
४. क० स० सा० १४।३।६६. उत्तरो दक्षिणश्चैव नाना तच्छृङ्ग भूमिगो। परतः किल कैलासादुत्तरोऽर्वाक् तु दक्षिणः॥
५. वही, ७।१।१७–१९. ६. वही, १।१।१२ चक्रवर्ती गिरीन्द्राणां हिमवानिति विश्रुतः।
७. कु० स० १।१।६ मा० पु० एल० भी० ११५९ हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणाः।

हैं[१]। टालेमी ने इमाको (हिमवत्) से, कौआ (काबुल) सोस्टोस (स्वाट) सिन्धु, गंगा और अन्य नदियों का उद्‌गम बताया है। पार्जिटर के अनुसार हिमालय की श्रेणी में ही सुलेमान आदि पर्वत थे उसके, हिमालय, हिमगिरि, हिमाद्रि, हिमकूट आदि बहुत से नाम हैं। इसका सर्वोच्च शिखर कैलाश है जिसका आकार शिवलिंग के समान है। प्रसिद्ध मानसरोवर झील इसी में है।

कैलाश (१.१.१५.)—हिमालय का यह उत्तुङ्ग शिखर पर्वत के उत्तरी भाग में स्थित है। कथासरित्सागर के अनुसार इसका विस्तार योजनों में है[१]। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इसका विशद वर्णन है। इसकी ऊँचाई २२,३०० फीट है। तिब्बत में यह कनग्रीन्गोच के नाम से पुकारा जाता है। मत्स्य पुराण के अनुसार यह हिमालय की पृष्ठ भूमि में स्थित है[२]।

उदयाचल (२.४.२३४)—पौराणिक आख्यानों के अनुसार जिस पर्वत से सूर्य का उदय हो उसे उदयाचल कहा जाता है। इसे पूर्व दिशा में बताया गया है। क० स० सा० के अनुसार पूर्वी समुद्र पार करकंटिक नगर के पास शीतोदा नामक नदी के पार करने पर उदयाचल नामक विशाल पर्वत मिलता है, जो सिद्ध क्षेत्र है[३]।

पेन्जर के अनुसार हिन्दूकुश के पश्चिमी देशों के लिए हिन्दूकुश को उदयगिरि माना जा सकता है, किन्तु गंगा के मैदान के लिए कोई ऐसा पर्वत नहीं है[४]। या तो इसे पौराणिक पर्वत मान लिया जाय अथवा उड़ीसा में भुवनेश्वर से पाँच मील उत्तर प्रसिद्ध उदयगिरि को उदयाचल माना जा सकता है।

उशीनर (१.३.४.)—यह हिमालय की ही एक शृंखला का नाम है। कथासरित्सागर के अनुसार हरिद्वार में कनखल नामक पवित्र तीर्थ है। जहाँ देवदन्ति ने उशीनर पर्वत का भेदन कर, गंगा को नीचे उतारा[५]।

मेरु अथवा सुमेरु (६.८.२५६)—पुराणों के अनुसार इसके शिखर स्वर्ण निर्मित बताये गये हैं। कथासरित्सागर में भी इस पर्वत के स्वर्ण शिखरों का वर्णन है। इसी से इसे "कनकाद्रि"[६] भी कहा गया है। इसकी स्थिति भी उत्तर दिशा में ही मानी गई है। पुराणों में इसे जम्बू द्वीप के मध्य में स्थित देवताओं की निवास भूमि कहा गया है। किन्तु यह सन्देहास्पद है। मोनियर विलियम[१] के अनुसार हिमालय के उत्तर तारतरी की ऊँची भूमि को सुमेरु मानना चाहिए। वी० सी० ला०[७] ने गढ़वाल में स्थित रुद्र हिमालय को सुमेरु माना है। इनके अनुसार एरियन का पर्वत मेरोस (Meros) यहीं है। कुछ लोग मध्य एशिया के पामीर पर्वत श्रेणी को सुमेरु मानते हैं[८]।

---

१. क० स० सा० १।१।१५. उत्तरं तस्य शिखरं कैलाशाख्यो महागिरिः। योजनानां सहस्राणि बाहून्याक्रम्य तिष्ठति ॥
२. म० पु० हिमवतः पृष्ठे—१२१. २. ३. क० स० सा० ३, ४. २३३–३४.
अस्तिपूर्वाम्बुधेपारे पुरं कार्कोटकाभिधम्। तदतिक्रम्य च नदी शीतोदा नाम पावनी ॥
४. ओ० एस० ॥ पृ० ६७ तीर्त्वातामुदाख्यश्च सिद्धं क्षेत्रं महागिरिः।
५. क० स० सा० १।३।४. तीर्थं कनखलं नाम गंगाद्वारेऽस्ति पावनम्। यत्र काञ्चनपातेन जाह्नवी देवदन्तिना ॥
"उशीनर गिरिप्रस्थात् भित्वा तामवतारिता" १।३।५.
६. क० स० सा० ७।१।१७. ७. Geography or Early Buddhism, Page 42.
८. India as seen in the Brihad Samhita of Barahmihir, Page 54.

विन्ध्य (१२.३५.५५)—सामान्यतः दक्षिणी भारत को उत्तरी भारत से पृथक् करने वाली नर्मदा तटवर्ती सम्पूर्ण पर्वत श्रृंखला को विन्ध्य पर्वत कहा जाता है। आर्यावर्त का विस्तार हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक बताया गया है। कथासरित्सागर में भी मध्यदेश का विस्तार विन्ध्य पर्वत तक बताया गया है। शिलादित्य के शिलालेख में विन्ध्य एवं सह्य पर्वत पृथ्वी के दो स्तन बताये गये हैं[1]।

इस पर बहुत से देवताओं का निवास बताया गया है। इसके नाम से विख्यात विन्ध्याटवी वन दुरूहता एवं दुर्गमता के लिए प्रसिद्ध है।

त्रिकूट (८.४.२)—इसे सुमेरु का पुत्र बताया गया है। कथासरित्सागर में भी सुमेरु तपोवन एवं पर्वत के समीप इसकी स्थिति बताई गई है[2]। रघुवंश के अनुसार त्रिकूट की स्थिति अपरान्त (पश्चिमी देश) में है[3]। महाभारत के अनुसार इसकी स्थिति लंका के निकट होनी चाहिए[4]। किन्तु हो सकता है यह और कोई त्रिकूट हो।

अञ्जन गिरि (१२.३५.७७) (८.५.५३)—रामायण में इस पर्वत का उल्लेख है[5]। सुलेमान पर्वत की एक श्रृंखला का नाम भी अंजन गिरि था, जो बलूचिस्तान को पंजाब से अलग करता है। जातकों में इसे घने जंगलों के बीच बताया गया है[6]।

ऋष्यमूक (१४.३.३)—यह तुंगभद्रा क्षेत्र का प्रसिद्ध पर्वत है। इसी से पम्पा नदी निकल कर तुंगभद्रा में मिलती है[7]। इस पर्वत का उल्लेख महाभारत में भी है। यहीं हनुमान सुग्रीव के साथ रहे थे। इसी के समीप पम्पा सरोवर है[8]।

असित गिरि (१६.१.१०६)—यह नर्मदा के समीप मध्यप्रदेश में विन्ध्य पर्वत की ही श्रृंखला में एक पर्वत है। महाभारत में भी इसका उल्लेख है[9]। च्यवन का प्रसिद्ध आश्रम यहीं बताया गया है। कथासरित्सागर के अनुसार कश्यप ऋषि का आश्रम यहाँ था[10]।

मलय पर्वत (१२.२३.३७)—मलय दक्षिण भारत के अन्तर्गत नल्लमल्ले अन्नमल्ले और एला-मल्ले की पहाड़ियों के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है। सरकार ने मलय पर्वत की पहचान ट्रावनकोर की पहाड़ियों से की है। दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट के नीलगिरि से केपकोमोरिन तक की पर्वतमाला को मलय पर्वत माना जाता है। पोलेमी ने इसे वेटिगो (Betigo) कहा है, जिसका तामिल रुप "पोडिगी" है। यह चन्दन के लिए प्रसिद्ध है।

महेन्द्र (३.५.९२)—उड़ीसा से लेकर मदुरा जिले तक की सम्पूर्ण पर्वत श्रृंखला महेन्द्र पर्वत के नाम से ज्ञात है। इसके अन्तर्गत पूर्वीघाट की समस्त पहाड़ियां आ जाती हैं। गंजाम जिले के पास की पहाड़ी महेन्द्र भले या महेन्द्र के नाम से पुकारी जाती है।

इन पर्वतों के अतिरिक्त चन्द्रपाद (८.३.१८९) त्रिकूट (८.४.२) कंकटक (८.५.४९) लीला पर्वत (८.५.५१) कुमुद, दुन्दुभि पर्वत (८.५.५४), कुरण्डक, पंचक पर्वत (८.५.६३), चन्द्रकुलगिरि,

---

१. CII, III P. 184. २. क० स० सा० ८।४।२–३. ३. रघुवंश ४।५८. ४. महा० वन प० २७७।५४.
५. वा० रा० किष्किन्धा० ३७।५., ६. आर० एन० मेहता : प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ३६९.
७. मी० पु० स० पृ० १४४. ८. महा० वन प० २७९।४४.
९. महा० भा० वनपर्व ८९।११–१२. १०. क० स० सा० १६–१–९३ प्रयातः कश्यपाश्रमम्।

धुरन्धराचल (८.५.६२), सुरेश्वरी विजय, कपटेश्वर पर्वत (९.१.४८–४९) मेनाक, वृषभ, चक्र, वलाहक (९.४.४–१६) एवं कालंजर (१६.१.८१) पर्वतों के नाम आये हैं। इनको या तो पौराणिक पर्वत माना जा सकता है या ये पर्वत विद्यमान होने पर भी नाम परिवर्तन के कारण आज पहचान पाना कठिन हो रहा है।

नदियां—पर्वतों के समान ही भारत की नदियों का विस्तृत विवरण कथासरित्सागर में उपलब्ध है। मुख्यतः काश्मीर, पंजाब एवं सिन्ध आदि पश्चिमोत्तर प्रान्तों की नदियों का वर्णन है। इनमें अधिकांश नदियों से हम आज भी परिचित हैं। इनके दो प्रकार हैं। कुछ नदियाँ हैं, कुछ नद हैं।[1] परम्परा के अनुसार गंगा सबसे अधिक पवित्र नदी मानी गई है[2]। नदियों के किनारे बसे नगरों का विशेष मूल्य है। गंगा के किनारे कुसुमपुर[3] नर्मदा के तट पर मरूकच्छ[4] वितस्ता के किनारे तक्षशिला[5] एवं इक्षुमती नदी के तट पर इक्षुमती नगरी[6] की विशेष चर्चा है। गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठान नगर[7] भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। कुछ नदियों के बालू में सोने के कण मिलने की भी चर्चा है[8]।

कथासरित्सागर में वर्णित नदियों का विवरण इस प्रकार है।

कावेरी (१२.३५.५४)—यह दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। कथासरित्सागर के अनुसार भी यह मुरल जनपद के समीप बहती है[9]। पश्चिमी घाट से निकल कर दक्षिण पूर्व की ओर बहती हुई मैसूर एवं कोयम्बटूर, त्रिचनापल्ली जिलों से होती हुई मद्रास के तजोर जिले में बंगाल की खाड़ी में गिरती है। पोले भी ने इसे खवेरिस कहा है।[10] कथासरित्सागर के अनुसार यह प्राचीन चोल राज्य से होकर बहती थी।[11]

नर्मदा—(३.५.९८) यह विंध्य की अमरकण्टक पहाड़ी से निकल कर उद्धाही संग्राम नामक स्थान पर समुद्र से (काम्बे की खड़ी) मिलती है। यह मध्यप्रदेश की प्रसिद्ध नदी है। महाभारत में इसका विशद महत्त्व वर्णित है।[12] यह आर्यावर्त एवं दक्षिणापथ को विभक्त करती है। कथासरित्सागर के अनुसार गुजरात का प्रसिद्ध नगर मरुकच्छ इसी के तट पर बसा हुआ बताया गया है।[13]

गोदावरी (९. ५. ११५)—यद प्रसिद्ध नदी ब्रह्मगिरि पहाड़ी (नासिक) से निकलकर दक्षिण भारत से होती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। गोदावरी नदी में राजा कनकवर्ष की, जल क्रीड़ा का विशद वर्णन किया गया है।[14] गोदावरी के जल को सात धाराओं में विभक्त बताया गया है।[15]

शिप्रा (५. १. १०७)—उज्जयिनी से होकर बहनेवालीं शिप्रा नदी, मालवा के पठार से निकल

---

१. क० स० सा० ८।७।२०३ अथ विविधौपधि सहितं नदीनदाम्भोधि तीर्थसंभूतम्।
२. क० स० सा० ९।५।२६ आ सीत् गंगातटे पूर्वं पूतपोरं तदम्बुभिः··· ३—वही, ५।१।२०६
४. वही, १।६।७६. ५. वही, ६।१।१०. ६. वही, ६।५।९८.
७. वही, १२।८।२१. ८. वही, १४।४।१५४ साहेमवालुक नदी तीरोधानविहारिणी···
९. वही, ३।५।९५. १०. पोलेमी, पृ० ६३-६५. ११. क० स० सा० ३।५।९५.
१२. महा० भा० वनपर्व १२१।१९-२१. १३. क० स० सा० १।६।७६.
१४. वही, ९।५।११५. १५. वही, ३।५।९७ तत्तस्य सप्तधा भिन्नं पपुर्गोदावरी पयः॥

कर चम्बल में गिरती है। उज्जैन इसी के तट पर बसा है। मेघदूत में भी इस नदी का उल्लेख है। कथासरित्सागर के अनुसार भी शिप्रा के तट पर बसी उज्जयिनी का वर्णन किया गया है।

वितस्ता (७. ३. ५४)—वर्तमान झेलम नदी का प्राचीन नाम वितस्ता है। यह पंजाब की पाँच प्रसिद्ध नदियों में एक है। ग्रीक लेखकों ने इसे हाइदसपेस (Hydespos) कहा है। कथासरित्सागर के अनुसार प्रसिद्ध तक्षशिला नगरी इसी के किनारे वसी हुई बताई गई है।[1]

चन्द्रभागा (८. ३. ६)—इसका वर्तमान नाम चेनाव है। यह भी पंजाब की प्रसिद्ध पाँच नदियों में एक है। पोलेमी ने इसे सन्दभगा (Sandbaga) कहा है।

इरावती (८. ३. १)—चंद्रभागा नदी के साथ ही इसका नाम भी लिया जाता है। यह निश्चय ही वर्तमान रावी है जो पंजाब की पाँच नदियों में एक है।

विपाशा (१२. ७. १९०)—यह वर्तमान व्यास है जिसकी गणना भी पंजाब की पाँच नदियों में की गई है। यह पीर पंजाल गिरिमाला से निकलकर काश्मीर में रावी के उद्गम स्थल चम्ब के पास ही दृष्टिगोचर होती है। फिर दक्षिण पश्चिम की ओर बहती हुई शुतुद्री से मिलती है। कथासरित्सागर में इसे सागर से मिलती हुइ बताया गया है।[2]

रेवा (३. ५. ९८.)—मेघदूत[3] से ज्ञात होता है कि नर्मदा का ही नामान्तर रेवा है। यह अमरकण्टक से निकलकर अरब सागर में गिरती है। भागवत पुराण में दोनों के अलग-अलग नाम आये हैं। कथासरित्सागर में भी उज्जयिनी को रेवा के किनारे बसा हुआ बताया गया है।[4]

वेधा (८. ६. १७५.)—यह दक्षिण भारत की नदी है। यह गोदावरी की सहायक नदी वर्तमान वेन गंगा है।

मन्दाकिनी (१५. १. ४३)—पेन्जर के अनुसार यह रुद्रप्रयाग के निकट अलकनंदा से मिलती है और प्रसिद्ध केदारनाथ के समीप से निकलती है।[5] कनिंघम ने इसे बुंदेलखण्ड में चित्रकूट से निकलने-वाली वर्तमान मंदागिन को प्राचीन मंदाकिनी माना है।[6] किन्तु पेन्जर का मत ही उचित लगता है। कथासरित्सागर के अनुसार उदयन पुत्रलाभ के लिए मन्दाकिनी के तट पर शिव मन्दिर में तप करने जाते हैं। केदारनाथ का शिव मन्दिर सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध है। वैसे गंगा के पर्यायवाची शब्दों में मन्दाकिनी भी है। इसीलिए फ्लीट ने इसे गंगा या उसी की कोई धारा माना है।[7] कथासरित्सागर में इसे कैलाश पर्वत के समीप बताया गया है।[8]

शीतोदा (३. ४. २३४)—शीतोदा नदी की चर्चा भी कथासरित्सागर में उपलब्ध है।

---

१. क० स० सा० ६।१।१० आसीत् तक्षशिला नाम वित्तस्तापुलिने पुरी।

२. क० स० सा० १२।७।१९०.

३. रेवा, सुरला, नर्मदा—भा० पु० स्क० ५, अध्याय १९, भाग १७, मेघदूत-पूर्वमेघ १९, रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्।

४. क० स० सा० ३।५।९८.

५. O. S. Penger VII, Page 2.

६. CASR XXI, Page 11.

७. I. A. XXII, Page 184.

८. क० स० सा० १५।१।४२.
मूलं निजयशोराशेरिव कैलास भूभृतः, तत्र मंदाकिनी तीरे निषण्णं निजगाद तम्॥

इक्षुमती (६. ६. ९८)—इसे वर्तमान कालिन्दी माना जाता है जो गंगा की सहायक नदी है। यह कुमायूँ रोहिलखण्ड से होकर बहती है। प्राचीन सांकाश्य नगर इसी के तट पर बसा था। कथासरित्सागर के अनुसार यह नदी एवं इसी नाम का नगर महर्षि विश्वामित्र द्वारा उद्भूत हुए।

यमुना (१०. ४. १५)—यह प्रसिद्ध नदी हिमालय की शृंखला में यमुनोत्तरी से निकलकर प्रयाग में गंगा से मिलती है। इसके किनारे इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, आगरा आदि प्रसिद्ध नगर स्थित हैं।

गंगा (१. ३. ७५)—कथासरित्सागर में इस नदी का सर्वाधिक वर्णन उपलब्ध है। पुण्य तिथियों पर गंगास्नान का विशेष महत्त्व वर्णित है। हरिद्वार के पास कनखल[1] के समीप इसे हिमालय से उतरती हुई बताया गया है। इसी से हरिद्वार का प्राचीन नाम गंगाद्वार[2] ही कथासरित्सागर में मिलता है। इसके किनारे बसे प्रसिद्ध नगरों का वर्णन किया गया है।

गंधवती (१२. ३५. ७)—यह मालवा में बहनेवाली नदी है। कालिदास ने मेघदूत में इसकी चर्चा की है।[3]

वन प्रदेश

कथासरित्सागर की कथाओं में विभिन्न वनों का उल्लेल है। विन्ध्याटवी अथवा विन्ध्यारण्य की चर्चा विविध प्रसंगों में बार-बार की गई है। प्रमुख वन निम्न हैं।

विन्ध्यारण्य (१. २. ३, १. ४. १)—इसे विन्ध्याटवी अथवा विन्ध्यारण्य कहा गया है। आज भी विन्ध्याटवी प्रसिद्ध है।[4] विन्ध्य पर्वत की तराई में यह विस्तृत भूभाग में फैला हुआ है। शबर, किरात आदि जंगली जातियों का इसमें निवास बताया गया है।

खाण्डव वन (१२. ३४. १७०)—यह कुरुक्षेत्र में था। अर्जुन और कृष्ण की सहायता से अग्नि ने इसे जला डाला था। कथासरित्सागर में भी इसी पौराणिक कथा की ओर संकेत है।[5]

करिमण्डित[6], सुराभिमारुत[7], नागवन[8], पुष्पकारण्ड[9], तुम्ववन[10] आदि ऐसे वन हैं जिनकी ठीक-ठीक पहचान कठिन है।

सरोवर

कथासरित्सागर में प्राप्त सरोवरों के नाम इस प्रकार हैं—पम्पासर[11], गौरी तीर्थ[12], शंखह्रद[13], मानसरोवर[14], वासुकी झील[15]।



---

१. क० स० सा० १।३।४.
२. वही, १।३।१०.
३. मेघदूत, पूर्वमेघ—३५—धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या।
४. महा० भा० आदि प० २०८।७.
५. क० स० सा० १२।२४।१७ —भूयोग्निरिव खाण्डवम्।
६. वही, १२।३।४.
७. वही, १२।२।१०९.
८. वही, ६।८।९७४.
९. वही, १२।२६।३३.
१०. वही, ८।६।१७५.
११. वही, १४।३।१०.
१२. वही, १२।१३।५.
१३. वही, १३।१।८५.
१४. वही, ७।१।१००, ८।३।८७.
१५. वही, १२।७।२११.

सप्तम परिच्छेद

वृक्षसम्पत्ति एवं जीवजन्तु

कथासरित्सागर में वृक्षों का भी विस्तृत उल्लेख है। इसके तीन विभाग किये जा सकते है।

(१) प्रसिद्ध फलवृक्ष, (२) शोभा वृक्ष, (३) पुष्प पादप एवं लता।

फलवृक्ष—आम[1] आमलक[2], विश्व[3], लवंग[4], नारिकेल[5], पूग[6], सेव[7], एला[8], उदुम्वर[9], नागवल्ली[10], खर्जूर[11], मातुलुङ्ग[12] (विजोरा नींबू), कपित्थ (केथ)[13]।

शोभावृक्ष—अश्वत्थ[14], न्यग्रोध[15], शिंशपा[16], वटवृक्ष[17], साल[18], अशोक[19], तमाल[20], चन्दन[21], पलाश[22], शाल्मली[23], सेमल[24], कदम्ब[25]।

पुष्पपादप—अगुरु[26], कुटज[27], चम्पक[28], जपा[29], पुन्नाग[30], वन्धूक[31], मन्दार[32], माधवी[33], लोध्र[34], वसन्तलतिका[35], शिरीष[36], कर्णिकार[37], कमल[38], लताकुंज[39], पुष्पराग[40], मालती[41], नागवल्ली[42], पाटल[43] आदि।

एक ही वृक्ष में अनेक तरह के फूलों को उगाने की कला से भी लोग परिचित थे।

"एक वृक्षोद्गतानेकजातीय कुसुमोत्करम्"[44]

---

१. क० स० सा० १६।१।६.
२. वही. १०।४।२४२.
३. वही, ७।१।६१.
४. वही, १६।१।१५.
५. वही, ४।३।२०.
६. वही, १६।४।१७.
७. वही, ५।३।९.
८. वही, १४।३।२०.
९. वही, १०।७।९७.
१०. वही, १२।२।१२९.
११ वही, १०।५।३१.
१२. वही, ९।३।५०.
१३. वही, १०।५।५३.
१४. वही, १२।१४।५३.
१५. वही, १।२।४.
१६. वही, १२।८।४७.
१७. वही, १३।१।७१.
१८. वही, १।२।५.
१९. वही, १२।२४।१९.
२०. वही, १२।३५।३.
२१. वही, १२।३५।१५.
२२. वही, ४।१।११.
२३. वही, १०।५।५८.
२४. वही, १०।५।५८.
२५. वही, १२।३३।१८.
२६. क० स० सा० १०।५।३.
२७. वही, १७।३।१८.
२८. वही, १२।८।९६.
२९. वही, १२।८।९६.
३०. वही, १४।१।२५.
३१. वही, १२।२२।२४.
३२. वही, १२।८।३०.
३३. वही, ११।१।१०.
३४. वही, १२।१२।९५.
३५. वही, १६।२।४०.
३६. वही, १४।१।७०.
३७. वही, ९।५।५५.
३८. वही, ९।४।१०.
३९. वही, ३।५।८१.
४०. वही, ७।१।२२.
४१. वही, १३।१।४२.
४२. वही, १३।१।४२.
४३. वही, १८।२।६५.
४४. हही, १७।४।८५.

पालतू पशु—हस्ति[1], अश्व[2], तुरग[3], वृष[4], उष्ट्र[5], महिष[6], गर्दभ[7], धेनु[8], कपिला गौ[9], श्वान[10], अश्व[11], कुक्कुर[12], शिक्षित पशु[13]।

वन्य जन्तु—मर्कट[14], वनद्विप[15], कृष्णसार मृग[16], सिंह[17], वानर[18], गोमयु[19], शश[20], व्याघ्र[21], शृगाल[22], नकुल[23], उल्लूक[24], मूषिक[25], इभ[26] (जंगली हाथी), भल्लू[27], शरभ[28], शूकर[29], वन्यमहिषी[30], शिकारी कुत्ता[31], सफेद हाथी[32],

सरीसृप—भुजंग[33], नाग[34], डुंडुभ[35], अजगर[36], शतपदी[37], कनखजूरा।

जलचर—मत्स्य[38], बक[39], कछुआ[40], हंस[41], मेढक[42], मगर[43], ग्राह[44]।

पक्षी—शुक[45], टिट्टिभ[46], गरुड़[47], सारिका[48], सारस[49], चक्रवाक[50], कोयल[51], भौंरा[52], वलाका[53], बाज[54], गिद्ध[55], काक[56], मयूर[57], मद्गु[58]।

कीट-पतंग—यूका (जूं)[1], मत्कुण[2], (खटमल), खद्योत[3] (जुगनूं)।

इस प्रकार कथासरित्सागर में प्राप्त जनपद, ग्राम, नगर, द्वीप, पर्वत, नदी, वनप्रदेश, सरोवर, वृक्ष, लता, जीव-जन्तु, पक्षी आदि का विस्तृत वर्णन, भारत की सांस्कृतिक गरिमा का द्योतक है।

---

१. वही, १०।२।१८.
२. वही, १०।२।१८.
३. वही, १०।३।६७.
४. वही, १०।४।१५.
५. वही, १०।४।१४७.
६. वही, १०।६।२१३.
७. वही, १०।७।१३१.
८. वही, १०।५।४५.
९. वही, १४।४।२९.
१०. वही, ४।१।१६.
११. वही, ७।३।१६६.
१२. वही, ११।४।६९.
१३. वही, १०।१।१३६.
१४. वही, १०।१।१४८.
१५. वही, १०।२।११३.
१६. वही, १०।३।४२.
१७. वही, १०।४।१८.
१८. वही, १०।४।२९.
१९. वही, १०।४।५६.
२०. वही, १०।४।१०२.
२१. वही, १०।४।१४५.
२२. वही, १०।४।१४५.
२३. वही, १०।४।२३६.
२४. वही, १०।६।७४.
२५. वही, १०।५।६६.
२६. वही, ७।८।३.
२७. क० स० सा० ७।८।४.
२८. वही, ७।८।५.
२९. वही, ९।३।१६.
३०. वही, ४।१।१४.
३१. वही, ४।१।१६.
३२. वही, ७।२।१६.
३३. वही, १०।२।२७.
३४. वही, १०।५।१७०.
३५. वही, २।६।८३.
३६. वही, २।१।५७.
३७. वही, ६।३।१३६.
३८. वही, १०।४।७९.
३९. वही, १०।४।७९.
४०. वही १०।४।१६८.
४१. वही, १०।४।१६८.
४२. वही, १०।६।१५४.
४३. वही, ९।५।१४४.
४४. वही, १२।३९।२३६.
४५. वही, १०।३।३६.
४६. वही, १०।४।१८७.
४७. वही, १०।४।१९४.
४८. वही, १२।१०।११.
४९ वही, १४।१।४०.
५०. वही, १२।२०।१९.
५१. वही, ७।१।५–६.
५२. वही, ९।५।१७१.
५३. वही, ११।७।९०.
५४. वही, २।४।४१.
५५. वही, ९।४।१२८.
५६. वही, १०।४।१२६.
५७. वही, १०।४।१२७.
५८. वही, ५।१।१३२.
५९. क० स० सा० १०।४।२०६.
६०. वही, ९।३।४०.
६१. वही, १२।२२।४०.

८

अध्याय ३

प्रथम परिच्छेद

सामाजिक पृष्ठभूमि :

कथासरित्सागरकालीन सामाजिक जीवन का अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस समय तक समाज एक निश्चित ढाँचे में ढल चुका था। वैदिक युग की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक हित के लिए क्रमशः सीमित होती गई। परम्परागत सामाजिक नियमों का बन्धन सभी के लिए स्वीकार करना अनिवार्य था। जनसंख्या की वृद्धि से समाज में संश्लिष्टता बढ़ती जारही थी। दूसरी ओर नवीन सांस्कृतिक चेतना एवं परम्परागत रूढिवादिता के बीच खींचातानी प्रारम्भ हो चुकी थी। प्राचीन संस्कार के कारण जनसमुदाय नवीन सुधारवादी प्रयोगों को स्वीकार करने में हिचक रहा था। युग की धारा के अनुसार टूटते हुए प्राचीन सामाजिक बन्धन के उदाहरणों से सम्पूर्ण कथासरित्सागर भरा पड़ा है। यद्यपि वे उच्छृंखल मनोंवृत्ति के सूचक थे, फिर भी इनकी संख्या बढ़ती जारही थी। इस प्रकार प्राचीन एवं नवीन संस्कृति की सान्ध्य :वेला में इन्द्रधनुषी रंग-विरंगी मानवीय प्रवृत्तियों से ओतप्रोत कथायें केवल मनोरंजक ही नहीं, जीवन के तथ्यों को भी व्यक्त करतीं हैं।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था से अनेक परिवर्तन और मोड़ से होता हुआ भारत का आर्यसमुदाय ऊपर उठा और समाज के नियमों के बन्धन में बँध कर सुगठित हो गया। वेदकालीन सामाजिक संगठन का आधार तात्कालिक सुख की प्राप्ति न होकर अत्यन्त उदार और विकासात्मक थे। भौतिक सफलता से अधिक आध्यात्मिकता पर बल दिया गया। सामाजिक व्यवस्था का आधार ज्ञान, त्याग, सेवा, तपस्या और प्रेम था। आर्यों के सामाजिक जीवन का आधार उच्च नैतिकता थी।

वैयक्तिक जीवन में इन गुणों के अनुसार सम्यक् आचरण ही सामाजिक सुव्यवस्था का आधार था। ग्यारहवीं सदी तक इन उदात्त सिद्धान्तों गें सरलता एवं स्वाभाविकता की जगह जटिलता एवं कृत्रिमता आ गई। वास्तविकता को पहचानने की क्षमता नष्ट हो गई।

श्रद्धा और विश्वास की जड़ों के निर्बल होने पर ही तन्त्र-मन्त्र जादू-टोना का प्रभाव व्यापक हो जाता है। आस्थाहीनता से अस्थिरता एवं भटकाव उत्पन्न होता है। जीवन के मूल्य आध्यात्मिक न होकर ऐहिक हो गये। ऐन्द्रिय सुख प्रधान हो गये थे। इसे प्राप्त करने में वैदिक मूल्य गत्यवरोध उत्पन्न करने लगे। फलतः प्राचीन मूल्यों के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना, उस युग में उभर रही थी जिसका प्रभाव कथासरित्सागर पर स्पष्ट है।

जहां एक ओर धर्म से धनोपार्जन, उदारता, त्याग, बलिदान, इन्द्रियनिग्रह, देवब्राह्मण अर्चना सम्बन्धी अनेक आख्यान उपलब्ध है, वहीं अर्थलोलुपता, लम्पटता, कृतघ्नता एवं कुलटाओं के विविध चरित्र, उस युग की विशेषता बता रहे है। वैदिक देवताओं के प्रति भक्तिप्रवण कथाओं के साथ २ भूत वेताल एवं कापालिकों के सिद्धि सम्बन्धी आख्यानों का भी बाहुल्य है। आर्ष विवाह की जगह गान्धर्व

विवाह ही अच्छा समझा जाने लगा। वर्णव्यवस्था की कठोरता में भी बहुत लचीलापन मिलता है। इस प्रकार कथासरित्सागर में वर्णित कथाओं में उस युग की सामाजिक चेतना स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।

कथासरित्सागर कालीन सामजिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए श्री अतुल चटर्जी ने ठीक ही लिखा है—"दसवीं एवं ग्यारहवी सदी का समाज चार प्रमुख जातियों से निर्मित था, किन्तु ध्यान देने योग्य है कि उस प्राचीन समय में भी अन्तर्जातीय विवाह प्रतिषिद्ध नहीं था, न सामाजिक दृष्टि से हेय ही माना जाता था। आज प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय जातिगत सीमायें तोड़ने का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु कथासरित्सागर में एक पाटलिपुत्र निवासी के पौण्ड्रवर्धननगर की कन्या से विवाह करने पर भी कोई आश्चर्य प्रगट नहीं किया गया है। यह भी ध्यातव्य है कि उस समय व्यवसाय का आधार जाति ही नहीं थी। ब्राह्मण भी मल्ल युद्ध करता है। बीरवर ब्राह्मण होकर भी रक्षक का कार्य करता है।[1] भारत में मुसलमानों के आगमन के पूर्व तथा महाराज हर्ष के राज्यकाल के बाद की सामाजिक विशेपतायें कथा-सरित्सागर में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हैं। भारतीय इतिहास में हर्ष के राज्यकाल के बाद राजपूत नाम से क्षत्रियों के एक विशिष्ट वर्ग का अभ्युदय होता है, जिसे संस्कृत में राजपुत्र कहा गया है।[2]

पर्दा प्रथा का अभाव[3] इस युग की प्रमुख विशेपता है। यद्यपि राजभवनों में रानियों के लिए अलग रनिवास को व्यवस्था थो जहाँ पुरुप प्रवेश प्रतिषिद्ध था। किन्तु सामान्य लोगों में पर्दा-प्रथा का अभाव था। एक मित्र अपनी पत्नी को दूसरे को दिखाता है। वह कहता है "जहाँ एक मित्र दूसरे को अपनी पत्नी नहीं दिखाता वहाँ कपट मात्र है"।[4]

कठोर दण्ड विधान रहने पर भी समाज में चोर डाकू[5] ठग[6] घातक[7] (गुण्डे), फरेबी[8] धूर्त[9] सन्यासी[10] आदि समाज विरोधी तत्वों का अस्तित्व देखने को मिलता है।

जुआड़ियों की तो भरमार ही है। जुए से होने वाले विनाशों से अवगत होने पर भी वेदपाठी ब्राह्मण[11] से लेकर सामान्य व्यक्ति तक उसके शिकार हैं। द्यूत, द्यूतकार[12] एवं जुआ खेलने का स्थान[13] (महा ठिण्ठा) अनेक कथाओं में देखने को मिलता है। जुआ खेलने का विरोध करने पर जुआड़ी अपनी पत्नियों को पीटते हैं। जुआड़ी पति से पत्नी घृणा करती है।[14] एक जुआड़ी डींग हाँकता हुआ कहता है "जो जुए की कला जानता है, उसके हाथ में खजाना है।[15]" इसी विश्वास से वे जुआ खेलने में प्रवृत्त होते थे।

जुआ खेलने की प्रथा वैदिक युग से ही चली आ रही है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक जुआड़ी जुआ के प्रति अपने आकर्षण का वर्णन करता है।[16] महाभारत में जुआ की प्रधानता ही है। मृच्छकटिक

---

१. O. S. Vol. IX Page. IX, X. २. क० स० सा० १२।३५।११, १२।७।५९, १८।५।५२.
३, O. S. Vol. IX Page. X. ४. क० स० सा० १७।७।११२. "प्रहृदयन्ते न दाराश्च कैतवं तत्र सौहृदम् ॥
५. क० स० सा० ५।२।८. ६. वही, ५।१।२००. ७. वही, ६।६।४८. ८. वही, ४।५।१००.
९. वही, ५।१।८३ १०. वही, ३।१।३२. ११. वही, ५।३।२००. १२. वही, १८।२।७३.
१३. वही, १२।२५।१५. द्यूतकार महाठिण्ठां द्यूतेन क्रीडितुं ययौ। ते प्रत्यहं द्यूतकाराः कपर्दकशतं ददौ।
१४. वही, ३।५।३६. १५. क० स० सा० १।५।२६. "योऽद्य द्यूतकलां वेत्ति तस्य हस्तगतो निधिः।"
१६. ऋग्वेद १०।२४.

एवं नल-दमयन्ती की कथा पर बने ग्रन्थों में द्यूत विद्या का विशद वर्णन है। किन्तु समाज इसे गर्हित कर्म मानता है। जुआ खेलने वाला व्यक्ति निकृष्ट चरित्र का माना जाता था। क० स० सा० में कहा गया है "जुआ में हारे हुए धूर्त जुआड़ी के लिए कौन सा कार्य दुष्कर है।"[1] वेदपाठी देवदत्त ब्राह्मण जुए के व्यसन में सारा धन गंवा बैठता है।[2] महातपस्वी जालपाद कहते हैं "व्यसनी के लिए तो इस पृथ्वी पर धन ही नहीं।"[3]

इस प्रकार तत्कालीन समाज में द्यूतप्रथा प्रचलित होने पर भी समाज उसे गर्हित दृष्टि से देखता था। यह प्रथा राजाओं में भी प्रचलित थी। जुआ खेलना दण्डनीय अपराध भी नहीं समझा जाता था।

---

१. क० स० सा० ५।१।६५.　　२. वही, ५।३।२००.　　३. वही, ५।३।२०१.

द्वितीय परिच्छेद

वर्ण-व्यवस्था :

भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है, इसमें सन्देह नहीं। इसका सूत्र वैदिक युग से ही मिलता है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[1] में मिलता है। वर्ण का अर्थ विभिन्न लोगों के जातिगत समूह की ओर इंगित करता है। यह वर्ण विभाग पहले तो कर्म और गुण के आधार पर निश्चित हुए, बाद में उन्हें जन्म के आधार पर जाति कहा जाने लगा।[2] ग्यारहवीं सदी तक वर्ण का आधार गुण कर्म न रहकर जन्म रह गया। प्राचीन सूत्रों में ही नहीं, मध्यकालीन ग्रन्थों में भी वर्ण चार बताये गये हैं। ये चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण विराट् पुरुष का मुख, क्षत्रिय वर्ण उसके हाथ, वैश्यवर्ण उसकी जांघ और शूद्र वर्ण उसके पांव माने गये हैं।[3] मनुस्मृति भी इसी विचार का समर्थन करती है।[4]

महाभारत के शान्ति पर्व में वर्णों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मण वेद को सुरक्षित करने के लिए, क्षत्रिय पृथ्वी पर शासन करने, दण्ड धारण करने और जीवों की रक्षा के लिए, वैश्य दोनों की खेती एवं व्यापार से सहायता करने के लिए और शूद्र दास बनकर तीनों की सेवा करने के लिए हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णों की चर्चा आई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण का कर्त्तव्य यज्ञ-यागादिक है।[4] क्षत्रिय बलवान् हो।[5] वैश्य व्यापार करे, राष्ट्र की उन्नति करे।[6] शूद्र श्रम का साक्षात् रूप है जिस पर राष्ट्र टिका हुआ है।[7]

इस प्रकार वर्णों का विभाग एवं उनका कर्त्तव्य प्राचीन समय से ही निश्चित कर दिया गया था। प्रत्येक वर्ण के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था थी, जिसके अनुरूप प्रत्येक वर्ण अपना-अपना कर्म करता था।

"सामाजिक परम्पराओं और वंशानुगत सहजात गुणों के कारण विभिन्न जातियों में स्पष्ट रूप से अलग-अलग ढंग के स्वभाव प्रवृत्ति आदि का विकास होता है।"[8] मानव की इन सहज पृथक प्रवृत्तियों के कारण उनके स्वभावगत संस्कार निश्चय ही भिन्न होंगे। इनका एकीकरण समाज के लिए घातक होगा। प्राचीन वैदिक ऋषियों ने इस सत्य को समझा और वर्णव्यवस्था के नाम पर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, जिसने सैंकड़ों-हजारों आचार-विचार-संस्कार वाली जातियों को मोटे तौर पर केवल चार भागों में बाँट कर रख दिया। सभी जातियाँ अपने अलग-अलग अस्तित्व को बनाये रखती हुई वर्ण-व्यवस्था के बन्धन में आ जाती हैं।

---

१. ऋग्वेद २।१२।४, १।१७०।६.   २. विनय पिटक (ओल्डेन बर्ग) को० २ पृ० २३९.
३. ऋग्वेद १०।१०।१२, ४ मनु० १।२.   ४. श० ब्रा० १।९।३।१६.   ५. ऐ० ब्रा० ८।६.
६. वही ८।२६.   ७. श० ब्रा० १३।६।२।१०.   ८. जा० भा० सं० पृ० १३।

वेलेनटीन चिरोल ने लिखा है "हिन्दू धर्म के नरम और सूक्ष्म तत्वों ने प्रागैतिहासिक युग में ही असंख्य विभिन्न जातियों के सर्वथा विपरीत विश्वासों और रीतिरिवाजों को एक साथ मिलाकर व्यापक रूप दिया है। यह रूप इतना लचीला है कि इसमें भारत के अधिकांश मूल निवासियों को भी स्थान प्राप्त है और यह इतना कठोर भी है कि हिन्दू आर्यों का प्रभुत्व बना हुआ है।"[१] डॉ० राधाकृष्णन् ने निष्कर्ष रूप में बताया कि "मानव समुदाय में पायी जाने वाली अनन्त पृथकताओं को स्वीकार करना ही वर्ण व्यवस्था है।"[२]

वैदिक युग से चार वर्णों में विभक्त भारतीय धर्म मध्ययुग में भी तदनुरूप ही रहा। कथासरित्सागर में भी वर्णों की मर्यादा पूर्ववत् ही प्रतिष्ठित है। यद्यपि वर्ण विभाजन में जन्मगत आधार का बीज कुल और वंश नाम से आ गया था, तथापि वर्णव्यवस्था में व्यक्ति के व्यवसाय और कर्म का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक था।

राजा केवल राजनेता ही नहीं था, सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का भार भी उसी पर था। उसे वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपालक बताया गया है। अत्यन्त कर्त्तव्यपरायण राजा, जनता को अनेक श्रेणियों और कर्मों में विभक्त करने में योग देते थे साथ ही, उन्हें एक दूसरे में मिलने और क्रम तोड़ने से रोकने का यत्न करते थे। वर्णाश्रम सम्बन्धी राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन कथासरित्सागर में उपलब्ध है।

राजा महावराह की कन्या पद्मरति से विवाह के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र युवक आते हैं। राजा, पद्मरति कों उनमें से एक को चुनने के लिए कहता है। इस पर पद्मरति उत्तर देती है "इनमें से एक शूद्र और जुलाहा है, इस गुण से क्या लाभ? दूसरा वैश्य पशुओं की बोली जानता है, उसके जानने से भी क्या लाभ? मैं क्षत्रिया होकर अपने को वैश्य और शूद्र को कैसे सौंप दूं? तीसरा मेरी जाति का क्षत्रिय गुणी तो है, किन्तु वह सेवा से जीवन व्यतीत करने वाला दरिद्र और प्राणों को वेचनेवाला है। मैं पृथ्वीपति की कन्या होकर उस सेवक की पत्नी कैसे बनूं? चौथा जीवदत्त ब्राह्मण भी मुझे पसन्द नहीं। वह कुरूप, धर्महीन, वेदरहित और पतित है। वह तो तुम्हारे लिए दण्ड देने योग्य है। हे पिता तुम तो वर्णों और आश्रमों के रक्षक और धर्म के प्रतिपालक हो।[3]

"वर्णाश्रमाणां धर्मस्य राजा त्वं तात रक्षिता"[४]

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपालक राजा स्वयं था। प्रत्येक वर्ण का अपना अलग स्वरूप एवं कर्त्तव्य निर्धारित था। कर्तव्य से च्युत हो जाने पर सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती थी।

समाज की रचना में राजा का महत्वपूर्ण योग था। कथासरित्सागर के समय वर्ण का आधार कर्म और गुण न रहकर जन्म रह गया था। जन्म के आधार पर ही जाति निश्चित हो जाती थी।

---

१. India old and new (19 1) page 42।43. २. Hindu view of 14 fe.

३. क० स० सा० ९।२।११०–११३. ४. क० स० सा० ९।२।११४.

जाति—वर्ण और जाति दोनों भिन्नार्थक शब्द हैं। जब व्यक्तियों का एक समुदाय कई सन्ततियों से वंश-परम्परागत प्रणाली के अनुसार एक ही देश में रहता हो तब उसे जाति (रेस) कहा जाता है। किन्तु कथासरित्सागर में जाति शब्द का ग्रहण इतने व्यापक अर्थ में नहीं किया गया है। आजीविका भेद के आधार पर जातियों का ग्रहण किया गया है। इस संकुचित अर्थ में "जाति कुटुम्बों का वह समूह है, जिसका अपना एक निजी नाम है, जिसकी सदस्यता पैतृकता द्वारा निर्धारित होती है, जिसके भीतर ही कुटुम्ब विवाह करते हैं और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है या जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से बताते हैं।[1]

इस प्रकार एक ही वर्ण के अन्तर्गत कई जातियाँ उपजातियाँ पाई जाती हैं। जुलाहा[2], मालाकार[3], धीवर[4] आदि ऐसे ही जीविका के आधार पर प्रचलित जातियाँ हैं।

कुल—समाज का सबसे छोटा घटक कुल था। कुल प्रायः पुरुषों के नाम पर थे। मनु ने सम्पत्ति के अतिरिक्त वेदाध्यापनादि को कुल के उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना है।[5] महाभारत में भी कुलकी उन्नति के लिए, तप, दम, ब्रह्मज्ञान यज्ञ आदि सात गुणों को आवश्यक माना गया है।[6] कथासरित्सागर में कुलों की मर्यादा पर बल दिया गया है। विवाह सम्बन्ध समान कुल में ही अनुमोदित था।

"अतुल्यकुलसम्बन्ध, सैपा किं वापराध्यति"[7]



---

१. राजेश्वर प्र० अर्गल—समाज, पृ० २११ २. क० स० सा० ९।२।९९, ३. वही ९८।४।२६३.
४. वही ९।२।३३६. ५. मनु० ३।६६. ६. म० भा० उ० प० ३६।२२-२३.
७. क० स० सा० ४।१।८०.

तृतीय परिच्छेद

ब्राह्मण का समाज में स्थान—सभी वर्ण में ब्राह्मण सर्वोच्च माना जाता था। उसका सम्मान और आदर सर्वाधिक था। ब्राह्मण वर्ण की यह मर्यादा वैदिक युग से ही मान्य है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख कहा गया है।[1] मनुष्यों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[2] ब्राह्मण वेदों का ज्ञाता और सभी क्रियाओं का मर्मज्ञ होता था। वह धर्म के कारण भी सर्वश्रेष्ठ है[3]। शुक्र के अनुसार जो ज्ञान, कर्म, आदि की उपासना में तत्पर, शान्त, दान्त और दयालु है, वही ब्राह्मण है।[4] महाभारत में भी कहा गया है कि यज्ञ मण्डप में कोई भी ब्राह्मण ऐसा न था, जो वेद के ६ अंगों का ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रती, अध्यापक, पापरहित एवं क्षमाशील न हो।[5]

शास्त्रीय वर्णनों के अनुसार ब्राह्मण वेद-विद्या में पारंगत एवं सात्विक आचार-विचार का व्यक्ति होता था। किन्तु कालक्रम से वुद्धि संस्कार से विरत केवल जन्म से ब्राह्मण होने वाला व्यक्ति भी माननीय था।[6]

कथासरित्सागर के समय भी समाज में ब्राह्मण प्रतिष्ठित एवं उच्च सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे।

देवता और ब्राह्मण समानरूप से सबके लिए पूज्य थे।[7]

वेदाध्ययन एवं शास्त्रचर्चा ब्राह्मणों का कर्त्तव्य बताया गया है। सुप्रतिष्ठित नगर में वेदज्ञ कहीं साम गान कर रहे हैं। कहीं शास्त्रचर्चा हो रही है।[8]

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव के कारण, जन्मजात ब्राह्मण की प्रतिष्ठा पर अंगुली उठाई जाने लगी थी। जन्म के आधार पर नहीं, अपितु कर्म से ही ब्राह्मण माना जाना चाहिए। बुद्ध के अनुसार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण नहीं, अपितु जो रागादि संग और आसक्ति से विरत हो, जो क्षमाशील एवं क्रोध से विरत हो वह ब्राह्मण है।[9]

ब्राह्मण के गुणों का समादर होना चाहिए, केवल ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करने से वह पूज्य नहीं। इस प्रकार का स्वर कथासरित्सागर में भी मुखरित है। पुत्र वैदिक धर्म का अनुयायी है, पिता वौद्ध

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् वाहू राजन्यः कृतः। ऋग्वेद १०-१०-१२ तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा—मनु० १।९२. २. मनु० १।९६. ३. मनु० १।९३.

४. ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरतः, शान्तदान्तो दयालुश्च ब्राह्मणस्य गुणो कृतः ॥ शु० नी० १।४०.

५. नापडङ्ग विद्यासीत् सदस्यो नावहुश्रुतः। नाव्रतो नानुपाध्यायो, नापाद्यो नाक्षमो द्विजः ॥ महा० सभा प०.

६. "असंस्कृत मतयोऽपि जात्येव द्विजन्मना माननीयाः"—हर्षचरित, पृ० १८.

७. क० स० सा० ३।३।१३४ "देव द्विज सपर्या हि कामधेनुर्मता सताम्"

८. वही, १।६।२५ "क्वचित् सामानि छान्दोगा गायन्ति च यथा विधिः, क्वचित् विवादो विप्राणामभूत् वेदविनिर्णये।

९. धम्म पद ३९६,३९७.

धर्म का। पुत्र पिता का तिरस्कार करता हुआ कहता है कि तुम वैदिक धर्म छोड़कर अधर्म सेवन क्यों करते हो ?[1]

बुद्ध प्रतिपादित ब्राह्मण धर्म के बारे में बताता हुआ पिता कहता है—"ब्राह्मण धर्म भी तो यही है कि रागद्वेषहीनता, सत्य, प्राणिमात्र पर दया करना और वह जाति पाति के झूठे झगड़े से रहित हो।

निश्चय ही ब्राह्मणोचित गुणों की महत्ता पर बल दिया जा रहा था। फिर भी केवल ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करने से ही उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त था।[2]

प्रधान कर्म—प्राचीन शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों के प्रधान छ कर्म बताये गये हैं। वे हैं—वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना. दान देना एवं दान लेना।[3] मध्यकालीन समरांगण सूत्रधार के अनुसार भी ब्राह्मणों के उपर्युक्त कर्म बताये गये हैं।[4] शुक्र नीति के अनुसार ब्राह्मण को दान्त, कुलीन, मध्यस्थ, अनुद्वेगकारी, अटल, परलोक भीरु, धार्मिक, उद्योगी एवं क्रोध रहित होना चाहिए।[5]

इस प्राचीन मान्यता के अनुसार ही कथासरित्सागर में भी ब्राह्मण धर्म प्रतिपादित है। कुरूप, कर्महीन, वेदरहित एवं पतित (आचार हीन) ब्राह्मण की बार-बार निन्दा की गई है।[6] अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण को स्वरूपवान् , कर्मठ, वेदज्ञ, एवं आचारवान् होना चाहिए। क्षमा ही ब्राह्मण का मूल धर्म बताया गया है।

"प्रियाप्रियेषु साम्येन क्षमाहि ब्राह्मणः पदम्"।[7]

किन्तु जीविकोपार्जन के लिए वर्णेतर व्यवसाय अपनाने वाले ब्राह्मणों की संख्या भी कम नहीं। उस समय इसे निन्दित नहीं माना जाता था। वीरवर ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय का कर्म करता है।

क० स० सा० के अनेक उदाहरणों से पता-चलता है कि ब्राह्मणों के घरों में यज्ञाग्नि अहर्निश जलती रहती थी एवं अग्निहोत्र उनका दैनिक कर्तव्य था।[8] अलबरुनी[9] के अनुसार गुरु गृह में रहते हुए छात्र प्रातः एवं सायंकाल अग्निहोत्र कर्म करते थे। यह अग्नि यावज्जीवन जलती रहती थी, तथा मृत्यु के बाद उनका अन्तिम संस्कार इसी अग्नि से किया जाता था।

विशेष सुविधायें—प्राचीन काल से ही ब्राह्मण कुछ विशेष सुविधाओं के अधिकारी थे। राजनैतिक, धार्मिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में उन्हें अनेकानेक सुविधायें प्राप्त थीं। मध्यकाल में भी उनकी ये सुविधायें यथावत् बनी रहीं। अभिषेकोत्सव में ब्राह्मण पुरोहितों को प्रमुख रूप से सम्मिलित होना पड़ता था। ब्राह्मण, मन्त्री, सेनापति, दण्डाधिकारी आदि प्रमुख पदों पर प्रतिष्ठित

---

१. क० स० सा० ६।१।१८. "यत् ब्राह्मणान् परित्यज्य श्रमणान् शश्वदर्चसि।"

२. क० स० सा० ६।१।२२. "ब्राह्मण्यमपि तत्प्राहुर्यद्रागादि विवर्जनम् , सत्यं दया च भूतेषु न मृषा जाति विग्रहः।

३. मनु—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्। १।८८.

४. स० सूत्रधार—६-१०. ५. शु० नी० ४।४३६. ६ क० स० सा० ९।२।११३. ७. वही ६।४।३६.

८. क० स० सा० १८।५।९१, १२।१५।३, १२।६।५८, ९।६।१७७. ९. Sachau vol. 1, Page 102.

थे। आवश्यकतानुसार वे शस्त्र भी ग्रहण करते थे। श्रीदत्त ब्राह्मण होने पर भी शस्त्र विद्याओं में एवं मल्ल युद्ध में अद्वितीय हो गया।[1] प्राचीन शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण मृत्युदण्ड के अधिकारी नहीं हैं। कृत्य कल्पतरु[2] के अनुसार ब्राह्मणों के लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था प्रतिषिद्ध है।

कथासरित्सागर में भी ब्राह्मण अवध्य बताये गये हैं।

शान्त दूतश्च विप्रश्च न वध्य इति जल्पता[3]

किन्तु कुछ ऐसी भी कथायें हैं, जिसमें ब्राह्मणों को भी मृत्युदण्ड दिया गया है। राजा विक्रम शक्ति "कालनेमि ब्राह्मण को मृत्युदण्ड देता है।[4] ब्राह्मण सोमदत्त[5] को मृत्युदण्ड दिया जाता है। फिर भी इन्हें अपवाद ही माना जायगा। मध्ययुग में ब्राह्मणों को यह विशेष सुविधा प्राप्त थी।[6]

धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों को एकाधिकार प्राप्त था। पौरोहित्य कर्म इनकी जीविका का अंग बन चुका था। सभी वर्णों के लोगों की शिक्षा का दायित्व इन्हीं पर था। आर्थिक दृष्टि से ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। कथासरित्सागर में सम्पन्न एवं दरिद्र दोनों तरह के ब्राह्मणों की चर्चा है। ब्राह्मण मठों की संख्या भी कम नहीं थी जहाँ उनके भोजनादि की व्यवस्था की जाती थी। शक्तिदेव सत्यव्रत ब्राह्मण से एक ब्राह्मण मठ में रुकने का आग्रह करता है।[7] इसी प्रकार राजा आदित्यसेन ब्राह्मण मठ में पहुँचता है।[8] ब्राह्मण को भोजन की चिन्ता नहीं रहती थी। एक वेदपाठी ब्राह्मण से एक वेश्या का दलाल कहता है "ब्राह्मण्याद् भोजनं तावदस्ति ते तत्त्वयामुना"[9] बहुत से "अन्नसत्र" भी थे जहाँ ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था थी। इन्हें निवास एवं जीविका के लिए राजा की ओर से भूमि दी जाती थी, जिसे "अग्रहार" कहते थे। उन्हें ब्रह्मस्थल भी कहते थे। दान के रूप में ब्राह्मणों को सोना[10] चाँदी से लेकर कपड़ा[11] तक मिलता था।[12] विशिष्ट अवसरों पर ब्राह्मणों को भोजन कराकर उनकी विधिवत् पूजा की जाती थी। उपकोशा ब्राह्मण-भोजन के लिए वनिये से धन लेती है।[13] ब्राह्मण वर्णेतर कन्याओं से विवाह कर सकता था। राजा आदित्यसेन ब्राह्मण विदूषक को अपनी पुत्री देता है। इस प्रकार वह कई राजकन्याओं से विवाह कर सकता था। ब्राह्मण विदूषक राजा बन जाता है।[14]

ब्राह्मणों को बहुविवाह की छूट थी। एक साथ कई पत्नियाँ रख सकते थे। रुद्रशर्मा ब्राह्मण को दो स्त्रियाँ थीं।[15] यह अपनी-अपनी आर्थिक क्षमता पर निर्भर करता था। अग्निदत्त, गुणशर्मा ब्राह्मण से कहता है कि "पति के धनवान होने पर ही सौतें होती हैं। दरिद्र तो एक स्त्री का भरण-पोषण भी कष्ट से करता है बहुत सी स्त्रियों की तो बात ही क्या।[16] इस प्रकार बहुविवाह समाज

१. क० स० स० २।२।१५. २. कृत्य कल्पतरु, राजधर्मकाण्ड पृ० ९१. ३. क० स० सा० ८।३।१६६

४. वही २।५।६०. ५. वही ३।६।१७. ६. ग्या० स० भा० पृ० १०८.

७. क० स० सा० ५।२।६३ "सुलभातिथि सत्कारं द्विजो विप्रमठं ययौ"। ८. वही, ३।४।१०४,

९. वही, १।६।५२. १०. वही, १२।१५।३ "अंगदेशेऽग्रहारोस्ति महान् वृक्षघटाभिधः"।

११. क० स० सा० १२।२०।४. तस्य ब्राह्मण भूयिष्ठे राष्ट्रे ब्रह्मस्थलाभिधः। अग्रहारो भवत् तत्र…

१२. वही, १६।५२, ३. वही ९।२।१००, १३. वही, १।४।४३. १४. वही, ३।४।४०३.

१५. वही, २।६।३६. १६. वही, ८।६।२०८,

से स्वीकृत था। अलवीरुनी ने भी ब्राह्मणों के इस सामाजिक अधिकार का समर्थन किया है।[1] देवल ने ब्राह्मणों के इस विवाह सम्बन्धी विशेषाधिकार का समर्थन किया है।[2] ब्राह्मणों की बौद्धिक श्रेष्ठता के कारण हर क्षेत्र में विशेषाधिकार प्राप्त थे।

तत्कालीन ब्राह्मणों का स्वरूप :

सांस्कृतिक जीवन के केन्द्रविन्दु, सामाजिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक एवं धार्मिक धरोहर के सजग प्रहरी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में, कथासरित्सागर में वर्णित विप्रवर सोमदेव की तीखी व्यंग्यात्मक उक्तियाँ, पर्याप्त प्रकाश डालतीं हैं। हो सकता है चरित्र से दुर्बल, पथभ्रष्ट ब्राह्मणों की संख्या थोड़ी ही रही हो, किन्तु वे थोड़े ही लोग समस्त ब्राह्मण समाज के कलंक बन गये थे। समाज इनकी दुर्बलताओं को सहन नहीं कर पा रहा था। यदि मार्गदर्शक ही चारित्रिक दुर्बलताओं के शिकार हो गये तो सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला ही हिल उठेगी। अतः सोमदेव ने बड़ी ही निष्पक्षता से इनकी हीनदशा का चित्रण किया है।

ब्राह्मण पुत्रक के पिता, धन के लोभ में पुत्र को ही मार डालना चाहते हैं। वह किसी तरह बच निकलता है। वह किसके यहाँ आश्रय ले, समझ नहीं पा रहा है। उसे अब किसी पर विश्वास नहीं रहा। वह कहता है "वेश्यायें तो ठगनेवाली हैं, ब्राह्मण भी मेरे पिता के समान विश्वासघाती और लोभी हैं। "वंचनाप्रवणा वेश्या द्विजा मत्पितरो यथा"[3] इस प्रकार ब्राह्मण अधिकांशतः लोभी हो गये थे। वेदपाठी ब्राह्मण स्वभावतः भय कठोरता और क्रोध के घर बताये गये हैं।[4] सृष्टि के आरम्भकाल से ही, मोक्ष मार्ग के विरोधी काम और क्रोध, ब्राह्मणों में दैवयोग से प्रकृति सिद्ध होते हैं।[5] काम क्रोध आदि छह पशुओं से ठगे हुए ऋषिगण भी जब मोहित हो जाते हैं तब वेदपाठी ब्राह्मणों की बात ही क्या।[6] मठवासी ब्राह्मण अपनी-अपनी प्रधानता चाहते हुए परस्पर झगड़ने लगते हैं। ब्राह्मण एक गुट बनाकर गावों के कार्य में बाधा डालने लगते हैं।[7] ब्राह्मण पुत्र जुआड़ी हो जाता है।[8] पुजारी लम्बी दक्षिणा के लोभ में असमय में मन्दिर खोल देता है।[9] इस प्रकार के अन्यान्य चरित्रहीनता के उदाहरण देखने को मिलते हैं। शास्त्रज्ञता होने पर भी ब्राह्मणों की अलौकिकता सर्वत्र प्रसिद्ध थी। एक वेदपाठी ब्राह्मण वेश्या के यहाँ सामगान करने लगता है।[10] ब्राह्मणों में तन्त्र-मन्त्र, हठयोग, भूतप्रेत सिद्धि आदि की विशेष प्रवृत्ति देखने को मिलती है। तन्त्र-मन्त्र साधना का इन पर विशेष प्रभाव पड़ने लगा था। विशेष सुविधाओं का उपयोग करने पर भी ब्राह्मणों को भी सामाजिक दण्ड देने की व्यवस्था थी। ब्राह्मण हर स्वामी को बच्चों के वध के अभियोग में देश निकाला की सजा दी जाती है।[11]

क्षत्रिय—वर्णव्यवस्था में ब्राह्मणों के बाद द्वितीय स्थान क्षत्रियों को ही प्राप्त है। उपनयन के अधिकारी होने से इनकी गणना द्विजाति में की गई है। प्राचीन काल से ही देश और समाज की रक्षा

---

१. A. J. Val. I page 155. २. द्वे० घृ० र० पृ० ८५. ३. क० स० सा० १।३।५४.
४. वही ३।४।१०८ "भयकार्कश्य लोभानां गृहंहि छान्दसा द्विजाः" ५. वही ३।६।१३०.
६. क० स० सा० ३।६।१३४. ७. वही ३।४।१३० "संघर्पात्तैरवाध्यन्त ग्रामा दुष्ट ग्राहैरिव"
८. वही ५।३।१९६. ९. वही २।५।१७३. १०. वही १।६।५७–५८. ११. वही ५।१।२१४.

का भार क्षत्रियों पर ही था। प्रजा की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना एवं सांसारिक विषयों में चित्त न लगाना, क्षत्रियों के कर्म बताये गये हैं।[१]

मनु, पाराशर, बोधायन आदि को उधृत करते हुए लक्ष्मीधर का कथन है कि राजा के रूप में उनका विशेष कर्त्तव्य है, शस्त्र धारण करना, देश का निष्पक्ष शासन करना और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना। क्षत्रिय को ईश्वर एवं ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए।[२]

शुक्र के अनुसार जो लोक की रक्षा करने में दक्ष, वीर, दान्त, पराक्रमी, दुष्टों को दण्ड देने वाला हो, वही क्षत्रिय है।[३] पराशर के अनुसार क्षत्रियों को चाहिए कि प्रजा की रक्षा करे हाथ में शस्त्र धारण करे, दण्ड भलीभाँति दे और दूसरे की सेनाओं को जीतकर धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करे।[४]

मध्ययुग में भी क्षत्रिय के लिए पूर्वोक्त कर्मों का विधान था। कथासरित्सागर तो क्षत्रिय राजाओं के चरित्र का अजायबघर है। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति में ही बताया गया है कि क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः"[५] अर्थात् विनाश से बचाने वाले को क्षत्रिय कहते हैं। क० स० सा० में भी ब्राह्मण का कर्तव्य क्षमा एवं क्षत्रिय का धर्म आपत्ति से रक्षा करना बताया गया है।[६] देशों को जीतना क्षात्र धर्म है शत्रु को पीठ दिखाना नहीं।[७]

इन कर्तव्यों से हीन क्षत्रिय सम्मान का अधिकारी नहीं था। पद्मरति कहती है "मेरी जाति का क्षत्रिय गुणी तो है, किन्तु वह सेवा से जीवन व्यतीत करने वाला, दरिद्र और प्राणों को बेचने वाला है, अतः निन्दनीय है"।[८]

क्षत्रिय न तो किसी से कुछ मांग ही सकता था न दान ही ले सकता था। काल ब्राह्मण राजा इक्ष्वाकु से मांगने को कहता है। राजा सोचने लगता है "मैं देता हूँ और यह ब्राह्मण लेता है, यह क्रम तो उचित है, किन्तु यह विपरीत क्रम है कि यह दे और मैं लूँ।"[९]

विवाह सम्बन्धी विशेष सुविधा इन्हें प्राचीन काल से ही प्राप्त है। बहुविवाह सामान्य बात थी। विवाह प्रकारों में "गान्धर्व विवाह" क्षत्रियों में विशेष प्रचलित था।

वैश्य—व्यावसायिक और कृषि कर्म का भार वैश्य वर्ण के ऊपर था। उपनयन का विधान होने से इनकी गणना भी द्विजाति में की जाती थी। देश और समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ रखना इनका परम कर्त्तव्य था। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना ब्याज लेना और खेती करना

---

१. मनु० १।८९ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च याज्ञ० ५।११८–१९
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः। कौ० अ० १।३।६

२. कृत्य कल्पतरु—गृहस्थ, पृ० २५३. ३. शु० नी० १।४१. ४. पा० स्मृ० १।६६.

५. रघु० २।५३. ६. क० स० सा० १०।१०।१६ "ब्राह्मं शीलं क्षमा नाम क्षात्रमापन्न रक्षणम्।

७. क० स० सा० १०।३।७० "तात न क्षत्रियस्येष धर्मो यदजिगीषुता"

८. क० स० सा० ९।२।१११ तृतीयस्तुल्य वर्णो मे भवति क्षत्रियो गुणी। किन्तु सेवोपजीवी स दरिद्रः प्राणविक्रयी।

९. क०स०सा० ८।२।१०२ अहं ददामि विप्रोऽयं गृहणातीत्युचितो विधिः। विपरीतमिदं गृह्णामि अहमेष ददाति यत्।

ये सात कर्म प्राचीन काल से ही वैश्यों के लिए नियत थे।[1] किन्तु बारहवीं सदी तक आते-आते वैश्यों के कर्मों में अन्तर आ गया। उनका मुख्य कार्य व्यवसाय ही रह गया।

कथासरित्सागर कालीन वैश्य मुख्यतः व्यवसायी थे। व्यापार कला में निपुण थे। सुप्रतिष्ठित नगर में बनिये अपनी-अपनी व्यापार कला का चातुर्य बता रहे हैं।[2] अर्थलोभ ज्यादा बढ़ गया था। पुत्रक कहता है कि बनिया धन के लोभी हैं। वैश्य के लिए व्यापार ही एकमात्र व्यवसाय बताया गया है।[3] एक मरे हुए चूहे से भी धनी बना जा सकता है। अधिक सम्पन्न "महावणिक्"[4] कहे जाते थे।

व्यापार के लिए प्रवास आवश्यक माना जाता था। प्राण संकट में डालकर भी द्वीपान्तरों की यात्रा कर अर्थोपार्जन करते थे। "बाण के शब्दों में कहा जाय तो उनके पैरों में मानों कोई द्वीपान्तर संचारी पादलेप लगा हुआ था। वे यह मानते थे कि द्वीपान्तरों की यात्रा किये बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती।"[5] द्वीपान्तर यात्रा के प्रसंगों से कथासरित्सागर भरा पड़ा है।[6] मार्ग में दैवी विपत्ति के अतिरिक्त जंगली लुटेरों का भी भय बना रहता था।[7] इनमें अर्थ संचय की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ गई थी, जिसकी बार-बार निन्दा की गई है। अर्थवर्मा और भोगवर्मा वैश्य की कथा में बताया गया है कि धनलक्ष्मी से भोग लक्ष्मी श्रेष्ठ है।[8] धर्म की कमाई सन्तान परम्परा तक नष्ट नहीं होती और पाप की कमाई पत्ते पर पड़ी ओस की बूंद के समान विनाशशील होती है।[9] इस प्रकार व्यापार करने वाले वैश्यों के लिए धनोपार्जन की एक आचारसंहिता थी, जिसका पालन सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक समझा जाता था।

डॉ० अल्तेकर[10] और धुर्ये[11] का "मध्यकाल में वैश्य निश्चित रूप से शूद्र की स्थिति तक आ गये" कहना ठीक नहीं लगता। कथासरित्सागर के अध्ययन से स्पष्ट है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के समान ही वैश्यों का भी समाज में सम्मान था। राजा भी वैश्य-कन्या से विवाह करते हैं।[12] इन्हें लक्ष्मी का पात्र समझा जाता था।[13] ब्राह्मण, क्षत्रियों के समान ही इनका भी संस्कार किया जाता था। इसी से द्विज कहे जाते थे।

शूद्र—सभी वर्णों में शूद्र का स्थान अन्तिम है। महत्व की दृष्टि से भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के बाद इनकी गणना की जाती है। वर्णाश्रम व्यवस्था में इनका स्वरूप एवं कर्त्तव्य भी स्पष्टतः प्रतिपादित

---

१. मनु० १।९०, कौ० अ० १।३७, शु० नी० १।४२.
२. क० स० सा० १।६।२७ अन्योन्यं निजवाणिज्यकलाकौशलवादिनाम् ।
३. क० स० सा० १।६।३३ वणिक् पुत्रोऽसि तत् पुत्र वाणिज्यं कुरु साम्प्रतम् । ४. क०स०सा० १२।२४।८.
५. वही, भूमिका वा० रा० क० पृ० १० "अब्भ्रमणेन श्री समाकर्षणं भवति"
६. वही, ११।१।४०, ६।८।१३. ७. क० स० सा० ९।४।१२४.
८. तदेवं भोगसम्पन्ना श्रीरप्यल्पतरावरम् । न पुनर्भोगरहिता सुविस्तीर्णाप्यपार्थका । ९. वही, ३।५।५०.
१०. The Rashtrakutas and their Times P. P. 332-33.
११. Shudra caste and class in India 1957. १२. क० स० सा० ४।१।५८.
१३. वही ४।१।५६ वाणिज्यं तु फुल्लीव स्थिरा लक्ष्मीरनन्यजा ।

है। मनु के अनुसार शूद्र का एकमात्र कर्त्तव्य, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों की सेवा करना है।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति,[2] महाभारत[3] आदि में भी समान विचार निर्दिष्ट है। शुक्र के अनुसार शूद्र का प्रधान कर्त्तव्य द्विज वर्ग की सेवा करना है।[4] इनके कर्त्तव्यों को और स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "अपने मान का ध्यान न रखने वाले, पूर्णरूप से पवित्र न रहने वाले, धर्म से विरत रहने वाले शूद्र कहलाये। कौशल दिखाकर मुख से विशेष प्रकार की आवाज निकाल कर, कारीगरी और पशुपालन से जीविका चलाना, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की सेवा करना उनका धर्म है।[5]

कथासरित्सागर कालीन भारत में भी शूद्रों का स्वरूप बहुत कुछ प्राचीन मान्यता के अनुसार ही था। अन्य वर्णो की तुलना में इनकी सामाजिक दशा अवश्य ही निम्न थी। अनुचित कार्य करने वाले की तुलना शूद्र से की जाती थी। शूद्रों के साथ उच्च वर्ण के लोगों का उठना बैठना भी अमर्यादित कार्य था।

मूर्ख शूद्रों के साथ बैठे हुए सोमदत्त ब्राह्मण को देखकर उसके पिता का मित्र डाँटता हुआ कहता है" अग्निदत्त के पुत्र होकर शूद्रों का सा व्यवहार करते हो[6] ? वररुचि मृत राजा नन्द के शरीर में प्रवेश कर जाता है। शकटार वररुचि के शरीर को जलवा देता है। वररुचि शोक प्रकट करता हुआ कहता है—मैं ब्राह्मण होकर भी शूद्र हो गया।[7]

अधिकार और कर्त्तव्य की दृष्टि से भी वे समाज में उपेक्षित होकर निचले स्तर में थे। फिर भी ग्यारहवीं सदी में सुधार के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे। बौद्ध धर्म ने समाज के इस दलित वर्ग में नवीन आशा का संचार किया। बौद्ध धर्म इनके बीच तेजी से फैल रहा था। वैदिक धर्म के लिए यह एक चुनौती बन गया। शूद्र कहे जाने वाले लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर समाज में दूसरे स्तर पर आ गये। यद्यपि व्यापक वैदिक धर्म से विरोध होने के कारण बौद्धों के प्रति भी समाज में बहुत सम्मान नहीं था फिर भी शूद्रों की अपेक्षा अवश्य ही अच्छी स्थिति में थे। शूद्र शब्द ही कुत्सा व्यंजक हो गया था। कम से कम इन हीन विशेषण से मुक्ति मिल जाती थी। साथ ही साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित अन्य वर्ण के लोगों के साथ समानता का भाव उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था।

वितस्तादत्त नामक धनी वैश्य बौद्ध हो गया था। उसका पुत्र रत्नदत्त वैदिक-धर्म में आस्था रखता था। पिता की निन्दा करता हुआ रत्नदत्त कहता है "स्नान शौच आदि से हीन और अपने समय पर भोजन के लोभी, शिखा और केशों को मुड़वाकर केवल कोपीन पहननेवाले नये विहारों में स्थान मिलने के लोभ से सभी नीच जाति के व्यक्ति जिस बौद्ध धर्म को ग्रहण करते हैं, उससे हमारा

१. मनु० १।९ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्मसमृद्धिगत्, एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।

२. याज्ञ० स्मृ० ५।१२०. ३. म० भा० शा० प० ७२।८. ४. शु० नी० १।४३.

५. स० सू० ७।१५–१६ नातिमानभूतो नातिशुचयः पिशुनाश्च ये। ते शूद्रजातयो जाता नाति धर्मरताश्च ये।
कलरम्भोपजीवित्वं शिल्पिता पशुपोषणम्। वर्णत्रितय शुश्रूषा धर्मस्तेषामुदाकृतः।

६. क० स० सा० ३।६।१२ एकदा बद्ध गोष्ठीकं शूद्रैः सह विलोक्य तम्, सोमदत्तं पितृसुहृद् द्विजः कोप्येवमब्रवीत् अग्निदत्त सुतो भूत्वा शूद्रवत् मूर्ख चेष्टसे। ७. वही १।४।११७ शूद्रीभूतोऽस्मि विप्रोऽपि

क्या प्रयोजन ?[1]

शूद्र व्यापार तो करते ही थे। पंचपट्टिक नामक शूद्र कपड़ा बनाकर वेचता है।[2]

इस प्रकार मध्य युग में भी वर्णव्यवस्था का आधार प्राचीन शास्त्रानुसार ही था। "विचार कर्म और आचार-व्यवहार में युगानुरूप भिन्नता तो आई, किन्तु उनका मूल उत्स सदियों से चली आती हुई प्राचीन धारा से ऊत्प्रेरित रहा। हिन्दू समाज का विभाजन जो प्राचीन काल में चार वर्णों में किया गया था वह तद्वत् ही रहा। उनके कार्यक्रम में यत्रतत्र अवश्य परिवर्तन आये। ये परिवर्तन वास्तव में क्रान्तिकारी थे।[3]

अन्त्यज—डोम्ब, चण्डाल आदि जातियाँ "अन्त्यज" या अस्पृश्य कही गई हैं। धर्मशास्त्रकारों ने इन्हें अस्पृश्य माना है। स्पर्श हो जाने पर स्नानादिक आवश्यक बताये गये हैं। "अपरार्क का कथन है कि चाण्डाल, पुक्कस, भित्त पारसी महा पातिकियों से छू जाने पर सवस्त्र स्नान करे। अत्रि का मत है कि चाण्डाल, पतित, म्लेच्छ, मद्यभाण्ड रजस्वला और स्वपाक से छू जाने पर स्नान करना चाहिए।'

कथासरित्सागर के समय भी इन जातियों का पूर्ववत् ही सामाजिक बहिष्कार था। इन्हें अन्त्यज[3] कहा गया है। नगर या ग्राम से अलग इन्हें रखा जाता था। जहाँ ये निवास करते थे उसे चाण्डाल वाटक[4] कहा गया है। समाज से अलग रहते हुए भी कुछ विशेष कार्यों के लिए इन्हें बुलाया जाता था। इनमें भी कुछ उच्च वर्ग के अन्त्यज थे कुछ निम्न वर्ग के। रजक, धीवर, नाविक आदि उच्च वर्ग के अन्त्यज हैं, चाण्डाल, डोम्ब आदि निम्न वर्ग के।

साधारणतः इनकी सामाजिक स्थिति हीन तो थी ही—कभी-कभी अपवाद स्वरूप इनमें एकाध अच्छे आचरण वाले भी हुए। एक चाण्डाल तपस्वी हो गया।[5] कभी-कभी किसी रूपवती चाण्डाल कन्या के प्रति उच्च वर्ग के लोग आकृष्ट हो गये। "पूर्व जन्म में वह अवश्य कुलीन रही होगी" इस प्रकार इस समस्या का समाधान भी ढूंढ़ निकाला गया। अवन्तिवर्धन चाण्डाल कन्या सुरतमंजरी के प्रति आकृष्ट हो गया।[5] इसी प्रकार राजकुमारी कुरंगी एक चाण्डाल द्वारा हाथी से बचा ली जाती है। पूर्वजन्म के आधार पर दोनों में विवाह हो जाता है। सुरतमंजरी का पिता विवाह की शर्त रखता है कि एक हजार ब्राह्मण हमारे यहाँ भोजन करें। समस्या कठिन हो जाती है। ब्राह्मण, चाण्डाल के यहाँ भोजन कैसे करें? आकाशवाणी उसे विद्याधर बताती है। तब कहीं समाधान हो पाता है। किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद ही हैं। उच्चवर्गीय समाज इन्हें घृणा की दृष्टि से ही देखता था।

कथासरित्सागर में वर्णित जातियाँ—कथासरित्सागर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों का उल्लेख प्रमुख रूप से मिलता है। कुछ उपजातियों के नाम भी आये हैं, जो पेशे के आधार पर गठित प्रतीत होती हैं। उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

---

१. क० स० सा० ६।१।१९-२० स्नानादि यन्त्रणा हीनाः स्वकालाशनलोलुपाः। अपास्तसविलाद्येपकेशकोपीन सुस्थिताः। विहारास्पद लोभाय सर्वेप्यधमजातयः, यमाश्रयन्ति किं तेन सौगतेन नयेन ते।

२. वही १२।१६।२४।

३. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० १२१. ४. क० स० सा० १६।२।८३, ५. वही १६।२।८०

६. वही ६।१।१२३.

कुम्भकार (४·१·१३४) मुख्यतः मिट्टी के पात्र बनानेवाली जाति कुम्भकार है। भापा में इसे कुम्हार कहा जाता है। प्राचीन समय में मिट्टी के वर्तनों का उपयोग अधिक था। कथासरित्सागर में भी कुम्हारिन मिट्टी के पात्र लेकर राजभवन में पहुँचती है।

कुविन्द (१२·१६·३५) जुलाहा को कथासरित्सागर में कुविन्द कहा गया है। वस्त्र बुनने का व्यवसाय इन्हीं के हाथों में था।

नापित (६।६।१४१) यह स्पृश्य शूद्र है। कथासरित्सागर में यह जाति अपनी जन्मजात चतुराई के लिए प्रसिद्ध है।

मालाकार (७·४·८५) कथासरित्सागर में पुष्पप्रसाधन का विशेषज्ञ मालाकार का उल्लेख कई बार किया गया है।

तक्षक (१·६·४३) लकड़ी के कार्यों का विशेपज्ञ तक्षक या बढ़ई था।

घोस या गोपालक (३·४·२८) किरात (२।१।७४-७५), शबर (१२।३१,१५) भील (१।७।२६)।

पुलिन्दक (४·२·६४) पुलिन्द (२।३।४५)।

कथासरित्सागर में इन जंगली जातियों का बार-बार उल्लेख हुआ है। इनका परस्पर विरोधी चरित्र मिलता है। भिल्ल दस्यु हैं। कभी-कभी नीच जाति के शान्तिप्रिय व्यक्ति के रूप में भी चित्रित हैं। कहीं-कहीं वड़ा ही सभ्य एवं सुसंस्कृत रूप भी मिलता है। ये दुर्गा के सामने वलि चढ़ाते हैं। नरवलि चढ़ाने का उल्लेख भी है। वसुदत्त को वलि चढ़ाने के लिए पुलिन्द जाति के लोग पकड़ ले जाते हैं।[1]

किन्तु शवराधिप दया से पिघल जाता है। वह वसुदत्त के वदले अपना ही बलिदान चढ़ाने को उद्यत हो जाता है।[2]

इस प्रकार परस्परविरोधी चरित्र देखने को मिलता है। इनकी सुसंगठित सेना का उल्लेख भी है।[3] सबसे महत्वपूर्ण वात तो यह है कि वड़े-वड़े राजा भी इनकी सहायता पाने के लिए हाथ फैलाते हैं।[4] मुख्यतः इनकी निवास भूमि विन्ध्य के आसपास बताई गई हैं। ये निश्चय ही यहाँ की आर्येतर मूल जातियां हैं। आर्य और अनार्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से परस्पर रीति रिवाजों का अदान-प्रदान हुआ। सर टेम्पल ने आर्येतर सांस्कृतिक प्रथाओं की, पहचान की है, जिन्हें आर्यों ने अपनाया। उनके अनुसार गान्धर्व विवाह, शिव की नरमुण्डमाला, परकाय प्रवेश क्रिया, संकेत भापा, पैशाच भापा, तंत्र मंत्र सिद्धि आदि आर्येतर संस्कृति[5] की देन है।

किरात, पुलिन्द आदि निश्चय ही यहाँ की आदि जंगली जातियाँ हैं। सांप पकड़ना इनका विशेप व्यवसाय है। राजा उदयन किरात द्वारा पकड़े गये सर्प को छोड़ देने को कहते हैं। किरात उत्तर देता है यह तो हमारी जीविका है[6]। एटकिन्सन ने इन सभी नागपूजक जातियों को किसी एक ही जाति से

---

१. क० स० सा० २।२।६४ "तत्राहमुपहारार्थमुपनीतो निजस्य तैः, प्रभो पुलिन्दकाख्यस्य देवीं पूजयतोऽन्तिकम्।

२. वही २।२।६६ "ततो मां मोचयिष्यैव वधात् स गणराधिपः, ऐच्छदात्मोपहारेण कर्तुं पूजा समापनम्।

३. क० स० सा० १०।३।४४. ४. O. S. Vol. IX For. Page X.

५. O. S. Vol. I For. ६. क० स० सा० २।१।७६.

उत्पन्न माना है।[१]

रजक—वस्त्रों की सफाई का कार्य रजकों के ऊपर था। यही इनकी जीविका रही है। समाज की सेवा करने में धोबियों का वर्ग प्राचीन काल से ही प्रमुख रहा है।[२] मध्ययुग में भी इनकी सामाजिक स्थिति पूर्ववत् थी। कथासरित्सागर में धोबिन का उल्लेख है।[३]

धीवर– (मछुआ) (६. २. ३२३) मछली का व्यवसाय करने वाले धीवर कहे जाते थे। अस्पृश्यों का यह वर्ग भी प्राचीनकाल से ही रहा है। उनकी उत्पत्ति ब्राह्मण पुरुष और शूद्र कन्या से बताई गई है।[४] मनु के अनुसार निषाद नाम के अन्त्यज मछली पकड़ने का कार्य करते थे।[५] कथासरित्सागर में भी मछली व्यवसायी के रूप में चित्रित हैं।

नाविक, रजतकार, स्वर्णकार आदि व्यवसायप्रधान जातियों का उल्लेख भी मिलता है। अन्त्यजों में कुछ निम्नवर्ग के अन्त्यज थे। इनकी उत्पत्ति शूद्र पुरुष और ब्राह्मणी स्त्री के अनुचित सम्बन्ध से हुई। मनु के अनुसार शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या से उत्पन्न पुत्र क्रमशः आयोगव, क्षता, और मनुष्यों में नीचतम चाण्डाल वर्णसंकर हैं।[६]

डोम्ब (२।४।७६) यह भी प्राचीन जाति है, जिसका उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है।[७] राजतरंगिणी के उल्लेख के अनुसार इसका कार्य निम्न ही था। क० स० सा० में भी नीच कर्म करनेवाली जाति के रूप में चित्रित है।

चाण्डाल (६।१।१०३) इनकी भी गणना अन्त्यजों में की जाती है। बाण ने अपनी कादम्बरी में चाण्डाल को "स्पर्शवर्जित" के साथ-साथ बाँस की छड़ी बजाकर अपने आने की सूचना से दूसरों को सावधान करने की बात कही है।[८] इनका मुख्य पेशा राजदण्ड पाये हुए अपराधियों का वध करना है।[९] कथासरित्सागर में भी वध के अवसर पर चाण्डाल ही आते हैं।

कथासरित्सागर के समय तक कुछ विदेशी जातियाँ भी आकर यहाँ बस गई थी। उनमें म्लेच्छ[१०], हूण[११], तुरुष्क[१२], ताज्जिक[१३] प्रमुख हैं। म्लेच्छ संघ भी बन गये थे।[१४] इनका निवास उत्तर दिशा में बताया गया है।[१५]

---

१. Archeology of Kumaun. K. P. Narang Page 15. २. पा० भा० पृ० ९७.
३. क० स० सा० १८।५।१३२ तत्र बाह्ये सरस्येकां दृष्ट्वा स्त्रीं वस्त्रधाविनीम्।
४. मनु० १०।८. ५. मनु० १०।४८. ६. मनु० १०।१२, ७. मनु० १०।१२
८. कादम्बरी, पृ० २१-१९. अमूर्तामिव स्पर्शवर्जिताम्, ९. मनु० १०।५६, १०. का० सा० सा० ७।३।३६.
११. क० स० सा० ३।५।१११. १२. वही, ६।३।३७, १३. वही, ७।३।३६, पैथि प्राप्येव ताज्जिकैः।
१४. वही, १८।१।३८। १५. वही, ७।३।४८.

चतुर्थ परिच्छेद

आश्रम :

प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को कर्म के अनुरूप चार आश्रमों में बाँटा है। वे हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनु[1] ने सभी का अलग-अलग वर्णन किया है। इन चार आश्रमों को सौ वर्ष में विभाजित कर पच्चीस वर्ष तक प्रत्येक आश्रम में रहने का निर्देश दिया है। ब्राह्मणों के लिए इन आश्रमों का पालन आवश्यक था। अन्य तीन वर्णों के लिए केवल तीन आश्रम थे। उनके लिए संन्यासाश्रम का विधान नहीं था।[2] शुक्र के अनुसार विद्या के लिए ब्रह्मचर्य, सबके पालन के लिए गार्हस्थ्य, इन्द्रिय दमन के लिए वानप्रस्थ और मोक्ष सिद्धि के लिए संन्यासाश्रम है।[3] विहित न होने पर भी अन्य वर्ण के लोग भी संन्यासाश्रम ग्रहण करते थे।

कथासरित्सागर में भी सभी आश्रमों का क्रम पूर्ववत् वर्णित है। पहले ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। शिव गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना नहीं चाहता। पुरोहित कहता है क्या तुम आश्रमों का क्रम नहीं जानते ?[4] कथासरित्सागर में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोग भी संन्यासाश्रम ग्रहण करते हैं। राजा सहस्रानीक उदयन को राज्य देकर महाप्रस्थान के लिए हिमालय चले जाते है।[5] राजा उदयन, एवं नरवाहनदत्त आदि राजा पहले ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करते हैं, पुनः विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते हैं। इस क्रम का पालन न करना नियम विरुद्ध समझा जाता था। अपने विरक्त पुत्र को समझाता हुआ राजा अलंकारशील कहता है, "युवावस्था में गृहस्थाश्रम का उपभोग कर लेने के बाद ही वैराग्य लिया जाता है।[6]

ब्रह्मचर्याश्रम—आश्रमों में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है। यह शिक्षा ग्रहण करने का काल है। उपनयन संस्कार के बाद गुरुगृह में रहकर, ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करता था। पाँच वर्ष की प्रारम्भिक अवस्था से शिक्षा प्रारम्भ होती थी। ब्रह्मचारी को गुरुगृह में रहकर कुछ विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था। मनु के अनुसार गुरुगृह में रहता हुआ ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में कर तपोवर्धन के लिए कुछ नियमों का पालन करे।[7] ब्रह्मचारी के लिए नित्य भिक्षाटन, स्वच्छता के नियम, सन्ध्यापूजन के अनुसार उपासना पूजन यज्ञहोम आदि नियमों का उल्लेख लक्ष्मीधर[8] ने भी किया है। गुरुगृह में रहकर गुरु शुश्रूषा करते हुए ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे।[6]

कथासरित्सागर के समय भी ब्रह्मचारियों को पूर्वोक्त नियम पालन करना आवश्यक था। गुरुगृहों में रहकर वे विद्याध्ययन किया करते थे। पाटलिपुत्र में देवदत्त वेदकुम्भ नामक उपाध्याय की त्रिधि-

---

१. मनु० ६।८७.　　२. शु० नी० ४।३९-४०.　　३. शु० नी० ४।४१.

४. क० स० सा० ५।१।१५१ किं न वेत्स्याश्रमक्रमम्।

५. क० स० सा० २।२।२१७ "महाप्रस्थानाय क्षितिप निरगच्छत् हिमगिरिम्।"

६. क० स० सा० ९।१।३१ "उपभुक्ते हि तारुण्ये प्रशमः सद्भिरिष्यते।"

७. मनु० २।१७५.　　८. कृ० क० प्र० का० पृ० ११५–१२४.

वत् सेवा करता हुआ अध्ययन करता है।[1] इसी प्रकार कुण्डिनपुर नगर में एक उपाध्याय के घर सात ब्राह्मण पुत्र रहकर अध्ययन करते थे।[2] प्राचीन समय से ही गुरुगृह में रहकर वेदाध्ययन का विधान बताया गया है। तीनों वर्णों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का विधान था। राजा उदयन ने जमदग्नि ऋषि के आश्रम में धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।[3]

गृहस्थाश्रम—क्रम में गृहस्थाश्रम का दूसरा स्थान है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह प्रथम है। अन्य आश्रम इसी पर निर्भर थे। मनु[4] ने इसे ही सभी आश्रमों का आधार बताया है। क० स० सा० में गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम माना गया है।[5] गृहस्थाश्रम में धनोपार्जन की आवश्यकता बताई गई है। यह धनोपार्जन धर्म से ही किया जाना चाहिए।[6]

देवता, पितर एवं अतिथि पूजन गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य है। सुखी गृहस्थ का सुन्दर चित्र खींचा गया है। धर्मदत्त कहता है, कलह रहित होकर इस घर में अत्यन्त सुखी थे और देवता पितर तथा अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न को हम खाया करते थे।[7]

धर्म, अर्थ और काम ही गृहस्थ का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए, देवता, पितर एवं अतिथिपूजा आवश्यक है।[8] मनु के अनुसार भी ऋषि, देवता, पितर, अतिथि पूजन गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य है। इस आश्रम में व्यक्ति स्वाध्याय से ऋषियों को होम से देवताओं को, तर्पण से पितरों को, बलि से भूतों को तथा अन्न से मनुष्यों को सन्तुष्ट करता है।[9]

वानप्रस्थ—यह तीसरा आश्रम है। मनु के अनुसार जब बाल पकने की तैयारी करने लगें, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगें तब वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर वन की ओर चला जाना चाहिए।[10] कथासरित्सागर में अनेकानेक राजा अपने पुत्रों को राज्यभार सौंप वानप्रस्थ हो, वन की राह लेते हैं।

संन्यास—वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण कर आत्मलीन हो जाना ही मानव जीवन की सार्थकता है। सर्वकर्मफल का त्याग ही संन्यास है।[11] सभी इच्छाओं का परित्याग कर, ब्रह्मचर्य पालन करते हुए, एक ही स्थान पर अधिक दिनों तक न रहते हुए आत्मज्ञान में लीन व्यक्ति संन्यासी कहा गया है।[12] मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यासाश्रम ही उपयुक्त है।

कथासरित्सागर में भी संन्यासी का स्वरूप प्राचीन मर्यादा के अनुकूल ही है। वृद्ध होने पर राजा सारी इच्छाओं को त्याग संन्यस्त हो जाते हैं।

---

१. क० स० सा० १।७।५६ "सिषेवे वेदकुम्भाख्यमुपाध्यायं यथाविधिः"।

२. वही, ६।१।११४.   ३. वही, २।१।७२.

४. मनु० ३।७७ यथा वपुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथागृहस्थाश्रमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

५. क० स० सा० ५।१।१५२. "गृही ह्याश्रमिणां वरः"   ६. वही, ३।५।५०.

७. क० स० सा० ६।१।९२. अकलिप्रसरे गेहे सन्तोषः सुखिनोरभूत। देवपित्रतिथि प्रत्त शेषं प्रमितमदनतोः॥

८. क० स० सा० ५।१।१५२.   ९. मनु० ३।८०–८१.   १०. मनु० ६।१–२.

११. गीता १८ अ.   १२. वामन प्र० १४ अध्याय "शब्दकल्पद्रुम" में उद्धृत पंचम भाग, पृ० २५२.

पञ्चम परिच्छेद

संस्कार :

कहा गया है, जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, उपनयन से वह "द्विज" बन जाता है, वेदों के अध्ययन से वह विप्र बन जाता है और ब्रह्म के साक्षात्कार से उसे ब्राह्मण की स्थिति प्राप्त हो जाती है।"[1] मनु के अनुसार स्वाध्याय व्रत होम, देव और ऋषियों के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या एवं पंच महायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी बन जाता है।[2]

चाहे अशुभ प्रभावों के प्रतीकार की अभिलाषा रही हो या अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण हो, अथवा सांस्कृतिक, नैतिक आध्यात्मिक आवश्यकता ही क्यों न हो, इतना निश्चित है कि इन संस्कारों के पीछे बड़ी ही उदात्त भावना निहित थी, जो व्यक्तित्व निर्माण का अपेक्षित अंग था। आधुनिक मनोविज्ञान भी वातावरण एवं परिवेश को व्यक्तित्व निर्माण के लिए आवश्यक मानता है। संस्कार ऐसा वातावरण बनाने में सहायक हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि उचित संस्कार सन्निवेश के बिना सम्भव नहीं। वैयक्तिक जीवन को योग्य, गुणयुक्त एवं परिष्कृत बनाने में संस्कारों का योग अपरिहार्य है।

इस प्रकार दैहिक और भौतिक क्रियाओं को निष्पन्न करने के लिए मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न कालावधि में विभाजित कर अनेक संस्कारों की नियोजना हिन्दू समाज में की गई थी। संस्कारों की तुलना चित्रकर्म से करते हुए बताया गया है "जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारों द्वारा होता है।[3]

मुख्य संस्कार सोलह थे। वे हैं, गर्भाधान, पुंसवन, सोमंत, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूड़ाकर्ण, व्रतबन्ध (उपनयन) व्रत (चार) विद्यारम्भ, गोदान, समावर्तन विवाह तथा अन्त्येष्टि। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। वे हैं मलापनयन एवं अतिशयाधान। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन एवं चौलकर्म, मलापनयन के अन्तर्गत हैं। इन संस्कारों द्वारा मनुष्य की शुद्धि होती है। बाकी आठ अतिशयाधान संस्कार हैं। किसी वस्तु को सुन्दर बनाने की प्रक्रिया अतिशयाधान है।[4]

कथासरित्सागर के समय इन संस्कारों में से कुछ का महत्त्व यथावत् बना हुआ था। बाकी संस्कार कुछ विशिष्ट वर्ग में ही सिमट गये थे। उनका सार्वजनिक महत्त्व नष्ट हो चुका था।

ऋषि जमदग्नि, राजकुमार उदयन का सभी क्षत्रियोचित संस्कार करते हैं।[5] कथासरित्सागर में

---

१. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते।

२. मनु० २।२८. स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।

३. वीर मित्रोदय भाग १ पृ० १३९—
चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गै रुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्।

४. संस्कृति विमर्श—स्वामी करपात्री जी—हिन्दू संस्कृति अंक, गोरखपुर, पृ० ३५.

५. क० स० सा० २।१।७२ कृत्वाक्षत्रोचितान् सर्वान् संस्कारान् जमदग्निना, व्यनीयत स विद्यासु धनुर्वेदे च वीर्यवान्।

अधिकतर संस्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। यह मनुष्य की प्रवृत्ति एवं व्यवहार का वाचक बन गया था। विशिष्ट संस्कार (व्यवहार) के लिए पूर्वजन्म को कारण माना गया है।[1]

उपर्युक्त संस्कारों में उपनयन, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कारों की चर्चा अधिक हुई है।

उपनयन संस्कार—इस संस्कार को व्रतबन्ध, यज्ञोपवीत अथवा उपनयन कहा जाता है, जो अनियमित और अनुत्तरदायी की समाप्ति एवं नियमित गम्भीर और अनुशासित जीवन के प्रारम्भ का द्योतक था।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार उपनयन संस्कार में विद्यारम्भ की नियोजना होती है।[3]

पारस्कर के अनुसार उपनयन संस्कार ब्राह्मण के लिए आठवें वर्ष, क्षत्रियों के लिए ग्यारहवें और वैश्यों के लिए बारहवें वर्ष में करने का विधान था।[4] मुञ्ज की मेखला, दण्ड, पवित्री आदि का वर्ण के अनुसार अलग-अलग विधान था। बहुत सी शास्त्रीय विधियाँ पूरी कर इस संस्कार को सम्पन्न किये जाने का विधान है।

कथासरित्सागर में उपनयन[5] का स्वरूप प्राचीन मान्यता के अनुरूप ही है। ब्राह्मण वर्ग में यह संस्कार अनिवार्य माना जाता रहा है। यज्ञोपवीत ब्राह्मणत्व सूचक बन गया।



१. क० स० सा० ७।६।१०९. २. Education in ancient India : A. S. Altekar, PP. 19.
३. आ० ध० सू० १।१, १।१९. ४. पा० गृ० सू० २।२. ५. क० स० सा० १३।१।२०८.

षष्ठ परिच्छेद

विवाह

महत्त्व एवं स्वरूप :—विभिन्न संस्कारों में विवाह संस्कार सर्वप्रधान माना गया है। यह भारतीय सामाजिक सुव्यवस्था की रीढ़ है। सुखमय जीवन के लिए इसकी आवश्यकता पर आदि वैदिक युग से ही बल दिया गया है। मनुष्य जाति के विस्तार के लिए सुखमय पारिवारिक जीवन के लिए एवं नियमित यौन सम्बन्धों के लिए इस व्यवस्था की आवश्यकता स्पष्ट है।" धार्मिक चेतना का विकास होने पर भी विवाह निरी सामाजिक आवश्यकता ही नहीं रहा, अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति का अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाने लगा।"[1] जो व्यक्ति विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा गया है।[2]

धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकृत किये जाने के बाद विवाह केवल मनुष्य की यौन प्रवृत्ति का नियामक ही नहीं अपितु धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि का द्वार समझा जाने लगा। मनु के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का विधान है।[3]

प्राचीन समय से ही विवाह संस्कार के पीछे दो प्रमुख कारण रहे हैं। सर्वप्रथम धार्मिक कृत्यों में पत्नी की आवश्यकता अनिवार्य मानी जाने लगी। दूसरी अनिवार्य आवश्यकता पुत्र की प्राप्ति थी। पुत्र के अभाव में मानव जीवन की सफलता नहीं थी।

याज्ञवल्क्य स्मृति में उद्धृत श्लोक के अनुसार पत्नी धर्म अर्थ एवं काम की श्रेष्ठतम साधिका है। कोई भी अपत्नीक पुरुष चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो धार्मिक क्रियाओं का अधिकारी नहीं हो सकता था।[4] साथ ही साथ सन्तानोत्पत्ति के बिना पितृऋण से मुक्त होना सम्भव न था।[5] ब्रह्मचर्य से ऋषि ऋण, यज्ञ से देवऋण एवं सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण से मुक्त होने का विधान था। कथासरित्सागर के समय भी विवाह की प्राचीन मर्यादा अक्षुण्ण बनी रही। इसका वैयक्तिक, सामाजिक एवं धार्मिक महत्व समझा जाने लगा था। पत्नीरहित व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अत्यन्तहीन समझी जाती थी। सिंह-पराक्रम, विवाह की आवश्यकता पर बल देता हुआ कहता है" भार्या के बिना गृहपति का घर सूना माना जाता है। साथ ही क्या तुमने मूलदेव की कथा नहीं सुनी ?[6] जिस घर में कान्ता नहीं वह बिना हथकड़ी का जेल है।[7] गृहस्थाश्रम की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया गया है। अग्निदत्त विरक्त गुण शर्मा

---

१. हि० स० पृ० १९५.   २. तै० ब्रा० २. २. २. ६ अयज्ञियो वा एप योऽपत्नीकः   ३. मनु. ३।२.

४. पत्नी धर्मार्थ कामानां कारणं प्रवरं स्मृतम्। अपत्नीको नरो भूप कर्मयोग्यो न जायते ॥ या. स्मृ.

५. तै० सं० ६।३।१०।५. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते।

ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः ॥

६. क० स० सा० १२।३२।३१. तात, मैवमभार्यं हि शून्यं गृहपते गृहम्"

७. वही १२।३२।३२. यत्र घनस्तन जघना नास्ति मार्गावलोकिनी कान्ता, अजड़ः कस्तदनिगड़ं प्रविशति गृह संज्ञकम् दुर्गम्।

को समझाता हुआ कहता है—"देवता, पितर, अतिथि की सेवा व्रत एवं जप आदि से घर बैठे जो पुण्य की प्राप्ति हो सकती है वह अन्यत्र नहीं ।[1]

विवाह के उपरान्त ही मनुष्य देवता, पितर और अतिथियों की सेवा कर धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है । क्योंकि गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों में श्रेष्ठ है ।[2] कथासरित्सागर में गृहस्थाश्रम की बार-बार प्रशंसा की गई । वैवाहिक जीवन के बिना सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी ।[3]

सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा भी वैवाहिक जीवन की प्रेरणा देती थी । पुत्र आत्मा माना जाता था ।[4] धनदत्त नामक वैश्य पुत्रहीन होने से चिन्तित है । वह ब्राह्मणों को इकट्ठा कर पुत्र-प्राप्ति का उपाय पूछता है ।[5]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि कथासरित्सागर के समय वैवाहिक जीवन की आवश्यकता, सुखी पारिवारिक जीवन के लिए, धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थ सेवन के लिए आध्यात्मिक विधियों के लिए, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सन्तान प्राप्ति के लिए अनिवार्य समझी जाती थी ।

स्त्री और पुरुष दोनों का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरा अधूरा है । मनु के अनुसार केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं, अपूर्ण हैं । स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान तीनों से संयुक्त ही पूर्ण पुरुष होता है । घर की शोभा और सम्पन्नता स्त्री से ही सम्भव है ।[6] अतः विवाह गार्हस्थ्य जीवन का मूल है और सभी आश्रम गार्हस्थ्य जीवन पर ही अवलम्बित हैं ।[7] आश्रमों का क्रम से भोग आवश्यक माना गया है ।[8]

विवाह प्रकारों में अन्तर होने पर भी कथासरित्सागर के समय इसका स्वरूप एवं महत्व प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल ही था । सच पूछा जाय तो समस्त कथासरित्सागर विवाह संस्कार की उद्धरणी प्रस्तुत करता है । अधिकांशतः कथाओं का अन्त किसी न किसी तरह के विवाह से ही होता है ।

विवाह वय—वर के लिए ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का विधान बताया गया है ।[9] अतः वर की आयु साधारणतः पच्चीस वर्ष की होनी चाहिए । प्राचीन काल में प्रौढ़ा कन्याओं का विवाह हुआ करता था । क्रमशः यह आयु निम्नतर होती गई ।

---

१. वही ८।६।२२५. अन्यथा देवपित्रग्निक्रियाव्रतजपादिभिः । गृहे या पुण्यनिष्पत्तिः साध्वनि भ्रमता कुतः ॥

२. क० स० सा० ५।१।१५१. कृतदारो गृहे कुर्वन् देवपित्रतिथिक्रियाः, धनैस्त्रिवर्गप्राप्नोति गृही ह्याश्रमिणां वरः ।

३. वही, ९।१।३१. उत्तभुक्तेहि तारुण्ये प्रशमः सद्भिरिश्यते । ४. क० स० सा० ८।६।१९४. पुत्रोह्यात्मैव कथ्यते ।

५. वही, १।५।५५. ६. मनु ९।४५. ७. मनु ९।७४.

८. संस्कार मयूख ख० ६४ पर उद्धृत—

अनेन विधिना यो हि आश्रमानुपसेवते । स सर्वलोकान्निर्जित्य ब्रह्मलोकायकल्पते ॥

दक्ष स्मृति—त्रयाणाभानुलोम्यं स्याद् प्रातिलोम्यं विद्यते । प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात् पापकृत्तरः ॥

९. मनु० ४।१.

कथासरित्सागर के अनुसार ऋतुमती कन्या को घर में रखना उचित नहीं। परोपकारी नामक राजा अपनी पुत्री को जो विवाह करना नहीं चाहती, समझाता हुआ कहता है" बाल्यावस्था के अनन्तर पति के बिना पिता के घर पर कन्या का जीवन क्या है? पितृगृह में कन्या के ऋतुमती होने पर उसके बन्धु बान्धव अधोगति को प्राप्त होते हैं। वह कन्या वृषली (शूद्र) हो जाती है और उसके पति को वृषलीपति कहा जाता है।[१] जिस प्रकार निश्चित समय पर उपनयनादि संस्कार से हीन व्यक्ति व्रात्य कहे जाते थे, उसी प्रकार ऋतुमती कन्या अविवाहिता रहने पर "वृषली" कही जाती थी।

पाराशर स्मृति के अनुसार भी बारह वर्ष की अवस्था में रजोदर्शन होने पर शीघ्र कन्यादान का विधान बताया गया है। ऐसा न करनेवाला नरकगामी कहा गया है।[२] मनु[३] के अनुसार भी तीस वर्ष की अवस्था वाला पति बारह वर्ष की सुन्दरी कन्या से विवाह करे। वैसे मनु ऋतुमती होने पर भी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने की छूट देते हैं।[४] कथासरित्सागर के समय रजोदर्शन तक कन्या का विवाह कर देना उचित एवं अच्छा माना जाता था।

दहेज प्रथा—इसमें सन्देह नहीं कि विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष को दानस्वरूप इच्छानुसार धन देने की प्रथा कथासरित्सागर के समय प्रचलित थी, किन्तु आज की दहेज प्रथा के रूप में किसी प्रकार के निर्धारित शुल्क की माँग, देखने को नहीं मिलती। यह दान स्वेच्छा से किया जाता था। राजा पृथ्वीरूप एवं रूपलता के विवाह के अवसर पर रत्नों का दान किया जाता है। विवाह समाप्त होने पर कन्या के पिता राजा रूपधर ने बारात के सम्भ्रान्त व्यक्तियों का धन आदि से समुचित सत्कार किया।[५] इसी प्रकार पद्मावती के विवाह के अवसर पर कपड़े और गहने बाँटे गये।[६] किन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब वर पक्ष ने किसी प्रकार के नियत द्रव्य की माँग की हो। भारतीय परम्परा के अनुसार कन्या अथवा वर के लिये धन लेना निन्दित कार्य है। मनु[७] ने भी इसकी निन्दा की है। कथासरित्सागर में दहेज में वस्त्राभूषण के अतिरिक्त दासियों को देने की प्रथा का उल्लेख है।[८]

विवाह विधि—कथासरित्सागर में विवाह विधि को आवश्यक माना है। गान्धर्व विधि से विवाह हो जाने पर भी वैदिक रीति से वैवाहिक विधि-विधानों को पूरा करना आवश्यक था। उदयन एवं वासवदत्ता के बीच गान्धर्व विधि से विवाह हो जाने पर भी विधियाँ पूरी करनी पड़ती है। वासवदत्ता के पिता चंडमहासेन दूत भेजकर उदयन से प्रतीक्षा करने को कहता है, जिससे वैवाहिक कृत्य सम्पन्न किये जा सकें। वह कहता है "मेरी कन्या का विवाह अवैधानिक न हो, अतः कुछ प्रतीक्षा करें। मेरा पुत्र गोपालक जाकर विधिपूर्वक अपनी बहन का विवाह तुमसे करेगा।"[९]

---

१. कं. स. सा. ५।१।४०.
ऋतुमत्यां हि कन्यायां बान्धवा यान्त्यधोगतिम्। वृषली सा वरश्चास्या वृषलीपतिरुच्यते॥

२. परा० ७।७-८, ३. मनु० ९।९४, ४. मनु० ९।९०,

५. क० स० सा० ९।१।१८३ सम्पूज्य वस्त्राभरणैः सर्वानन्यानपूजयत्। ६. वही ३।२।८५,

७. मनु ३।५१-५२ ८. क० स० सा० ७।९।२१६.

९. क० स० सा० २।६।४-६ तदिदानीमविधिना ममास्या दुहितुर्यथा। न विवाहो भवेद्राजन् प्रतीक्षेयास्तथा मनाक्॥

विवाह किसी भी प्रकार से क्यों न किया जाय, धार्मिक विधि विधान तथा कर्मकाण्ड अनिवार्य थे।[1] देवल[2] का कहना है कि गान्धर्वादि-पैशाचान्त विवाहों में तीनों वर्णों को अग्नि के समक्ष वैवाहिक क्रियायें पूरी करनी पड़ती हैं। अग्नि, देव और द्विज को साक्षी बनाकर पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना विवाह है।[3] कथासरित्सागर के समय तक बहुत सी वैवाहिक विधियाँ प्रचलित हो गई थीं। इनमें अग्नि, देव और द्विज को साक्षी बनाकर अग्नि की प्रदक्षिणा, लाजाहोम एवं सप्तपदी आवश्यक थे। विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता था।

राजा उदयन की बारात सजधज से निकलती है। पुर प्रवेश के बाद राजा राजमहल में जाकर सौभाग्यवती स्त्रियों से भरे हुए विवाहगृह (कौतुकागार) में पहुँचा। तदनन्तर विवाह वेदी पर बैठकर उसने पद्मावती का पाणिग्रहण किया। अग्नि की प्रदक्षिणा की। विवाहोत्सव में कपड़े और गहने बाँटे गये, चारणों ने सुन्दर गीत गाये और वेश्याओं ने सुन्दर नृत्य किये।"[4]

अग्नि प्रदक्षिणा के अतिरिक्त लाजाहोम[5] की बार-बार चर्चा की गई है। इस अवसर पर प्रचुर धनदान किया जाता था।[6] उसी प्रकार शशांकवती के विवाह में लाजा होम के समय प्रचुर धन दान किया गया।[7] इसी प्रकार सूर्यप्रभ के विवाहोत्सव में कहीं नाच हो रहा था कहीं गाना बजाना चल रहा था, कहीं मद्यपान गोष्ठियाँ हो रही थीं, तो कहीं स्त्रियों की सजधज चल रही थी। कहीं प्रचुर पुरस्कार प्राप्त बंदी चारण प्रशंसा के गान गा रहे थे।[8]

इसी प्रकार राजा नरवाहनदत्त के विवाह के अवसर पर "कन्या के पिता के द्वारा दिये गये वस्त्र और अलंकारों से माता एवं सखी ने कन्या मदनमंचुका को विवाहोचित वेष में सुसज्जित किया। स्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं। वाद्य ध्वनि हो रही थी। नरवाहन दत्त अलंकृत विवाह मण्डप में प्रविष्ट हुआ। अग्नि की प्रदक्षिणा की एवं लाजाहोम के अवसर पर रत्नदान किया गया।[9]

विवाह के लिए लग्न एवं मुहूर्त्त का विचार आवश्यक था। राजा मन्दरदेव अपनी पुत्री के विवाह मुहूर्त्त के लिए ज्योतिषियों को बुलाता है।[10] इस प्रकार ज्योतिष गणना के अनुसार शुभ मुहूर्त्त में ही विवाह सम्पन्न किया जाता था।

कन्यादान का महत्व—कथासरित्सागर में कन्यादान का अत्यधिक महत्व बताया गया है। परोप कारी राजा कहता है "कन्यादान के बिना पुरुष की पापशान्ति के लिए दूसरा कौन सा उपाय है?"[11] कन्यादान के फल के कारण ही पुत्र से पुत्री किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं। वृद्ध ब्राह्मण कहता है"

---

१. या० स्मृ० १।७६ नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते। २. वीरमित्रोदय, भा० २ पृ० ८६०—
गान्धर्वादि विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः। कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः, समयेनाग्निसाक्षिकः॥

३. नीतिवाक्यामृत—वि० सू० ३।२. ४. क० स० सा० ३।६।७७-८५. ५. वही ८।६।१३५.

६. वही ९।१।१८२. रत्नानि लाजामोक्षेपु द्वयोरूपधर स्तयोः। ददौ तथा यथा सैव मेने रत्नकरोजनैः॥

७. वही १२।३६।१९३, १९४, १९५, १९६. ८. वही, ८।१।१८४. ९. वही ६।८।२५०-२५९.

१०. वही १२।३४।११८. लग्नं विवाहे पप्रच्छ सूनोः गणकान्नृप।

११. क० स० सा० ५।१।३८. "कन्यादानादृते पुत्रि, किंस्यात् किल्बिषशान्तये"

११

कन्यादान से परलोक में जो सुख मिलता है, वह पुत्रों से कहाँ ?[१]

विवाह प्रकार—स्मृतियों के अनुसार विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं।[२] वे हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इनमें प्रथम चार प्रशस्त माने गये हैं तथा अन्तिम चार अप्रशस्त।[३] प्रथम चार प्रशंसनीय माने गये हैं, जिसमें ब्राह्म सर्वोत्तम था, पंचम तथा षष्ठ किसी प्रकार सह्य थे, अन्तिम दो वर्जित थे। इनमें से कुछ प्रकार के विवाह कथासरित्सागर में उपलब्ध हैं। गान्धर्व विवाह सर्वाधिक प्रचलित था।

साधारणतः विवाह का प्रस्ताव वर की ओर से भेजा जाता था। राजा कनक वर्ष मदन सुन्दरी से विवाह के लिये प्रस्ताव भेजता है।[४] राजा सहस्रानीक मृगाङ्कवती के लिए दूत भेजता है।[५] राजतरंगिणी के अनुसार भी चोल राजकुमारी रणरम्भा के लिए बहुत से राजकुमारों के प्रस्ताव आते हैं।[६] इसी प्रकार हर्षचरित में भी राज्यश्री के लिए अनेक राजाओं के द्वारा प्रस्ताव भेजे जाने का उल्लेख है।[७]

विवाह के बाद वर कभी २ सप्ताह भर तक कन्या के घर में रहते थे। तत्पश्चात् कन्या के साथ विदा होते थे। राजा पृथ्वीरूप विवाह के बाद दस दिनों तक श्वसुर के घर में रहता है।[८] गृहवर्मा ने भी राज्यश्री के साथ श्वसुर के घर में दस दिन बिताये थे, जिसका वर्णन हर्षचरित में है।[९]

छल-कपट से कन्या पर अधिकार प्राप्त करना पैशाच[१०] विवाह था। कथा-सरित्सागर में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता। कन्या के सगे सम्बन्धियों को मारकर बलपूर्वक हरण राक्षस विवाह कहा जाता था।[११] महाभारत[१२] में भीष्म भी बलपूर्वक कन्या का अपहरण क्षत्रियों के लिये प्रशस्त मानते हैं। देवल[१३] के अनुसार यह शक्ति तथा वीरता का द्योतक है। कथासरित्सागर में भी कुछ राक्षसादि का वध कर उनकी कन्या के साथ विवाह के उदाहरण मिलते हैं। विदूषक[१४] अपने पराक्रम से राक्षसपुत्रियों से विवाह करता है।

कथासरित्सागर में गान्धर्व विवाह की प्रचुरता है। इसे सर्वोत्तम विवाह प्रकार माना गया है। प्रशस्त कहता है' सभी प्रकार के विवाहों में गान्धर्व विवाह उत्तम है।'[१५] उदयन आदि अनेकानेक राजा गान्धर्व विधि से कितनी ही कन्याओं के साथ विवाह करते हैं। अनुरागपरा निश्चयदत्त के साथ गान्धर्व विधि से विवाह करती है।[१६]

इसका कारण यह हो सकता है कि अधिकांश कथाओं के नायक वीर क्षत्रिय हैं और वीर क्षत्रियों के लिए गान्धर्व विवाह उचित कहा गया है। कुछ लोगों के अनुसार 'गन्धर्व' देव योनि में गिने

१. वही, ६।२।५०. "फलं यच्च सुतादानात्कुतः पुत्रात् परत्र तत्"। २. मनु० ३।२१, याज्ञ० १।५८-६१.
३. मनु ३।२४-२५. ४. राज ३।४३३-४३४. ५. क० स० सा० ९।५।८६. ६. वही २।१।३७.
७. हर्षचरित—अं० अनु० ३. ४. पृ० १२२-१२३ ८. क० स० सा० ९।१।१।१८९.
९. हर्षचरित—अं० अनु० कावेल पृ० १३०-१३१. १०. मनु० ३।२४. ११. मनु० ३।३३.
१२. म० भा० १।२४५।६. क्षत्रियाणां तु वीर्येन सशस्त्रं हरणं बलात्
१३. हि० सं० पृ० २०७ पर उद्धृत—"वीर्यहेतुर्विवाहः सप्तमः समुदाहृतः" १४. क० स० सा० ३।४
१५. वही ८।२।२१६. "गान्धर्वो ह्येव सर्वेषां विवाहानामिहोत्तमः" १६. १९।७।३।१८६ "तेन गान्धर्व विधिना"

गये हैं। इस विवाह का साक्षी देवता के सिवा और कोई नहीं होता। क्योंकि कामवासना से प्रेरित होने से ही यह विवाह हुआ करता है। अतः केवल गन्धर्वों के साक्षी होने से इसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है।

आश्वलायन के अनुसार "विवाह का वह प्रकार, जिसमें पुरुष और स्त्री परस्पर निश्चय कर एक दूसरे के साथ गमन करते हैं, गान्धर्व कहा जाता है।"[1] मनु के अनुसार जब कन्या और वर कामुकता से वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संयोग करते हैं तब वह गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[2] इसे प्रशस्त विवाह भी माना गया है।[3] महाभारत में कण्व कहते हैं "सकामा स्त्री का सकाम पुरुष के साथ विवाह भले ही धार्मिक क्रिया या संस्कार से रहित क्यों न हो, सर्वोत्तम है।[4] किन्तु अधिकांश स्मृतिकार इसे प्रशस्त मानने को तैयार न थे, वे धार्मिक तथा नैतिक आधारों पर इसे अप्रशस्त मानते थे। कथा-सरित्सागर में प्राप्त गान्धर्व विवाह परस्पर आकर्षण का ही परिणाम है।

प्राचीन समय में यह प्रचलित था।[5] मध्ययुग में इस विवाह का विशेष प्रचार देखने को मिलता है। इसमें किसी प्रकार के विधि विधान की आवश्यकता न थी। जोन डी मेन के अनुसार राक्षस से गान्धर्व प्रकार उत्तम है। इसमें कन्या की स्वीकृति आवश्यक थी। दोनों की सम्मति से ही गान्धर्व विवाह हो सकता था।[6]

श्रीपतिराय के अनुसार यह स्वयम्बर प्रथा के समान ही है। दोनों में माला पहना कर विवाह किया जाता था।[7] इस विधि के द्वारा प्रेमविवाह को स्वीकृति मिल जाती थी। कथासरित्सागर के समय प्रेमविवाहों की अधिकता के कारण गान्धर्व विवाह समाज में स्वीकृत था। आसुर-विवाह को मनु, गान्धर्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानते हैं। जिस विवाह में पति, कन्या तथा उसके सम्बन्धियोंको यथाशक्ति धन प्रदान कर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या से विवाह करता है उसे आसुर कहते हैं।[7] इस प्रकार के विवाह की चर्चा कथासरित्सागर में नहीं है, फिर भी विवाहिता स्त्री को धन के लोभ में दूसरे व्यक्ति के यहाँ भेजने की कथा अवश्य है। प्राजापत्य, आर्ष, दैव एवं ब्राह्म में अन्तिम सर्वाधिक प्रचलित प्रकार है। कथासरित्सागर में भी समाज इसे उत्तम मानता था।

अन्य प्रकार—सवर्ण विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, अनुलोम प्रतिलोम विवाह आदि कुछ अन्य विवाह प्रकार भी हैं। वर्ण व्यवस्था के अनुसार अपने वर्ण के भीतर ही विवाह करने का विधान था।[8] धर्मशास्त्रों

---

१. आ० गृ० सू० १.६ २. मनु० ३।३२ ३. गौ० ध० सू० २।१।३। "गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति स्नेहानुगतत्वात्।"
४. म० भा० ४.९४.६० "सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते।
5. Vikram and the Vampire, by R. F. Burton P.P. 28.
"This form of matrimony, was recognised by the Ancient Hindus, and is frequent in books. It is a kind of Scotch wedding—Ultra caledonian taking place by mutual consent without any form or ceremony.
6. John D. Mayne "Treaties on Hindu Law and Usage", 1878, PP. 66-67.
7. Customs and customary law in British India—Tagore Law Lectures—P.P. 288-89. This form Seems very similar to the Swayambar in which a garland is thrown on the neck of the favoured suitor. ७. मनु० ३।३१. ८. वही ३।४.

में सवर्णा नारी को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।[१] किन्तु क्रमशः अनुलोम विवाह की छूट धर्मशास्त्रों ने दी। कामुकता की ओर प्रवृत्त पुरुष अपना विवाह क्रमशः निम्नतर वर्ग की कन्याओं से भी कर लेते थे।[२] किन्तु प्रतिलोम विवाह सर्वथा हेय एवं वर्जित था। सभी धर्मशास्त्र उच्च वर्ण की कन्या के साथ निम्न वर्ण के पुरुष के विवाह के विरुद्ध हैं।

मध्ययुग में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिय कन्या थी।

कथासरित्सागर में अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। परोपकारी राजा की पुत्री ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय युवक से विवाह करने को तैयार है।[३] एक राजा अपने सेनापति को अपनी कन्या के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय पति ढूढ़ने को कहता है।[४] क्षत्रिय राजकुमार की वैश्यपुत्री से विवाह होता है।[५] अनंगारवती के स्वयम्बर में विभिन्न वर्ण के पुरुषों का भाग लेना सभी जातियों के बीच विवाह की सम्भावना की ओर संकेत करता है। हम एक ब्राह्मण को क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह करते हुए पाते हैं तथा उस सम्बन्ध में निहित भावनाओं को देखने से इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के विवाह वांछनीय समझे जाते थे। राजकुमारी ओर ब्राह्मण कुमार का विवाह उसी प्रकार एक दूसरे की शोभा का वर्धक हुआ जिस प्रकार विद्या और विनय का संगम।[६] एक वैश्य का धीवरी से विवाह होता है।[७]

यों तो कथासरित्सागर में कुछ प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी मिलते हैं किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे हेय समझे जाते रहे हैं। इनसे उत्पन्न सन्तान को अस्पृश्य तथा वर्णसंकर कहा गया है।[८] मध्ययुग में भी प्राचीन काल का यह स्वरूप तद्वत् था। निश्चय ही निम्नवर्ण को अपने से ऊँचे वर्ण कीं कन्या से विवाह का अधिकार नहीं था। यद्यपि कथासरित्सागर में कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, किन्तु वह अपवाद ही माना जायगा। राजकन्या एक धीवर से विवाह करती है।[९] एक राजकन्या चाण्डाल से विवाह करती है।[१०] स्वयम्बर प्रथा[११] का भी कथासरित्सागर में दो बार उल्लेख मिलता है।

वर के गुण—वर में कुछ आवश्यक गुणों की अपेक्षा की जाती थी। याज्ञवल्क्य[१२] के अनुसार वर युवक, विवेकशील एवं जनप्रिय हो। वह रूपवान् एवं कुलीन हो।[१३] मनु के अनुसार कन्या ऋतुमती होने पर भले ही आमरण पिता के घर में ही रहे, किन्तु गुणहीन पुरुष के साथ उसका विवाह किसी भी दशा में न करे।[१४] सम्पत्ति, सौन्दर्य, विद्या, बुद्धि और कुल उसकी अन्य विशेषतायें हैं। गौतम के अनुसार भी विद्या, चरित्र, शील से सम्पन्न पुरुष के साथ कन्या का विवाह करना चाहिए।[१५]

इन्हीं प्राचीन मान्यताओं के अनुसार कथासरित्सागर में भी वर के आवश्यक गुणों का

---

१. वही ३।१२ २. वही ३।१२ ३. क० स० सा० ५।१।४० विप्रेण क्षत्रियेण वा।
४. वही ५।३।९४. ५. वही ४।१।६१.
६. क० स० सा० ५।२।१७१ तयोस्तु सोऽभूत् राजेन्द्र पुत्री विप्रेन्द्र पुत्रयोः। संगमोऽन्योन्य शोभायै विद्याविनययोरिव॥
७. क० स० सा० ५।३।१५४. ८. मनु १०।१२. ९. क० स० सा १६।२।१२७. १०. वही १६।२।९४.
११. क० स० सा० १२।३४।४६. १२. या० स्मृ० १।४५. १३. म० स्मृ० ९।८८.
१४. म० स्मृ० ९।८९. १५. गौ० ध० सू० हि० सं० पृ० २५१.

निर्देश है। अवस्था, रूप, कुल, चरित्र आदि वर में ढूंढे जाते हैं। उनमें सर्वप्रथम अवस्था ही है। वंश आदि उसके बाद की गिनती में लिये जाते हैं।[1]

स्वरूप का महत्त्व निश्चय ही अधिक है। वर जिस प्रकार रूपवती कन्या चाहता है, उसी प्रकार कन्या भी स्वरूपवान् वर चाहती हैं। कुरूप यदि चक्रवर्ती भी हो और रूपवान् दरिद्र हो तो दरिद्र वर ही श्रेष्ठ है।[2]

राजा प्रताप मुकुट कहता है "यह अशोकदत्त जाति से, विद्या से सच्चे स्वरूप से बड़ों में बड़ा है। वर के ये गुण ही देखे जाते हैं"[3] अन्यत्र भी रूप, गुण और पौरुष की कामना की गई है।[4] पौरुष वर की अनिवार्य योग्यता है। निर्बल वर को छोड़कर भाग जानेवाली कन्याओं का उल्लेख है। एक जंगली हाथी के आने पर कन्या को छोड़ कर वर भाग जाता है। एक ब्राह्मण उसकी रक्षा करता है। वह कहती है मुझे एक कायर मानव को दे दिया गया जो मुझे प्राण संकट में छोड़ कर भाग गया। इसलिये वह मेरा पति नहीं हो सकता। तुम्हीं मेरे वास्तविक पति हो।[5] पुंस्त्वहीन पति को कन्या छोड़ सकती थी। विद्याधरी का पति नपुंसक है। अपने पिता से वह इसकी शिकायत करती है।[6] शास्त्रों के अनुसार भी नपुंसक पति विवाह का अधिकारी नहीं था।[7] इस प्रकार कथासरित्सागर के समय वर में अपेक्षित योग्यतायें देखकर ही विवाह के लिए चुना जाता था।

कन्या के गुण—

वर की तरह कन्या में भी आवश्यक गुणों का होना अनिवार्य था। मनु के अनुसार पुरुष को ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए जो शारीरिक दोषों से मुक्त हो, जिसका नाम सौम्य हो, जिसकी गति हंस या हाथी के समान हो, जिसके दांत कोमल, अवयव मृदु और कोमल हो। याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्य रूप से वधू "कान्ता" या सुन्दर होनी चाहिए।[1]

कथासरित्सागर में अन्य गुणों की अपेक्षा सौन्दर्य का महत्त्व सर्वाधिक प्रतीत होता है। कन्या के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, गान्धर्व विवाह कर लिये जाते हैं। नाच, गान आदि कन्या के गुण समझे जाते थे। राजा कृतवर्मा अपनी पुत्री के गुणों को, विवाह प्रस्ताव लाने वाले दूत को दिखाता है। राजदूत को कन्या मृगाङ्कवती का नाचना, गाना तथा उसका अप्रतिम रूप भी दिखाया।[10]

अच्छी पत्नी वृक्ष की छाया के समान स्नेहपूर्ण, कुलीन, उदारहृदया, दुःखहारिणी एवं सन्मार्ग पर चलने वाली होती है। ऐसी पत्नी बड़े पुण्य से प्राप्त होती है।[11] उसमें यज्ञ, दानादि शुभ कर्मों की

---

६. क० स० सा० ६।४।२९. वयो रूपं कुलं शीलं वित्तंचेति वरस्य यत्। मृग्यते सखि यमाद्यं वयो, वंशादिकं ततः।

७. क० स० सा० १२।३६।१९. मन्ये रूपाभिसम्पन्नो दरिद्रोऽपि वरं पतिः। न विरूपः पुनः कृत्स्नपृथ्वी चक्रवर्त्यपि॥

१. क० स० सा० ५।२।१६१ वरस्यामी गुणाः प्रेक्ष्या न लक्ष्मी क्षणभंगिनी।   २. वही ९।२।९५.

३. वही० ६।१।१७९.   ४. वही० १।६।८७. हा हतोस्मि कथं षण्डः पतिः प्राप्तोमया इति।

५. पा० गृ० सु. १, ८   १. मनु० ३।१०.   २. भा० स्मृ० १।१६९.

३. वही, २।१।४० अथ दृष्टोमृगावत्या नृत्तगीतादि कौशलम्। रूपं चाप्रतिमं तस्मै दूतायादर्शयन्नृपः॥

४. वही, ४।३।२८ स्निग्धाकुलीना महती गृहिणी तापहारिणी। तरुच्छायेव मार्गस्था पुण्यैः कन्यापि जायते॥

प्रवृत्ति होनी चाहिए। इससे स्त्रियां गृहणी पद प्राप्त करती हैं।[1]

बहु पत्नित्व—

बहुपत्नित्व की प्रथा भी वेदकाल[१] से ही प्रचलित है। देवल के अनुसार ब्राह्मण की चार क्षत्रिय की तीन वैश्य की दो और शूद्र की एक पत्नी हो सकती है।[3] मनु[४] ने विशेष परिस्थिति में ही पुरुषों को एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करने की अनुमति दी। कभी-कभी व्यक्ति कामवासना से प्रेरित होकर दूसरा विवाह करता है ऐसी स्थिति में यह आवश्यक ठहराया गया कि वह पहली पत्नी को धन से सन्तुष्ट करे।[५]

मध्यकाल के राजाओं में यह प्रथा अत्यधिक प्रचलित थी। सम्पूर्ण कथासरित्सागर में राजाओं का विवाह अनेक सुन्दरियों से होता है। उदयन, नरवाहनदत्त आदि राजाओं की संख्यातीत पत्नियां हैं। यह प्रथा राजकुलों से ही अधिक सम्वद्ध रही। साधारण जनता इतनी सम्पन्न न थी कि वह एक से अधिक पत्नियों को एक साथ रख सके। किन्तु वहुविवाह के मार्ग में आर्थिक सम्पन्नता के अतिरिक्त कोई वैधानिक अड़चन नहीं थी। वहुविवाह का अधिकार सभी को था। इस सम्बन्ध में गुणशर्मा से अग्निदत्त ने ठीक ही कहा[६]—"पति के धनवान् होने पर ही सौतें होती हैं। दरिद्र तो एक स्त्री का भरण पोषण भी कष्ट से करता है, वहुत से स्त्रियों की तो बात ही क्या।

अक्षक्षपणक की कथा में मध्यवर्गीय एक व्यक्ति का दूसरा विवाह कर दिया जाता है।[७] इन दो उदाहरणों के अतिरिक्त दूसरी कोई कथा नहीं जिसमें राजाओं, देवताओं को छोड़ कर कोई सामान्य व्यक्ति बहुविवाह करता है। इससे स्पष्ट है कि संवैधानिक अधिकार रहने पर भी जनता के बीच यह बहुत प्रचलित नहीं था।

कामलिप्सा, सन्ततिलिप्सा एवं शौर्यलिप्सा से प्रेरित होकर राजा बहुविवाह की ओर उन्मुख होते थे।

कथासरित्सागर में इसका एक रोचक प्रसंग है। एक सखी दूसरी सखी से नरवाहनदत्त के बारे में पूछती हुई कहती है "यह बताओ हमारे आर्यपुत्र भला इतने स्त्री-लम्पट क्यों हैं? बहुत सी स्त्रियों के रहने पर भी वे दिनरात नई-नई स्त्रियों को ही ग्रहण करके सन्तुष्ट होते हैं। इसका उत्तर देती हुई उसकी सखी कहती है—" राजा लोग बहुतपत्नी वाले क्यों होते हैं इसका कारण मैं बताती हूँ। देश, रूप, अवस्था चेष्टा, विज्ञान आदि के भेद से अच्छी स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न गुणों वाली होती हैं। एक ही स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नहीं होती। अतः राजा दूसरी स्त्रियों को चाहते हैं।[७] तत्कालीन राजाओं की कामलिप्सा इन पंक्तियों में स्पष्ट है।

नियोग—मनु ने सन्तान की इच्छा रखने वाली विधवा के मृतपति के भाई अथवा सपिण्ड से

१. तै० सं० ६. ६. ४. ३ २. गृह्य रत्नाकर पृ० ८५, ३. मनु० ९।८३.

४. स्मृतिचन्द्रिका, पृ० २४४ क० स० सा० ८।६।२०८ सपत्न्योहि भवन्तीह प्रायः श्रीमति भर्तरि।

५. क० स० सा० ८।६।२०८ दरिद्रो विभृणियादेकामपि कष्टं कुतो बह्वः। ६. वही ८।५।२०८.

७. क० स० सा० ८।४।१०५ उवाच श्रूयतां येन राजानो बहुवल्लभाः। देशरूपवयश्चेष्टाविज्ञानादिविभेदतः। भिन्नाः गुणाः वरस्त्रीणां नैकासर्वगुणान्विता।

गमन करने की छूट दी है।[1] कथासरित्सागर में इस प्रकार के नियोग का उदाहरण तो नहीं मिलता किन्तु वेताल की कथा में क्षेत्रज पुत्र की चर्चा मिलती है। मृत चोर प्रेतरूप में विवाह कर क्षेत्रजपुत्र उत्पन्न करने की छूट देता हैं, जिससे उसे सद्गति मिल सके।[2]

बहुपतित्व—कथासरित्सागर में बहुपत्नित्व की तरह बहुपतित्व का उदाहरण नहीं मिलता। कई पतियों के बीच एक पत्नी का उल्लेख नहीं है। एक-एक कर कई पतियों को छोड़ने वाली स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर लेती हैं। इसके अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अनंगप्रभा एक-एक कर कई पतियों को बदलती है।[3] किन्तु बहुपतित्व का उदाहरण नहीं मिलता। धर्म और नैतिकता के अंकुश के कारण भारतीय विवाहिता स्त्री के लिए एक से अधिक पति की कल्पना असम्भव थी।

वृद्धविवाह—स्वार्थ एवं भोगलिप्सा से प्रेरित होकर कभी-कभी वृद्ध विवाह के उदाहरण भी सामने आ जाते हैं। वृद्धविवाह शास्त्रविरुद्ध है। कथासरित्सागर में भी इसकी भर्त्सना की गई है। इसे सामाजिक अत्याचार माना जाने लगा था। वृद्ध होने पर भी धन के प्रभाव से एक बनिया विवाह कर लेता है। पत्नी उससे घृणा करती है।[4] कुलीन वृद्ध राजा प्रसेनजित का कलिंगसेना से विवाह तय हो जाता है। उसकी सखी सोमप्रभा कहती है—वह वृद्ध है। मुरझाये हुए जाती (मालती) के पुष्प के समान उस वृद्ध की जाति या कुल से क्या करना है।[5]

---

२. मनु० ९।५९.　　२. का० स० सा० १२।२६।२१.　　३. क० स० सा० ९।२।३३७.

४. वही १०।६।८३. "वृद्धोप्यर्थप्रभावेण परिणिन्ये वणिक्सुताम्"

५. वही ६।४।३० प्रसेनजिच्च प्रवयाः स दृष्टो नृपतिर्मया। जाती पुष्पस्य जात्येव जीर्णस्यास्य कुलेन किम्।

सप्तम परिच्छेद

नारी का स्थान

कथासरित्सागर को यदि स्त्री चरित्र का कोष कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यदि एक ओर पतिपरायणा पतिव्रता स्त्री का चरित्र उदाहरणीय एवं अनुकरणीय है, तो दूसरी ओर कुलटाओं और स्वैरिणी स्त्रियों की अद्भुत साहसपूर्ण गाथा आश्चर्य में डाल देती है। विन्टरनित्ज ने ठीक ही कहा है कि "कथासरित्सागर में स्त्रियों की कथा अधिक है, उनमें अविश्वसनीय एवं दुष्टा पत्नियों की संख्या सबसे ज्यादा है।"[1] कीथ ने भी कथासरित्सागर में वर्णित स्त्री चरित्र की विशेषताओं का विस्तृत उल्लेख किया है। "कथासरित्सागर में स्त्रियों के सम्बन्ध में दी हुई कहानियों के बाहुल्य को देखते हुए, जो दुर्भाग्यवश प्रायेण उनके प्रतिकूल हैं, ऐसा लगता है कि कश्मीर संस्करण के संकलनकर्त्ताओं ने किसी ऐसे ग्रन्थ का उपयोग किया था, जिसमें केवल स्त्रीविषयक कथायें थीं।[1] स्त्रियों की विविध मनोदशा एवं अन्तर बाह्य मनोवृत्तियों का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण एकत्र मिलना कठिन है।"[2]

प्राचीन समय में स्त्रियाँ समाज में गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थीं। मनुस्मृति में पुरुष शब्द की निर्मिति स्त्री, सन्तान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गई है।[3] कहा गया है, जहाँ इसकी पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं।[4] किन्तु कथासरित्सागर के समय तक इनकी वह मर्यादा अक्षुण्ण न रह सकी। उनकी वेदकालीन स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी थी। वे पूर्णतः पुरुषों पर निर्भर मानी जाने लगीं। बाल्यावस्था में पिता के द्वारा, विवाह के पश्चात् पति के द्वारा एवं वृद्धावस्था में पुत्र के द्वारा वे संरक्षित की गई।[5] कथासरित्सागर में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई। "न च बन्धुपराधीना कन्या स्वातन्त्र्यमर्हति"[6] अर्थात् माता पिता और बन्धु से पराधीना कन्या स्वतन्त्र नहीं रह सकती। मध्ययुगीन समाज में उनकी परतन्त्र स्थिति हो गई थी।[7] लक्ष्मीधर[8], विज्ञानेश्वर[9] आदि के कथन से भी इस मत की पुष्टि होती है।

तत्कालीन स्त्रियों की सामान्य विशेषतायें—

परिवार में कन्या का जन्म दुःख का विषय समझा जाता था।[10] इसका कारण बताती हुई कीर्तिसेना कहती है, "परिवार वाले इसीलिए कन्या के जन्म की निन्दा करते हैं, क्योंकि कन्या जीवन सास, ननद और विधवापन से दूषित हो जाता है।"[11] सोमस्वामी उस युग की तीन विशेषताओं की ओर

---

1. Hist. of India, Lit. Wint. Vol. II, P. 358 "The number of women's stories is quite large. Among them the stories of faithless and wicked wives prevail."

२. सं० सा० इ० कीथ० भाषा पृ० ३३६-३६७. ३. मनु० ९।४५. ४. वही ३।५६-६०.

५. मनु ९।३-३. ६. क० स० सा० ५।१।३८. ७. शुक्र० ७।४. २६-२७. ८. कृ० क० त० पृ० १०५.

९. मिताक्षरा भा० २।१४८ १०. क० स० सा० ७।१।१२५ कन्या नाम महद्दुःखं धिगहो महतामपि।

११. वही ६।३।९२ "एतदर्थं च निन्दन्ति कन्यानां जन्म बान्धवाः। श्वश्रूननन्द संत्रासमसौभाग्यादि दूषितम्"

ध्यान दिलाता है। वह कहता है "चंचलता, साहस और डायनपन स्त्रियों के ये तीन दोष, तीनों लोकों को भय देने वाले हैं।"[1] इनमें वाणी का संयम नहीं।[2] असत्य भाषण में निपुण होती हैं। अशोकवती के मिथ्यादोषारोपण से दुखी गुणशर्मा कहता है "पहले झूठ की उत्पत्ति हुई और उसके उपरान्त दुष्टा स्त्रियों की।"[3]

कुलटायें—विवाह के बाद भी पिता के घर रहनेवाली स्त्रियां कुलटा समझी जाती थीं।[4] पति के साथ रहनेवाली स्त्रियाँ भी विश्वसनीय नहीं।[5] व्यभिचारिणी स्त्री के लिए बन्धकी शब्द का प्रयोग किया जाता था।[6] पतिघातिनी स्त्रियों की शताधिक कथायें उनके नैतिक पतन की पुष्टि करती हैं। वज्रसार की पत्नी पति का अंगभंग कर डालती है।[7] चन्द्र श्रीपति के रहने पर भी अपने प्रेमी के पास जाती है। पति की मृत्यु के बाद प्रेमी से विदा होकर वह सती हो जाती है। इस प्रकार स्त्रियों के चित्त की गति नहीं जानी जा सकती। वह दूसरों से अनैतिक सम्बन्ध भी रखती हैं और पति के मरने पर उसके साथ सती भी होती है।[8] दसमारिका एक-एक कर दस विवाह करती है, किन्तु पति मर जाता है। अन्ततः उसे दस पतियों के मरने के बाद भी विवाह करने वाला पति मिल जाता है।[9] ईर्ष्यालु पुरुष की दुष्टा स्त्री भील के साथ निकल भागती है। अवसर पाकर पति भील का वध कर देता है। वह दुष्टा पत्नी, पति के विरोध में भील का कटा हुआ सर राजा के पास पहुँचा देती है।[10] ठीक ही कहा है 'परपुरुष का संगम तो स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। यदि स्त्रियों को नाक न हो तो उनके लिए विष्ठा खा लेना भी असम्भव नहीं।[11] एक स्त्री कहती "मैं तेरे जैसे सौ पुरुषों का संगम कर चुकी हूँ" तो मुझे अब डर क्या? यदि विश्वास न हो तो मेरी इन सौ अंगूठियों को देखो।"[12]

एक राजकन्या, एक के बाद एक पुरुष को चुनती है। अन्त में उसकी खिड़की से पिटारी लटका दी जाती है। जो भी रात को उसमें घुसता है, उसे ही वह अन्दर बुला लेती है।[13] रुद्रसोम ब्राह्मण की स्त्री एक ग्वाला से फंस जाती है।[14] शशि की स्त्री एक कोढ़ी से ही अपनी भोगलिप्सा तृप्त करती है।[15] नागकन्या एक सौ पथिकों के साथ समागम करती है।[16] कितना गिना जाय? इस प्रकार की पुंश्चली स्त्रियों से सारा कथासरित्सागर भरा पड़ा है। आकर्षण के मूल में रूपगुण ही कारण नहीं है। वीर सदाचारी सुन्दर पति के रहने पर भी विचारशील युवतियों का भी मन चंचल होकर जहाँ तहाँ दौड़ता है। विशुद्ध मनवाली स्त्रियाँ विरली हैं।[17] रत्नवती वध्यस्थल में ले जाये जाते हुए एक चोर को वरण करती है। चोर को फाँसी दी जाती है और रत्नवती भी उसके साथ सती हो जाती है।[18]

---

१. वही ७।३।१७० चापलं साहसिकता डाकिनी शम्बरादयः। दोषाः स्त्रीणां त्रयः प्रायो लोकत्रयभयावहाः।

२. वही १।१।५३ ३. क० स० सा० ८।६।१२० ४. वही ३।५।२९ ५. १०।२।५६

६. वही, ६।८।३६ ७. वही १०।२।९९ ८. वही १०।२।६६ ९. वही, १०।१०।८३

१०. वही १०।५।१६७ ११. वही १०।६।१११ १२. क० स० सा० १०।७।२९-३०

१३. वही १०।८।१०० १४. वही १०।८।१११ १५. वही १०।८।१३३

१६. वही १०।८।१५४ १७. वही १०।२।१४० १८. वही १२।२१।४५

१२

निष्कर्षतः यह निर्विवाद रूप से कहा जायगा कि स्त्रियों के चारित्रिक पतन की घटनायें बढ़ गई थीं। उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता था।[1]

राजा रत्नाधिप के पास श्वेतरश्मि नामक हाथी था जो रुग्ण हो गया। आकाशवाणी होती है कि यह पतिव्रता स्त्री के स्पर्श से अच्छा हो सकता है। राजा की अस्सीं हजार रानियों के स्पर्श से भी वह ठीक न हुआ। इस प्रकार सभी की अपवित्रता प्रमाणित हो गई। हर्षगुप्त नामक वैश्य की पत्नी के स्पर्श से वह ठीक हो गया। उसके पातिव्रत्य से प्रभावित होकर राजा उसकी बहन से शादी करता है। किन्तु समुद्र के बीच टापू पर भी वह एक व्यक्ति के साथ पकड़ ली जाती है। अतः रत्नप्रभा ठीक ही कहती है स्त्रियाँ तो सबसे बड़े रक्षक अपने चरित्र से ही रक्षित होती है। चंचल स्त्रियों की रक्षा के लिए तो ब्रह्मा भी समर्थ नहीं है। मदोन्मत्ता नारी और नदी का नियन्त्रण कौन कर सकता है?[2] गुरुपत्नी[3] की भ्रष्टता तो और भी आश्चर्य में डाल देती है।

पातिव्रत्य की प्रशंसा—सोमदेव स्त्रियों के पातिव्रत्य और सत्य व्यवहार की कहानियाँ भी हमें सुनाते हैं। देवस्मिता अनुचित प्रेम करने को उत्सुक व्यक्तियों को दण्ड देती है। वह उन्हें गुप्त मिलन का संकेत देती है, परन्तु केवल उनको अपमानित करने के उद्देश्य से।[4]

पतिव्रता स्त्री, अहंकारीं मुनि का अहंकार दूर कर देती है। वह कहती है "मैं पतिभक्ति के सिवा और दूसरा धर्म नहीं जानती।"[5]

पातिव्रत्य धर्म की प्रशंसा बार-बार की गई है। पति को ही परमदेवता कहा गया है।[6] पतिव्रताओं के लिए पति ही इस लोक में और परलोक में गति है।[7] पति की एक मात्र भक्ति और अपने सतीत्व के तेज की दृढ़ता से अपनी रक्षा करनेवाली पतिव्रताओं की रक्षा, आपत्ति में देवता अवश्य करते हैं।[8] चरित्र नाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि "स्त्रीत्व, एकान्त, पुरुष का मिलना और पूर्ण स्वतन्त्रता, जहाँ ये पाँच अग्नियाँ एकत्र हों, वहाँ चरित्ररूपी तृण की बात ही क्या?[9] स्वयं आसक्त और अनुरागिणी स्त्री, व्यभिचारिणी नहीं होती।[10]

निश्चय ही उपर्युक्त पंक्तियों में मुखरित पतिभक्ति की प्राचीन मर्यादा, पथभ्रष्ट नारी समाज को सन्मार्ग पर लाने के लिए ही निर्दिष्ट है।

व्यापार में स्त्री को सहायिका बनाना उस युग की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जायगी। अर्थलोभी अर्थलोभ की पत्नी मानपरा व्यवसाय में सहायता पहुँचाती है।[11] सामाजिक लज्जा एवं भय से स्त्रियाँ अवैध सन्तान को कहीं छोड़ देने के लिए बाध्य हो जाती हैं।[12]

---

१. क० स० सा० १२।५।२५५–२५७ "वरं हालाहलं भुक्तमहिर्बद्धो वरं गले। न पुनः स्त्रीषु विश्वासो मणिमन्त्राद्यगोचरः। २. वही ७।२।५–७. "महत्तरेण रक्ष्यन्ते शीलेनैव कुलस्त्रियः। ३. वही ३।६।११९

४. सं० सा० इ० कीथ, भाषा, पृ० ३३७.

५. क० स० सा० ९।६।१८० ६. वही, २।५।१९५ "पतिः सतीनां परमं हि दैवतम्"

७. वही, ६।३।९८—"साध्वीनां पतिरेकागतिर्यतः" ८. वही, ६।३।१२२ "देवता एव साध्वीनां त्राणमापदि कुर्वते"

९. वही ७।२।८७ स्त्रीत्वं क्षीबत्वमेकान्तः पुंसो लाभोऽनियन्त्रणा। यत्र पञ्चाग्नयस्तत्र वार्ता शीलतृणस्य का।

१०. वही, ८।६।२१६ ११. वही, ७।९।७० १२. वही, १६।२।१७५

तान्त्रिक प्रवृत्ति—उस युग की स्त्रियों में तन्त्र-मन्त्र की ओर अधिक झुकाव दिखाई देता है। तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना के प्रभाव में जघन्य से जघन्य कार्य करने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। राजा आदित्यप्रभ ने अचानक एक दिन अपनी पत्नी को "उठे हुए बालों वाली, आँख मूंदे हुए, मोटा सिन्दूर का तिलक लगाये, जप से फड़कते ओठों वाली, रंगबिरंगे बड़े से मण्डल के भीतर बैठी हुई तथा रक्त, मद्य और नरमांस से उग्रवलि देती हुई नंगी देखा। राजा को वह मन्त्रादि का प्रभाव बताती है। पहले तो राजा हिचकता है, किन्तु पुनः रानी के प्रभाव में आकर महामांस खाने के लिए तैयार हो जाता है। धोखे से उनका पुत्र ही मारा जाता है। पुत्र की बलि देकर पुत्र प्राप्त करने की अभिलाषा भी तन्त्र के प्रभाव का सूचक है।

पारिवारिक स्थिति—परिवार की सुखशान्ति स्त्रियों पर ही निर्भर है। जिस घर में सुन्दरी कान्ता नहीं वह जेल के समान माना गया है।[1] सुन्दरी स्त्री, चन्द्रमा और वीणा से सुखी जनों को आनन्दित करने के लिए है।[2] किन्तु ठीक इसके विपरीत पत्नी यदि दुष्टा कलहकारिणी, चरित्रहीना हो तो उस घर की अपेक्षा जंगल का निवास ही श्रेष्ठ है।

अपनी पत्नी की दुरवस्था एवं चरित्रहीनता देखकर धनदेव बनिया विरक्त होकर कहता है—"घर का मोह व्यर्थ है", क्योंकि घर में स्त्री ही एक बन्धन है। उसकी भी जब यह दशा है तब घर से अच्छा एकान्त जंगल ही है।[3] इसी प्रकार रुद्रसोम ब्राह्मण[4] और शशी[5] भी विरक्त होकर वन का रास्ता लेते हैं। इस प्रकार की दुष्टा स्त्रियाँ भी दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाती हैं। किन्तु सद्गुणी[6] घर को स्वर्ग बना डालती है। शुभ कार्यों के प्रभाव से स्त्रियाँ गृहणी बनती हैं।[7] पति के प्रवसित रहने पर कुल-स्त्रियों का मर जाना उचित बताया गया है, किन्तु रूप पर आकृष्ट होने वाले लोगों की आँखों पर चढ़ना ठीक नहीं।[8] कथासरित्सागर में सास, ननद और वधू तीनों के परस्पर सद्व्यवहार पर ही शान्ति सम्भव मानी गई है।

कहा गया है कि सास, ननद और विधवापान से कन्या जीवन दूषित हो जाता है।[9] वही पतिगृह उत्तम माना जाता था, जिसमें पापिन सास और दुष्टा ननद न हो।[10] संयुक्त परिवार में अधिकतर इनके बीच सम्बन्ध कटु थे। उनके बीच उत्पन्न तनाव से उस समय भी गार्हस्थ्य जीवन दुखपूर्ण था। दुष्टा सास की अनेकानेक कथायें इनमें उपलब्ध हैं। सोमप्रभा कहती है—" भेड़ के मांस को भेड़िये के समान सास बहू के मांस को खा जाती है।[11] सास द्वारा कीर्तिसेना पर किये गये अत्याचार रोमांचकारी हैं।[12] वसुदत्त की पत्नी सास की यातना से मर जाती है।[13] कुछ के बीच प्रशंसनीय सम्बन्ध की चर्चा भी मिलती है। गुणवरा और रूप शिखा जैसी सास एवं पुत्रवधू प्रशंसनीय बताई गई है।[14] स्त्रियाँ उस घर को अच्छा मानती थीं जिसमें सास एवं ननद न हों।[15]

---

१. क० स० सा० १२।३२।३२. २. वही ८।६।२१५. ३. वही १०।८।१०८.
४. क० स० सा० १०।८।१२६. ५. वही १०।८।१५१. ६. वही १०।८।१६२. ७. वही ३।३।१३३.
८. वही १।४।४१. ९. वही ६।३।९२. १०. वही ६।३।१९७ ११. वही ६।३।६७.
१२. वही ६।३।६९. १३. वही १२।७।१६४. १४. वही ७।५।२४५. १५. वही ६।३।१९७.
"तद् भर्तृवेश्म तव तादृशमर्थयेऽहं, श्वश्रूर्न यत्र न च यत्र खठाननान्दा"।

वेश्या—विश्व की अनेक जातियों के समान भारत में भी वेश्या प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। कामी एवं सौन्दर्य पिपासुओं की तृप्ति के लिए इनका अस्तित्व सदा बना रहा है। सामन्तप्रधान मध्ययुग में इन्हें अधिक प्रश्रय मिला। कथासरित्सागर में वर्णित वेश्याओं का विविध चरित्र, सर्वांगपूर्ण है। वेश्यायें एकमात्र अर्थ में ही रुचि रखती हैं। उस युग की वेश्याओं के बारे में पुत्रक कहता है "वेश्यायें केवल ठगने में लगी रहती हैं।"[१] मकर दंष्ट्रा नामक वेश्याओं की कुट्टिनी कहती है "वेश्यायें सम्पन्न शव को छू सकतीं है, किन्तु निर्धन को नहीं"।[२] वेश्याओं की अवस्था अधिक दिनों तक नहीं ठहरती। अतः वे यौवन में ही अधिक से अधिक धनसंग्रह कर लेना चाहती हैं। वेश्या और प्रेम दोनों विरुद्ध बाते हैं। नटी के समान उसे तो केवल बनावटी प्रेम दिखाना चाहिए।[३] वेश्यावृत्ति सिखाने वाली हुआ करती थीं। मकरदंष्ट्रा नगर की समस्त वेश्याओं की शिक्षिका थी[४] सभी कुट्टिनियाँ इसी प्रकार धन का महत्त्व बताती हैं। यमजिह्वा वेश्या का गुण-बताती हुई कहती है जो वेश्या मुनियों के समान युवक में, बालक में, कुरूप में और सुन्दर में समान भाव रखती है वह परम अर्थ (धन) प्राप्त करती है।[५]

कुछ वेश्याओं की सम्पन्नता तो आश्चर्यजनक है। कुमुदिका वेश्या के पास सौ हाथी, बीस हजार घोड़े और रत्नों से भरा हुआ भवन है।[६] उसके पास अपनी सेना भी है।[७] कभी-कभी वेश्यायें भी सच्चा प्रेम करती हैं। कुमुदिका अपने प्रेमी को बंधन से छुड़ाने के लिए विक्रम सिंह राजा से प्रेम करती है।[८] इनमें सौन्दर्य के साथ-साथ नृत्य गीत एवं वाद्य में निपुणता होनी चाहिए।[९]

प्राचीन भारत में यह व्यवसाय निन्दनीय नहीं था। ऋग्वेद एवं वाजसनेयी संहिता इसके उदाहरण हैं।[१०] किन्तु स्मृतिकाल में यह व्यवसाय निन्दनीय माना जाने लगा।[११] बुद्धकाल में ब्राह्मणों के लिए नृत्यगीतादि में भाग लेना निषिद्ध था। किन्तु जातक काल में यह सम्मानित कार्य था। इनकी सम्पन्नता एवं प्रतिष्ठा के आधार पर कूक ने सोमदेव को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वेश्यायें समाज में सम्मानित थीं एवं इनके पास प्रचुर सम्पत्ति थी।[१२] कौटिल्य अर्थशास्त्र में गणिका अध्याय ही है। दरबार में ये उच्च पद पर प्रतिष्ठित थीं। राजकीय छत्र चमर आदि प्राप्त थे। इन्हें पूर्णतः राजकीय नियन्त्रण में रखा जाता था। आदेश का उल्लंघन करने पर दण्डविधान था। इन्हें गुप्तचरों के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था। नर्तक, वादक एवं गणिका समान रूप से प्रतिष्ठित थीं।

---

१. क० स० सा० ११३।५४. २. वही, २।४।९२. "शवं स्पृशन्ति सुजना गणिका नतुनिर्धनम्"
३. वही० २।४।९३-९४ क्वानुरागः क्व वेश्या त्वमिति ते विस्मृतम् कथम्।
सन्ध्येव रागिणी वेश्या न चिरं पुम्नि दीप्यते। नटीव कृत्रिमं प्रेम वणिकार्थाय दर्शयेत्।
४. वही, २।४।९०. ५. वही, १०।१।६४ समो यूनि शिशौ वृद्धे विरूपे रूपवत्यपि, वेश्याजनो यो मुनिवत् स चार्थपरमश्नुते। ६. क० स० सा० १०।२।२१. ७. वही १०।२।४२.
८. वही १०।२।४८. ९. वही १०।१।८८. १०. o. s. vol. I. page 232.
११. मनु० ९।२५९, ४।२०९, २११, ११९, २२०, ९।१०.
१२. Encyclopaedia of Rel igi on and Ethics, vcl. x, page 407.

पूर्व मध्यकाल में इनपर विस्तृत साहित्य लिखा गया, जिसे कामशास्त्र कहते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में, छ अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन है। नृत्य, गीत वाद्यादि केवल वेश्याओं के लिए ही नहीं गृहणियों के लिए भी आवश्यक बताये गये हैं।[1] दण्डीकृत दशकुमार चरितम् कुट्टिनीमतम्, भल्लकवि कृत अनंग रंग, क्षेमेन्द्र कृत समयमातृका आदि ग्रन्थों में वेश्या के चरित्र कर्तव्यादि का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार गणिकाओं की सम्मानपूर्ण स्थिति कथासरित्सागर में भी देखने को मिलती हैं।

देवदासी—वेश्याओं के अतिरिक्त स्त्रियों का एक वर्ग और था जो मन्दिरों से सम्बद्ध था। मन्दिरों में देवताओं की सेवा में नियुक्त स्त्रियाँ देवदासी कही जाती थीं। कल्हण ने राजतरंगिणी[2] में देवदासियों की चर्चा की है। कथासरित्सागर के समय यह प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। देवमन्दिर में भेंट की गई विवाहिता कन्या, सबके लिए ग्रहणीय बन जाती थी। राजा देवसेन उन्मादिनी के रूप पर मोहित हो जाता है। वह सेनापति से विवाहित हो चुकी है। सेनापति कहता है मैं उसे देवमन्दिर में छोड़ देता हूँ, आप उसे वहीं से ग्रहण कर लें, इसमें दोष नहीं।[3] इसी प्रकार बलधर सेनापति भी यशोधन राजा से देवकुल[4] में छोड़ी हुई अपनी पत्नी ग्रहण करने का आग्रह करता है। रूपणिका देवमन्दिर[5] में पूजा करने जाती है। इससे स्पष्ट है कि रूपणिका वेश्या के साथ-साथ देवदासी भी है, जिसका कार्य नृत्य करना, भगवान् की मूर्त्ति को पंख झलना एवं मन्दिर की सफाई करना था। राजतरङ्गिणी में भी इस प्रथा के ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। राजा दुर्लभक प्रतापादित्य ने नोना नामक एक व्यापारी की पत्नी से जिसे एक मन्दिर में देवदासी बनाया गया, विवाह किया। यह कश्मीर के तीन प्रसिद्ध राजा चन्द्रापीड़, तारापीड़ तथा ललितादित्य मुक्तापीड़ की माता थी।[6] किन्तु इस प्रथा का कोई धर्मशास्त्रीय आधार उपलब्ध नहीं है। स्मरणीय है कि स्ट्रैबो के अनुसार मिस्र की देवकन्यायें, जिन्हें देवपत्नी समझा जाता था, मनुष्य से विवाहित होने पर मृत मान ली जाती थीं।[7]

यह प्रथा दक्षिणी भारत में विशेष प्रचलित हुई। उत्तरी भारत के मन्दिरों को विदेशी आक्रमणकारियों का विशेष सामना करना पड़ा। अतः इनका प्राचीनरूप ध्वस्त हो गया। किन्तु दक्षिणी भारत के मन्दिर इन आक्रमणों से अछूते रह गये। कथासरित्सागर में वर्णित रूपणिका मथुरा निवासिनी है। मुगल आक्रमण के बाद यह नगर पुनः धार्मिक केन्द्र बन गया था। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख चोलराजा राजराज (ए० डी० ९८५ के समय) के तमिल शिलालेखों में मिलता है[8]। ए० डी० १००४ के एक शिलालेख में ४०० देवदासियों का उल्लेख है।[9] मार्कोपोलो (१२९०) ने भी इसका उल्लेख किया है।[10] सब कुछ देखते हुए यह निश्चय कर पाना कठिन है कि अन्ततः इस प्रथा का प्रारम्भ कैसे

---

१. कामसूत्र ३।१५. २. रा० त० ७।८५८. ३. क० स० सा० ३।१।७६. ४. वही १२।२४।३७.
अथवा तां त्यजामीह देव देवकुले ततः। न दोषो ग्रहणे तस्यास्तव देवकुलस्त्रियः॥ ५. क० स० सा० २।४।८०.
६. रा० त० चतुर्थ का० ११।१२६. ७. Strabo xll 559 (Plub. wolters Amsterdam 1707)
८. o. s. Appendix vol. I, Page 147 ९. South Indian Inscriptions vol. II, Part III, P. P. 259-3-3. १०. The book of Ser Marco Polo-1903 vol. P. P. 345-346.

हुआ ? कहाँ पवित्र मन्दिर कहाँ अपवित्र वेश्यायें ? इस तालमेल का अर्थ समझ में नहीं आता। विद्वानों ने अपना अलग-अलग मत प्रस्तुत किया है।

कुछ लोगों के अनुसार नरबलि के बदले यह प्रथा प्रारम्भ की गई। कुछ लोग इस विश्वास से कि, देवता से विवाहित हो जाने के बाद वैधव्य नहीं होता, इस प्रथा की उत्पत्ति मानते हैं। अतः सामान्य विवाहिता पत्नी भी इसका समर्थन करती थी, और देवताओं से विवाहित इनको पति स्वीकार करते थे।

प्रारम्भिक युग में प्रचलित अस्थायी सामूहिक विवाह पद्धति को मान्यता देकर, व्यक्तिगत विवाह के लिए इस प्रथा द्वारा शुद्धीकरण किये जाने से, यह प्रथा निकली। अतिथिसत्कार के लिए अतिथियों के लिए सम्भोग सुख की उपलब्धि कराने की प्रथा को भी इसका कारण माना गया है। दुष्ट ग्रहों के कुप्रभाव से बचने के लिए भी देवताओं को ही पहले अर्पण करने की प्रथा चली। कुछ लोगों के अनुसार यहाँ के मूल निवासी द्रविड़ों की असभ्य संस्कृति का यह अवशेष है। उपर्युक्त बताये गये कारणों में किसी को भी निश्चित नहीं माना जा सकता।[1]

"देवदासी प्रथा" के पीछे अवश्य ही कुछ पुनीत उद्देश्य रहे होंगे। मन्दिर में वेश्याओं का निवास आज के सुधारवादी विचारकों को आश्चर्य में डाल देता है। खजुराहो आदि मन्दिरों में बनाये गये नग्न मिथुन चित्रों का औचित्य भी इसी प्रकार संदिग्ध है। यदि मन्दिर की भित्तियों पर कामोद्दीपक प्रस्तर मूर्तियाँ बनायी जा सकती हैं तो वहाँ देवदासी के रूप में सजीव काममूर्तियाँ क्यों नहीं रखी जा सकतीं ? दोनों ही के पीछे समान भावना रही होगी। राग के बाद ही वैराग्य में स्थायित्व आता है। नश्वरता क्षणभंगुरता का बोध कराने में ये अत्यन्त सहायक थे।

टानी ने विशद विश्लेषण के बाद ठीक ही कहा है—"हमें याद रखना चाहिए कि भारत का धर्म, आचार और दर्शन निरन्तर बदलता रहा है। परिवर्तनरहित पूर्व की बात कहना भ्रम है।"[2]

सती प्रथा—सती शब्द "सत्" का स्त्रीलिंग है, जिसका अर्थ है "अच्छा"। अतः यह विशेषण है संज्ञा नहीं। किन्तु व्यवहार में मृतपति के शव के साथ जल जाना ही सती प्रथा से अभिप्रेत है। टानी ने इसे प्राचीन असभ्य संस्कृति का अवशेष माना है, जो आभिजात्य क्षत्रिय वर्ग में विशेष प्रचलित हुआ।[3] ऋग्वेद में अथवा सूत्रों में इस प्रथा का उल्लेख नहीं। मनुस्मृति में भी इसका निर्देश नहीं। मनु ने तो मृत्पतिका के लिए नियम बताये हैं।[4] रामायण में भी इसका उल्लेख नहीं। महाभारत में सती प्रथा के उदाहरण मिलते हैं।[5]

वैसे आलोचना से बचने के लिए ऋग्वेद के एक मन्त्र को प्रस्तुत किया जाता है। वह है

१. o. s. vol. I Appendix page 267-268.

२. O. S. Vol, I Appendiu Page 268—'we must also remember that the religion, ethics and Philosophy of India have been ever changing and nothing is more inapplicable than to speak of the "Changeless East" in this respect."

३. L. D. Barnett. Antiquities of India, Page 119 W. 5 Vol. IV Page 258.

४. मनु ५।१५६. ५. महाभा० आदि—९५. ६५, १२५. २९, विराट् २३.८, शान्ति ०४८–२०–१२.

"अनश्राव्ये नमीवाह सुरत्ना आरोहन्तु जनपो घोनिम् अग्रे"[1] लेकिन यह प्रक्षिप्त है, क्योंकि अथर्ववेद में इसका पाठान्तर मिलता है। यह प्रथा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित नहीं थी। बंगाल एवं राजपूताना में इसके विशेष उदाहरण मिलते हैं। इस प्रथा की निन्दा करते हुए सिख गुरु अमरदास (१५५२-१५७४) ने कहा कि सच्ची सती वही है जो पति की मृत्यु के साथ ही वियोगजन्य दुःख से मर जाय।[2]

पति के अवसान पर समाज में साधारणतः दो ही क्रम प्रचलित थे, पति के साथ सती हो जाना या शेष जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करना।[3] बृहस्पति का कथन है कि पति के मरने पर पत्नी अग्न्यारोहण करे या शेष जीवन सच्चरित्रता से व्यतीत करे।[4] लक्ष्मीधर ने अंगिरास्मृति को उधृत करते हुए कहा "पति के मृत हो जाने पर जो स्त्री हुताशन पर आरोहण करती है, वह अरुन्धती (वशिष्ठ की स्त्री) के सदृश आचरणवाली स्वर्गलोक में महत्व प्राप्त करती है।

मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ जो रोयें होते हैं, उतने वर्ष होते हैं, उतने वर्षों तक पति का सहगमन करने वाली स्त्री स्वर्ग में निवास करती है।[5] व्यासस्मृति[6], विष्णु पुराण,[7] पाराशर स्मृति,[8] दक्षस्मृति,[9] के अनुसार भी राजकुलों की विधवाओं में अग्न्यारोहण व्यवहार में था। कुमारसम्भव[10] गाथा सप्तशती,[11] कामसूत्र[12] आदि में पति के साथ सती होने वाली विधवाओं की प्रशंसा की गई है। कथासरित्सागर कालीन राजाओं में यह प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। सोमदेव के आश्रयदाता राजा अनन्त की पत्नी सूर्यमती स्वयं पति के साथ चितारोहण करती है।[13] कथासरित्सागर में सती होने की अनेक घटनायें वर्णित हैं। राजा शतानीक के मरने पर महारानी सती होती है।[14] आदित्य शर्मा के पिता के मरने पर उसकी माता सती होती है।[15] चन्द्र श्री[16] भी सती होती है।

विधवा—इस प्रकार स्पष्ट है कि कथासरित्सागर कालीन समाज में राजकुलों में सती प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। सामान्य लोगों की विधवायें ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन बिताने का प्रयास करती थीं। दशमारिका[17] तो पतियों के मरने पर दस विवाह तक करती जाती है। एक विधवा जीविका के लिए अनैतिक जीवन अपनाती है।[18] गर्भवती स्त्री सती नहीं होती थी।[19] सम्पूर्ण कथासरित्सागर में न तो सती प्रथा की प्रशंसा की गई है न निन्दा ही। राजकुलों में परम्परा के नाम पर इस प्रथा का अनुसरण किया जा रहा था।

---

१. ऋग्वेद–१०–१८–७. २. O. S. Vol. IV Page 268.।
३. वि० ध० सू० २५।१४ ४. बृ० २५।११. ५. कृ० क० त० व्यव० पृ० ६२२-३३.
६. व्यासस्मृति २।५३. ७. विष्णु० २५।१५. ८. पाराशर ४।३०-३१. ९. दक्ष ४।१८.
१०. कुमा० ४।३४. ११. गा० श० ७।३३. १२. का० सू० ६.३.४३.
१३. Rajtarangini, Stein's Trans 1900. १४. क० स० सा० १।५।१००.
१५. क० स० सा० ८।६।१६० Vol. I. P. 305-7. १६. वही, १०।२।६५.
१७. क० स० सा० १०।१०९४. १८. वही १४।२।९५. १९. वही ४।१।१।२.

अध्याय ४

प्रथम परिच्छेद

राजनैतिक विचार—भारतीय इतिहास में ग्यारहवीं सदी का विशेष राजनैतिक महत्त्व है। कथासरित्सागर में उपलब्ध वर्णनों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में बटा था।[1] छोटे-छोटे राजा भी पृथ्वीपीत,[2] सप्तद्वीपेश्वर,[3] सम्राट्,[4] चक्रवर्ती[5] आदि उपाधियों से सम्मानित थे।[6] सीमायें सिमटथी जा रही थीं। राष्ट्रीयता की भावना संकुचित होकर अपने-अपने रज्यों तक की सीमित हो गई थी। राजाओं का नैतिक अधः पतन हो गया था। वे परम्परागत आदर्शों से च्युत होकर विलासी जीवन बिता रहे थे। सुरा सुन्दरी के व्यामोह में फंसे राजोचित कर्त्तव्य से विमुख थे। सोमदेव स्वयं दरबारी कवि थे। अतः लेखनीं बंधी होने पर भी बड़ी कुशलता से उन्होंने तत्कालीन राजाओं की चारित्रिक दुर्बलताओं का वर्णन किया है।

राजा उदयन मन्त्रियों पर शासन-भार छोड़कर एकमात्र आनन्द लेने में तल्लीन हो गया।[7] वह वेश्याओं के मुखचन्द्र की छाया से सुशोभित मदिरा पान में डूबा रहता।[8] स्त्री, मद्य और शिकार के व्यसनों में निमग्न वह राजकार्य से निश्चिन्त हो गया।[9] इसी प्रकार राजा भीमभट भी राजकार्य छोड़ सुरा सुन्दरी में लीन था।[10] राजा देवसेन उन्मादिनी को देखकर उन्मत्त हो जाता है। मन्त्रियों को चिन्ता हुई। इससे विवाह होने पर राजा राजकार्य छोड़ देगा।[11] अतः उसे कुलक्षणा कह कर विवाह नहीं होने दिया। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण तत्कालीन राजाओं की स्वेच्छाचारिता एवं विलासिता प्रमाणित करते हैं। उधर भारत ही उत्तरी सीमा पर म्लेच्छ संघ स्थापित हो चुके थे। तुर्कों का आक्रमण प्रारम्भ हो चुका था।

अलबीरुनी ने कश्मीर नरेश महाराज अनंतदेव के पिता संग्रामराज पर यवनों की चढ़ाई का उल्लेख किया है। किन्तु तुषारापात के कारण आक्रमण सफल नही हुआ।[12] मुहमद गजनी के आक्रमण से भी इन राजाओं की तन्द्रा नहीं टूटी। निर्बल राजा के कारण प्रजा में उछृंखलता बढ़ गई थी।

कथासरित्सागर में भील शबर पुलिन्द आदि प्राचीन जंगली आर्येतर जातियों द्वारा विन्ध्य के भू भाग में स्थापित राज्यों का विशद वर्णन मिलता है। आर्यराजाओं द्वारा सर्वदा उनकी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। राजा सुन्दरसेन मन्दारवती की प्राप्ति के लिए शबरेन्द्र की सहायता लेता

---

१. O. S. Vol. IX Foreword Page IX. २. क० स० सा० ४।१।२. ३. वही १८।१।२९.
४. वही २।१।१९. ५. वही १४।४।१४५. ६. Stud. in the Geo. Page I.
७. क० स० सा० २।३।२. ८. वही २।३।५.
९. वही ३।१।८. "स्त्रीमद्यमृगयासक्तो निश्चिन्तो ह्येष तिष्ठति" १०. क० स० सा० १२।७।३०४.
११. वही ३।१।७१. १२. ग्या० स० भा० पृ० ७३.

है।[1] अतः कथासरित्सागर का राजनीतिक अध्ययन तत्कालीन सांस्कृतिक स्वरूप के परिज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। राज्यों का संगठन कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए किया गया। महाभारत के अनुसार एक युग कभी था जब न राजा थे न राज्य था।[2] राजा एवं राज्य दोनों के अभाव में व्यवस्था धर्मानुकूल चलती रही।

किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न चल सकी। धीरे-धीरे धर्म की हानि एवं अधर्म की वृद्धि होने लगी। सामाजिक नैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में अव्यवस्था फैल गयी। नैतिकता, सामाजिकता के बन्धन, अर्थिक व्यवस्था सभी कुछ शक्तिशालियों के हाथ में पड़कर समाप्त हो गई।[3] अतः राजत्व का जन्म मात्स्यन्याय की स्थिति दूर करने के लिए हुआ। पुनः दण्डविधान के द्वारा धर्मव्यवस्था स्थापित की गई। राजा दण्डधर कहलाया। राज्यों की सुखसमृद्धि बढ़ी।[4] कथासरित्सागर में आदर्श राज्य का बड़ा ही सुन्दर रूप बताया गया है। राजा शूद्रक के राज्य में न कोई दरिद्र है न दुखी।[5] इस प्रकार जो राजतन्त्रात्मक प्रणाली अतीत में प्रारम्भ हुई उसकी अविछिन्न परम्परा भारत में मध्य युग तक चलती रही। यही प्रणाली सर्वप्रशंसित एवं शास्त्रानुकूल बतायी गई। राजतन्त्र का विवरण हमें महाभारत के राजधर्मानुशासन पर्व के ५९ वें अध्याय में मिलता है। राजा युधिष्ठिर ने कहा है कि समस्त जीवलोक राजधर्म के ही आश्रित है। धर्म अर्थ आदि चतुर्वर्ग राजधर्म में ही केन्द्रित हैं। जैसे घोड़े को लगाम और हाथी को अंकुश सुपथ पर चलाने में समर्थ है, वैसे ही राजधर्म सारे संसार को सुपथ पर लाने में समर्थ है। सूर्य का उदय होने पर जैसे अन्धकार का नाश होता है, उसी प्रकार राजधर्म समस्त जीवलोक की अशुभ गति को अवरुद्ध कर देता है।"

इस प्रकार राजतन्त्रात्मक शासनप्रणाली महाभारत काल से ही सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। साथ ही राजनीति विषयक समस्त सिद्धान्तों की चर्चा महाभारत से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र तक अविछिन्न रूप से प्रवाहित होती आई है। राजा के कर्त्तव्य, योग्यता, शासन सम्बन्धी चर्चा, युद्धविज्ञान आदि सभी इस राजतन्त्र में वर्णित हैं। राजनीति का सर्वांग विवेचन प्राचीन दण्डनीति शास्त्र में मिलता है। कथासरित्सागर कालीन भारतीय राजव्यवस्था प्राचीन राजतन्त्रीय सिद्धान्तों के सर्वथा अनुरूप है। राजा का स्वरूप, दायित्व, प्रशासन व्यवस्था, राजकर्मचारी सभी का स्वरूप प्राचीन राजव्यवस्था के अनुसार ही है। अतः सर्वप्रथम राजा के कर्त्तव्य उसकी योग्यता आदि विषयों की समीक्षा अपेक्षित है।

राजा का महत्त्व—राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मानसोल्लास के अनुसार उसकी आज्ञा सर्वोपरि है।[6] मनुस्मृति के अनुसार समस्त संप्रभुता राजा में ही केन्द्रित हैं।[7] कौटिल्य ने भी राजा को ही राज्य माना है।[8] कथासरित्सागर के अनुसार भी राजा ही

---

१. क० स० सा० १२।३४।३२०.   २. म० भा० राज प० ५९।३५.
"न वै राज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परम्परम्।
३. म० भा० शा० प० ६७।१७. तथा ६७।८-३१. "अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्" ॥   ४. म० भा० शा० प० ६८।६-२९.   ५. क० स० सा० १२।११।३३.
न मे राष्ट्रे पराभूतो न दरिद्रो न दुःखितः   ६. मानसोल्लास २।८।६९६   ७. मनु० ७।७
८. कौ० अ० ८।२ ४. क० स० सा० ७।८ ४५

राज्य का मूलतन्त्र है।[४] किन्तु समस्त अधिकारों का उपयोग करने पर भी वह निरंकुश शासन का अधिकारी नहीं था। अधिकारों का उपभोग कर्तव्यपालन के अभाव में निरर्थक है। प्रजा को सुखी सम्पन्न बनाना उसका कर्तव्य है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखने के लिए उसमें आवश्यक गुणों का भी प्रतिबन्ध लगा रखा है।

दैवी उत्पत्ति—प्राचीन विचारकों के अनुसार राजा ईश्वर द्वारा निर्मित हुआ। महाभारत के अनुसार मनुष्य के रूप में वह साक्षात् देवता है।[१] विभिन्न देवताओं के अंश से उसमें अलौकिक शक्ति का संचार हुआ। मनुस्मृति के अनुसार राजा ईश्वरीय अंश से निर्मित हुआ।[२] राजा दण्डधर है। समस्त लोकव्यापार दण्ड से ही नियन्त्रित होते हैं।[३] यदि राजा दण्ड न दे तो जैसे बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है वैसे ही बलवान् निर्बलों का अन्त कर डालें।[४] शुक्रनीति के अनुसार भी राजा देवता का अंश है।[५] महाभारत का भी समान मत है। यदि राजा दण्ड व्यवस्था न करे तो प्रजा का उसी तरह विनाश हो जायगा जैसे बड़ी मछली छोटी को खा डालती है।[६] कौटिल्य के अनुसार भी दण्ड-व्यवस्था से निर्बलों की रक्षा सम्भव है। दण्डधारी राजा से रक्षित निर्बल भी बलवान् बना रहता है।[७] ठीक यही कामन्दकीय नीति शास्त्र में कहा गया है।[८]

कथासरित्सागरकालीन राजा भी देवता के अवतार समझे जा रहे थे। उनकी आज्ञा सबके लिए मान्य थी। मात्स्यन्याय से बचने के लिए राजा दण्ड विधान करता था। क० स० सा० में लिखा है—

नास्त्येवाराजकं किंचित् वत् कोऽपि प्रजास्वहो। राजशब्दः सुरै सृष्टो मात्स्यन्यायभयादयम्।[९]

इस गौरवपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होने पर भी वह अपने अधिकारों के उपयोग में स्वतन्त्र नहीं था। उसके व्यक्तित्व में राजोचित गुणों का सन्निवेश अपेक्षित था।

राजा की योग्यता—राजा के आवश्यक अर्हताओं एवं कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण महाभारत से लेकर कौटलीय अर्थशास्त्र तक उपलब्ध है। उन्हीं मान्यताओं के आधार पर कथासरित्सागर में भी राजा के अपेक्षित गुणों की विस्तृत सूची दी गई है।

सबसे पहले राजा को चाहिए कि वह इन्द्रिय रूपी घोड़ों पर चढ़कर काम क्रोध लोभ आदि भीतरी शत्रुओं को जीते। बाहरी शत्रुओं को जीतने के पहले उसे अपने आत्मा पर ही विजय प्राप्त करनी चाहिए।[१०] जो आत्मविजय नहीं कर पाया, वह स्वयं विवश या पराधीन, दूसरों पर क्या विजय प्राप्त कर

१. म० भा० शान्ति प० ४१।४७ महती देवताह्येपा नररूपेण तिष्ठति २ मनु ७।३ रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ३. म० भा० शान्तिपर्व ५९।७८ ४. मनु० ७।२० यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डेष्वतन्द्रितः। शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्वलान् बलवत्तरान् ५. शु० नी० १।७० योऽहि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्चरक्षसाम् ६. म० भा० शान्तिप० १५।३० दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमे प्रजाः जलेमत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्वलं बलवत्तराः ७ कौ० अ १।३ अप्रणीतोऽहि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते। दण्डधराभावे ८. का० नी० ७ा० २।४० दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यन्यायः प्रवर्तते। ९. क० स० सा० १२।३५।६३ १०. क० स० सा० ६।८।१९१

सकेगा ?[१] ठीक यही भाव शुक्र नीति में भी मिलता है। जो राजा मन नहीं जीत सका वह पृथ्वी को कैसे जीत सकता है ?[२] राजा को इन्द्रियजयी होने की बात सभी नीतिकार दुहराते हैं। मनुस्मृति के अनुसार जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है।[३] रामायण के अनुसार जितेन्द्रिय, कृतज्ञ तथा सत्यवादी राजा ही संसार में यश का भागी होता है।[४] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इन्द्रियजय की बात कही गई है।[५]

राजा के कर्तव्यों का विवेचन करते हुए कथासरित्सागर में आगे कहा गया है कि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जनपद देश आदि की उन्नति करने वाले मन्त्रियों तथा अथर्ववेद को जानने वाले चतुर एवं तपस्वी पुरोहित की नियुक्ति करे। तदनन्तर राजा, भय में, क्रोध में, लोभ में और धर्म में उन लोगों की कपट-परीक्षा करके, उनके हृदयों को भलीभाँति जानकर उन्हें योग्य कार्यों पर नियुक्त करे।[६] इस प्रकार उनकी बातों की भी परीक्षा करनी चाहिए कि वे आन्तरिक स्नेह से बातें करते हैं या स्वार्थ अथवा द्वेषपूर्ण होकर। पारस्परिक वार्तालाप से उनकी यह परीक्षा करनी चाहिए। सत्य पर प्रसन्न और असत्य पर दण्ड देना चाहिए। उनके चरित्र का पता भी अलग-अलग गुप्तचरों द्वारा लगाना चाहिए। इस प्रकार आँखें खुली रखकर चौकस रहते हुए राज्य के कार्यों को देखते हुए, विरोधियों को देखते हुए, विरोधियों को उखाड़ कर कोप और सेना का बल संग्रह करके अपनी जड़ सुदृढ़ करलेनी चाहिए।[७] तदनन्तर प्रभाव उत्साह और मन्त्र—इन तीनों शक्तियों से युक्त होकर अपने और शत्रु के बलाबल को भलीभाँति समझ कर दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करनी चाहिए।[८] अत्यन्त विश्वासी, नीति आदि शास्त्रों को जाननेवाले प्रतिभाशाली मंत्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उनके निर्णयों को अपनी बुद्धि द्वारा कार्यान्वित करके राज्य के सभी अंगों को शुद्ध करना चाहिए।[९] साम दाम आदि उपायों से योग और क्षेम की साधना करनी चाहिए और सन्धिविग्रह आदि छह गुणों का प्रयोग करना चाहिए।[१०] इस प्रकार आलस्य और प्रमादरहित होकर जो राजा अपने और पराये देश की चिन्ता करता है, वह सदा विजयी रहता है और किसी से जीता नहीं जा सकता।[११] मूर्ख कामान्ध और लोभी राजा, झूठे और अनुचित मार्ग प्रदर्शित करनेवाले धूर्तों और दलालों द्वारा गड्ढे में गिरा कर नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार के स्वार्थियों से घिरे हुए मूर्ख राजा के पास बुद्धिमान और श्रेष्ठ व्यक्ति उसी प्रकार नहीं जा सकते, जिस प्रकार निपुण किसान द्वारा लगाये गये धान के खेत तक ऐसे नहीं पहुँचा जा सकता जो कटघरे से घिरा हो।[१२] ऐसा राजा धूर्तों का अन्तरंग बन जाता है और अपना

---

१. वही "जयेदात्मनमेवादौ विजयायान्य विद्विषाम्। अजितात्मा हि विवशी वशीकुर्यात् कथं परम्।
२. शु० नी० १।९८ "एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणो। महीसागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति।
३. मनु ७।४४ "जितेन्द्रियोहि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः। ४. वा० रा० किष्कि० ३४।७ "सत्याभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः। कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते।
५. कौ० अ० तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत।
६. क० स० सा ६।८।१९३–१९४ ७. क० स० सा० ६।८।१९५–१९७ ८. वही ६।८।१९८
९. वही ६।८।१९९ १०. ६।६।८।२०० ११. ६।८।२०१ १२. क० स० सा० ६।८।२०२–२०३

रहस्य प्रकट कर वैठता है। फलतः वह उनके वश में हो जाता है, और ऐसे मूर्ख अनभिज्ञ राजा से भिन्न होकर राज्यलक्ष्मी भाग जाती है।[1] इसलिए राजा को आत्मविजयी उचित दण्ड देने वाला और राजनीति आदि में विशेषज्ञ होना चाहिए। ऐसा होने पर प्रजा के प्रेम से वह राजा लक्ष्मी का पात्र बन जाता है।[2]

कथासरित्सागर में वर्णित राजा की अर्हतायें प्राचीन राजशास्त्रों के अनुसार ही हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में राजा के विषय में बताया गया है कि उसे उत्साही धन देने वाला, कृतज्ञ, वृद्धों की सेवा करनेवाला, विनीत सत्वसम्पन्न, कुलीन सत्यवचन बोलने वाला, पवित्र, आलस्यरहित, स्मरण रखनेवाला, धार्मिक, व्यसनों से रहित एवं आन्विक्षिकी, दण्डनीति एवं वार्ता में प्रवीण होना चाहिए।[3] कौटिल्य ने भी राजा का कर्त्तव्य इसी प्रकार निर्दिष्ट किया है। उसे विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करना चाहिए। गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृत्तान्त अवगत करे। उद्योग द्वारा राज्य के योग क्षेम का सम्पादन करे।[4] कौटिल्य के अनुसार राजा में चार प्रकार के गुणों का होना आवश्यक है—(१) आभिगामिक गुण (२) प्रज्ञागुण (३) उत्साह गुण एवं (४) आत्मसंपत्।

अक्षुद्र परिवारत्व, वश्य सामन्तता, शुचित्व, प्रियवादिता, धार्मिकता, दूरदर्शिता आदि आभिगामिक गुण हैं। अस्त्र शस्त्र एवं शास्त्र की निपुणता, विवेक, तर्कशक्ति, दृढ़चित्तत्व आदि प्रज्ञा गुण हैं। शौर्य, क्षिप्रकारिता, दक्षत्व एवं अमर्ष उत्साहगुण हैं। आत्मसम्पत् के अन्तर्गत वाग्मी, प्रगल्भ, स्मरणशील, बलवान्, उन्नत मन, संयमी, निपुण सवार, शत्रु का सामना करने की क्षमता, स्वसैन्य संरक्षण की क्षमता, उपकार या अपकार के यथोचित प्रतीकार की योग्यता, दूर दर्शिता, सन्धि प्रयोगों को अवगत करने की क्षमता, कोष सम्वर्धन की प्रज्ञा, गम्भीरता उदारदृष्टि आदि गुण परिगणित हैं।[5] मनुस्मृति[6] में भी राजा के गुणों का विवेचन आया है। ये गुण याज्ञवल्क्य स्मृति और कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलते जुलते हैं।

कथासरित्सागर के उपर्युक्त वर्णन में कुछ वातें बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। राजा योग्यमंत्री पुरोहित आदि उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति खूब परख कर करे। कोष और बल का संचय करे। आलस्य और प्रमाद से रहित होकर प्रजा की भलाई में तत्पर रहे। उसे राजनीति में विशेषज्ञ होना चाहिए। प्रजा के प्रेम से वह राजा लक्ष्मी प्राप्त करता है। राजा का चरित्र प्रजा के लिए आदर्श है। राजा देवसेन, उन्मादिनी को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु वह सेनापति की पत्नी बन चुकी है। अतः सेनापति के कहने पर भी राजा उसे स्वीकार नहीं करता। क्योंकि राजा धर्मविरोधी कार्य नहीं करना चाहता। वह कहता है—नाहं परस्त्रीमादास्ये त्वं वा त्यक्ष्यसि तां यदि। ततो नंक्ष्यति ते धर्मो दण्डो मे च भविष्यति॥[7] राजा को सदा धर्मपूर्वक ही राज्य करना चाहिए। राजा के राज्यरूपी वृक्ष का तो धर्म से अर्जित धन ही मूल है। यौगन्धरायण उदयन से कहता है कि धर्म से धन प्राप्त करने के लिए दिग्विजय करो।[8]

---

१. वही ६।८।२०४ २. वही ६।८।२०५

"तस्माद् जितात्मा राजा स्याद्युक्तदण्डोविशेषवित्। पूजानुरागावेवं हि स भवेत् भाजनं श्रिय."

३. यां० स्मृ० १३।३०९-३११ . ४. कौ० अ० २।६।१

५. कौ० अ० पृ० ५३५ ६. मनु० ७ क० अ० ७. क० स० सा० ३।१।७८

८. क० स० सा० ३।५।५। "अतो यतेत धर्मेण धनमर्जयितुं पुमान्। राजा तु सुतरां येन मूलं राज्य तरोर्धनम्।

सोमेश्वर के मानसोल्लास एवं कौटलीय अर्थशास्त्र आदि राजशास्त्रों में वर्णित राजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य विधान के अनुसार ही कथासरित्सागर में भी वर्णन मिलता है। मानसोल्लास के अनुसार राजा के लिए असत्य वर्जन, परद्रोह वर्जन, अगम्यावर्जन, अभक्ष्य वर्जन, असूयावर्जन, पतित संगवर्जन, क्रोधवर्जन, स्वात्मस्तुति वर्जन,[1] आदि निषिद्धाचरण बताये गये हैं। विहित कर्त्तव्य के अन्तर्गत दान, प्रिय-वचन, इष्टापूर्त्त, अशेष देवता भक्ति, गोविप्रतर्पण, अतिथि-पूजन, गुरुशुश्रूषा, तप, शरणागतरक्षा राज्य का स्थिरीकरण आदि हैं।

कथासरित्सागर में राजा का स्वरूप बड़ी ही काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। राजा कनकवर्ष की प्रशंसा में कहा गया है कि वह यश का लोभी था, धन का नहीं, पाप से डरता था, शत्रुओं से नहीं। मूर्ख था तो दूसरों की निन्दा में शास्त्रों में नहीं। उसके क्रोध में अल्पता थी प्रसन्नता में नहीं, उसकी मुट्ठी धनुष में बँधी होती थी दान में नहीं।[2]

जिन राजाओं ने विहित राजधर्म का पालन नहीं किया वे राजत्व से च्युत होकर हीनदशा को प्राप्त हुए। महर्षि कश्यप राजा नरवाहनदत्त की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे समान दूसरा कोई चक्रवर्ती नहीं हुआ। तुम्हारे राज्य में निन्दनीय कुछ भी नहीं। ऋषभक आदि राजा पहले चक्रवर्ती हो चुके हैं। किन्तु विभिन्न दोषों से ग्रस्त होने के कारण वे राजलक्ष्मी से च्युत हुए।[3] ऋषभक, सर्वदमन एवं बन्धु जीवक अत्यधिक गर्व के कारण इन्द्र द्वारा निगृहीत हुए।[4] इसी प्रकार जीमूतवाहन भी अपने कर्त्तव्य से च्युत हुआ।[5] कुपुत्र शोक मोह के कारण धैर्य हीन वसन्त तिलक नष्ट हुआ।[6] केवल एक तारावलोक ही विद्याधरत्व का पूर्ण उपभोग कर सका।[7]

ऐश्वर्य, डाह, निर्दयता, मदोन्मत्तता, विवेकशून्यता इनमें एक भी अनर्थ के लिए पर्याप्त हैं। राजा को इन दोषों से बचना चाहिए।[8] व्यायाम, लक्ष्यवेध और शस्त्रों का अभ्यास राजाओं के लिए आवश्यक है।[9]

इसी प्रकार राजा कनक वर्ष के राज्य की प्रशंसा में कवि कहता है कि यदि बन्ध था तो कवियों की वाणी में, नियम और चरित्र में नहीं। छेदन था तो सजावट के पत्तों में शिर और वृत्ति में नहीं। भंगिमा थी तो नारियों के केशों में वचन या प्रतिज्ञा में नहीं। खल (खलिहान) धानों के संग्रह के लिए थे, जनता में नहीं।[10]

उपर्युक्त वर्णन में राजा के कर्तव्या-कर्तव्य का स्पष्ट निर्देश है। बिना राजा के राज्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती। एक क्षण के लिए भी राजा विहीन राष्ट्र नहीं रह सकता। वाल्मीकीय रामायण में भी इसका उदाहरण मिलता है। राजा दशरथ की मृत्यु के बाद सम्पूर्ण राज्य परिचालक ब्राह्मण वर्ग राज्य की सुव्यवस्था के लिए राजसभा में एकत्रित होता है। वे कहते हैं "हमारा यह सुसमृद्ध राज्य, राजा के अभाव में नष्ट न हो जाय।"[11] ठीक ऐसी ही स्थिति कथासरित्सागर में

---

१. मानसोल्लास १।१।३५–५८ २. क = स० सा० ९।५।३०–३१ ३. क० स० सा० १६।३।३,४,५ ४. वही १६।३।६ ५. वही १६।३।७ ६. वही १६।३।१० ७. वही १६।३।११ ८. वही ६।२।३५ ९. क० स० सा० ६।१।१४६ "राज्ञां चाखेटकमपि व्यायामादि कृते मतम्। युद्धाध्वनि श्रस्यन्ते राजानोऽप्यकृतश्रमाः। १०. वही ९।५।२७ ११. वा० रा० अयो० श्लो०

प्रद्योत द्वारा राजा उदयन के पकड़ लिये जाने पर आती है। सारी प्रजा में रोप की लहर फैल जाती है। यौगन्धरायण समझाता हुआ कहता है, आपलोगों को यहाँ रहकर राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए।[1] इसी प्रकार राजा चन्द्रप्रभ पितृतर्पण के लिए तीर्थयात्रा पर जाना चाहता है। किन्तु मन्त्रिगण परामर्श देते हैं कि राज्य को इस प्रकार राजाविहीन नहीं छोड़ा जा सकता।[2] स्वधर्म, पालन तीर्थयात्रा से बढ़कर है।[3] राजा की अहर्निश रक्षा की जानी चाहिए।[4]

राजा सार्वभौम सत्ता का अधिकारी होने पर भी निरंकुश शासक नहीं था। योग्य मन्त्रियों की मन्त्रणा उसे माननी ही पड़ती थी। जहाँ कहीं उसने स्वेच्छाचारिता से काम लिया वहीं उसे मुंह की खानी पड़ी। राजा उदयन, मन्त्री यौगन्धरायण के परामर्श की उपेक्षा कर हाथी को पकड़ने अकेले ही चला जाता है। परिणामतः धोखे से वह पकड़ लिया जाता है। जहाँ कहीं राजा नीतिविरुद्ध कार्य करता है, उसके मन्त्री उसे उचित परामर्श देकर नीतिमार्ग पर ले आते हैं। नरवाहनदत्त मन्दर देव को जीतने के लिए प्रस्थान करता है। किन्तु वह वहाँ सुन्दरियों के साथ रागरंग में लिप्त होना चाहता है। सेनापति उसे समझाता है। यह अवसर युद्ध का है कामोपभोग का नहीं[5]—इसी प्रकार मृगांक दत्त अपनी थोड़ी सेना के बल पर कर्मसेन पर चढ़ाई करना चाहता है। किन्तु श्रुतधी मन्त्री राजनीति का उपदेश देकर हीनबल होने से दण्ड प्रयोग करने से मना करता है। अतः मन्त्रियों के आगे राजाओं को भी झुकना पड़ा है। इतना ही नहीं, राजा जनमत की उपेक्षा नहीं कर पाता। यद्यपि समस्त कथासरित्सागर में कहीं गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का उल्लेख नहीं, फिर भी ऐसे प्रसंग हैं, जब राजा को जनता के निर्णय के सामने झुकना पड़ा है। राजा चन्द्रावलोक अत्यधिक दानशील है। उसके पास कुवलयापीड़ नामक गजराज था। इसकी दानप्रियता का अनुचित लाभ उठाकर शत्रु राजा छल से दान में गजराज माँग ले जाता है। प्रजा क्रुद्ध हो उठती है। राजा को सन्यास ग्रहण करने के लिए बाध्य कर देती है।[6]

उत्तराधिकार—उत्तराधिकार राजा के बड़े लड़के को ही प्राप्त था। प्राचीन राजशास्त्रों में यह निर्णय स्पष्ट है। भारतीय राजाओं के उत्तराधिकार का निर्णय इसी आधार पर किया जाता था। राजा उदयन की पूरी वंशावली, ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी बनने का स्पष्ट प्रमाण है। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के बाद क्रमशः परीक्षित, जनमेजय राजा हुए। पुनः उसका ज्येष्ठ पुत्र शतानीक राजा हुआ। शतानीक के बाद उदयन राजा बना। अन्ततः उदयन का ज्येष्ठ पुत्र नरवाहनदत्त चक्रवर्ती राजा हुआ।[7]

युवराज—उत्तराधिकारी राजकुमार को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। कौटिल्य ने अठारह राज्याधिकारियों में युवराज को भी गिना है। पहली श्रेणी में मन्त्री, पुरोहित,

---

१. क० स० सा० २।४।३९ २. वही—१२।२६।६७

न देव युज्यते कर्तुमेतत् राज्ञः कथंचन। न हि राज्यं बहुछिद्रं क्षणं तिष्ठत्यरक्षितम्।

३. क० स० सा० १२।२६।६८ ४. वही १२।२६।६९ ५. वही १४।४।१९१

६. क० स० सा० १६।३।४२-४३ "ऊचुस्ते सुतेनेदं राज्यं त्यक्तं तवाधुना। मुनिधर्मो गृहीतश्च सर्वसंन्यासकारिणा।

७. क० स० सा० २।१।६-७

सेनापति और युवराज हैं।[1] राजा विधिवत् भावी राजा को मांगलिक कृत्यों द्वारा युवराज घोषित करता था। युवराज पद पर अभिषेक का विस्तृत वर्णन कथासरित्सागर में मिलता है। राजा शतानीक ने उदयन को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।[1] पुनः उदयन ने अपने उत्तराधिकारी पुत्र नरवाहनदत्त का युवराज पद पर अभिषेक किया।[3] यह समारोह बहुत ही उल्लास के साथ मनाया जाता था। नरवाहनदत्त के यौवराज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है। "अभिषेक के समय युवराज के मस्तक पर पहले मातापिता के आनन्दाश्रु गिरे, तदनन्तर वेदमन्त्रों से पवित्र तीर्थों का जल गिरा। अभिषेक के जल से उसके मुखकमल के धुल जाने पर, दिशाओं की मुखश्री धुल गयी। माताओं के द्वारा उसके गले में मंगल मालायें पहनाई गईं। हर्ष से बजनेवाले देवताओं के वाद्यों की स्पर्धा में मानों आनन्दवाद्यों के शब्द आकाश में गूंजने लगे।"[4] सेवकों, दरिद्रों को धन बाँटा गया।[5] "अभिषिक्त युवराज नरवाहनदत्त जयकुंजर पर चढ़कर बाहर निकला और नागरिक स्त्रियों नील कमल रूपी नेत्रों से देखा। युवराज नगर देवताओं का दर्शन करता हुआ युवराज-भवन में, गया।[6] नगर को ध्वजा और पताकाओं से सजाया जाता था। वारवनितायें मंगल गान करती थीं, देवांगनाओं के द्वारा नृत्य किया जाता था। बन्दीजन मंगल पाठ करते थे। राज पुरोहित धार्मिक विधि-विधान पूरा करते थे।[7]

मन्त्रिमण्डल—राज्य के सम्यग् संचालन के लिए राजा का एक मंत्रिमण्डल होता था। अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि राजा के मन्त्रिमण्डल में रहा करते थे। क० स० सा०[8] में भी राजा के मन्त्रि-मण्डल का स्पष्ट निर्देश है। दिग्विजय के क्रम में राजा के बाहर जाने पर शासन का भार इसी मंत्रिमण्डल पर था। राजा उदयन के पकड़े जाने पर यौगन्धरायण, रुमण्वान् आदि मंत्रियों को राज्य की देखभाल करने का आदेश देता है। इनकी कोई नियत संख्या नहीं थी। एक से दस मन्त्रियों तक का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है।

राजा के भेद—प्रभुशक्ति की उत्तमता एवं हीनाधिकता के आधार पर राजाओं के निम्नलिखित भेद उपलब्ध होते हैं। चक्रवर्ती,[9] अर्धचक्रवर्त्ती,[10] सम्राट्,[11] महाराज[12] मण्डलेश्वर,[13] महामाण्डलिक[14] सामान्य भूपति[15] एवं सामन्त।[16]

इनमें चक्रवर्ती सर्वोत्तम राजा हुआ करता था। इसकी विभूति और वैभव का आधा अर्ध-चक्रवर्ती था। सम्राट् और मण्डलेश्वर समान स्तर के राजा थे। महामाण्डलिक का स्थान मण्डलेश्वर से नीचे था। सामान्य भूपति एवं सामन्त समान महत्व के थे। इनकी गणना सबसे नीचे थी।

राजा के सप्तांग—राजशास्त्रों में राज्य को सप्तांग कहा गया है। महाभारत के अनुसार

---

३. कौ० अ० शा० ४० १. क० स० सा० २।२।२१२ २ वही ६।८।१०७
३. वही ६।८।१०९–११३ ४. वही ६।८।२० ५. वही, ६।८।१२५–१२७
६. वही ६।८।१११–१२१–१२३ १. क० स० सा० ३।५।५२–५२ २. वही १४।४।१४५
३. वही ८।१।९–१० ४. वही २।१।१९९ ५. वही १०।६।१३ ६. वही १२।३४।३८८
७. वही १२।३१।५ ८. वही ४।१।५७ ९. वही २।६।२१

सप्तात्मक राज्य की रक्षा यत्न पूर्वक की जानी चाहिए।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र ये राज्य के सप्तांग बताये गये हैं।[2] मानसोल्लास में भी इन्हीं सात प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन है।[3] इनके अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इनमें सभी का स्थान महत्वपूर्ण है। महाभारत में सभी का स्थान समान महत्त्व का बताया गया है।[4]

इस प्रकार राज्य के जिन सात अंगों की बात मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य आदि ने कही है वे ही कथासरित्सागर में भी माने गये हैं। इन अंगों का क्रमबद्ध वर्णन कथासरित्सागर में भी मिलता है। इनमें सबसे पहला स्थान स्वामी का है। पूर्व में किये गये राजा के स्वरूप, कर्तव्य आदि का विवेचन ही स्वामी का गुण धर्म है। राजा के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण स्थान अमात्य का है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार अमात्य को स्वदेशोत्पन्न, सत्कुलीन, अवगुण शून्य निपुण सवार एवं ललितकलाओं का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का विद्वान्, बुद्धिमान् स्मरण शक्ति सम्पन्न, चतुर, वाक्पटु, प्रगल्भ, प्रतीकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, मित्रता के योग्य, दृढ स्वामिभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान्, निरभिमानी, स्थिर प्रकृति, प्रियदर्शी और द्वेषवृत्ति रहित होना चाहिए।[5]

मन्त्री नियुक्त करने से पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्त पुरुषों के द्वारा उनके निवास स्थान तथा उनकी आर्थिक स्थिति का, सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्र प्रवेश का, नये-नये कार्यों में नियुक्त कर उनकी बुद्धि, स्मृति तथा चतुराई का व्याख्यानों एवं सभाओं के माध्यम से उनकी वाक्पटुता प्रगल्भता एवं प्रतिभा का, आपत्तियों से उनके उत्साह, प्रभाव तथा सहिष्णुता का, व्यवहार से उनकी पवित्रता मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति का, सहवासियों एवं पड़ोसियों के माध्यम से उनके शील, बल स्वास्थ्य गौरव अप्रमाद तथा स्थिर वृत्ति का पता लगाये और उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेष रहित प्रकृति की परीक्षा राजा स्वयं करे। प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय राजा के व्यवहार की ये तीन विधियाँ हैं। स्वयं देखा हुआ प्रत्यक्ष दूसरे के माध्यम से जाना हुआ परोक्ष और सम्पादित कार्यों से किये जानेवाले कार्यों का अनुमान करना ही अनुमेय है। राजा अमात्यों द्वारा उक्त तीनों प्रकार के कार्यों का संचालन करता है।[6]

कौटिल्य ने अमात्य का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रथ एक पहिए से नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजा को भी सचिव रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता होती है।[7] इसी प्रकार मनुस्मृति[8] शुक्रनीति[9], याज्ञवल्क्यस्मृति[10], रामायण[11], महाभारत[12], आदि ग्रंथों में भी अमात्य पद का महत्त्व वर्णित है।

---

१. महा-भा० शा० प० ६९ श्लो० ६४-६५ २. कौ० अ० पृ० ६८० ३. मानसोल्लास श्लो० १०
४. म० भा० शा० प० ६१।४०
सप्ताङ्गस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्यैव तिष्ठतः। अन्योन्य गुण नियुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः।
५. कौ० अ० पृ० ६८१ ६. वही पृ० २९ ७. वही १।७।१५ ८. मनु० ७।५४,
९. शु. नी. २।१ १०. भा. स्मृ. १।३१०, ११. रामा. अयो. १९७।१८ १२. म. भा. सभा. ५।२८

कथासरित्सागर में भी अमात्य का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया गया है। कहा गया है[1]—मन्त्री का कार्य केवल राजा की हां में हां मिलाना नहीं है। उसका प्रथम कर्त्तव्य राजकार्य की चिन्ता करना है। इतना ही नहीं, आगे कहा गया है[2]—जिस प्रकार भावी राजा को युवराज पद पर अभिषिक्त कर राजकार्य की शिक्षा दी जाती थी, उसी प्रकार भावी मन्त्रियों को भी शिक्षा दी जाती थी।[3]

राजा सहस्रानीक ने उदयन को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। अपने मन्त्रियों के पुत्रों को उसने सम्भतिकार के रूप में नियुक्त कर दिया, जो उसके राजा बनने पर मन्त्री बने। वसन्तक, रुमण्वान् और यौगन्धरायण, राजा के मन्त्री बने।[4] राजा उदयन ने भी यौगन्धरायण आदि मन्त्रियों के छह पुत्रों को युवराज नरवाहनदत्त के साथ सम्मतिकार नियुक्त किया।[5] इसी प्रकार राजा अमरदत्त के युवराज मृगांक दत्त के लिए दस युवा मन्त्री नियुक्त थे।[6] कथासरित्सागर में उपलब्ध कथाओं में राजाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अमात्य ही निभाते हैं। प्रारम्भ से ही मन्त्रियों के बुद्धि-कौशल नीतिज्ञता, प्रत्युपन्न मतित्व एवं चतुराई की प्रशंसा की गई है। यौगन्धरायण, वररुचि, गोमुख, गुणशर्मा बुद्धि शरीर आदि मन्त्रियों ने किस प्रकार अपनी प्रतिभा से असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया इसके अद्भुत उदाहरण उपलब्ध हैं। यौगन्धरायण अपने बुद्धिकौशल से उदयन को प्रद्योत के कारागार से छुड़ा लाता है। उसकी उन्नति के लिए वासवदत्ता को छिपा देता है। दिग्विजय की प्रेरणा देकर एक छत्र राजा बना देता है। समूची सफलता के पीछे यौगन्धरायण की सुनियोजित-योजना ही कारण है। उसे स्वामिहित निष्ठुरक[7] कहा गया है।

वररुचि अपने उचित परामर्श से राजा योगानन्द की सहायता करता है। गूढ़ रहस्यों को भी अपने बुद्धिवल से जान लेता है। पांच अंगुलियों का रहस्य[8], मरी मछली के हँसने का रहस्य[9] वह क्षण में जान लेता है। ज्योतिप विद्या से वह रानी के लक्षणों के आधार पर चित्र में छूटे हुए उसके शरीर के तिल को भी जान लेता है, जिससे राजा के मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। गुणशर्मा, रसोइया के द्वारा परोसा गया विषाक्त भोजन उसकी चेष्टाओं द्वारा जान लेता है, दो शत्रुओं से एक साथ घिरे हुए राजा को अपने बुद्धिबल से विजयी बनाता है।[10] राजा वज्रमुकुट का मन्त्री, बुद्धि शरीर, विलासिनी पद्मावती के गूढ़ कामरहस्यों को क्षण भर में जान लेता है। अन्ततः उसकी सहायता से राजा पद्मावती को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।[11] उसकी प्रतिभा से प्रसन्न होकर राजा कहता है कि नाम के अनुसार सचमुच तुम बुद्धि शरीर हो।[12] यशकेतु का मन्त्री दूरदर्शी था।[13]

---

१. क स. सा. ३।३।४६ "सा मन्त्रिता च यद्राज्यकार्यभारैक चिन्तनम्, चिन्ता नु वर्तनं यत् तदुपजीवक लक्षणम्"

२. क. स. सा. ६।७।१८१ "किं मन्त्रेण विना राज्यं, किं सत्येन विना वचः"

३. O. S. Vo. IX, Page IX. "We have also a reference to a system where the crown prince had a court compound of young men in Training for the posts of ministers."

४. क. स. सा २।२।२१३ ५. वही ४।३।९३ ६. वही १२।२।१८

७. क. स. सा. १।५।८ ८. वही १।८।२२ ९. वही २।३।२२ १०. वही ८।६।९४

११. वही १२।८।१ १२. वही १७।८।१५१ १३. वही १२।१९।५

राजा के व्यसनी होने के दुःख से उसका हृदय फट जाता है[1]। उसकी मृत्यु के बाद राजा राज-कार्य सम्भालने लगता है। इस प्रकार अनेकानेक मन्त्रियों ने अपनी प्रतिभा से असम्भव को भी सम्भव कर दिया। साथ ही साथ स्वार्थी, चाटुकार एवं अकर्मण्य मन्त्रियों की चर्चा भी कम नहीं है। उनके दुर्गुणों के कारण राजा एवं राज्य को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। राजा शूरसेन के मंत्री उसे उल्टा सीधा समझाकर उल्लू सीधा करते थे।[2] इस प्रकार इन कथाओं में मन्त्रिपद का महत्व स्पष्ट है। इन्हें कहीं सचिव[3], कहीं मुख्यमन्त्री[4], कहीं महामन्त्री[5] कहा गया है। एक से लेकर दस मन्त्रियों तक का मन्त्रिमण्डल उपलब्ध है।

पुरोहित—अमात्य के बाद पुरोहित का पद महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को शास्त्रप्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नत कुलशील, षडङ्ग वेद, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा दण्डनीति शास्त्र में अत्यन्त निपुण, दैवी, मानुषी आपत्तियों का, अथर्व वेद आदि में बताये गये उपायों से प्रतीकार करनेवाला योग्य व्यक्ति होना चाहिए।[6]

मानसोल्लास के अनुसार पुरोहित को त्रयी विद्या, दण्डनीति, शान्ति कर्म कुशल एवं आथर्वण होना चाहिए।[7] पुरोहित को दण्डनीति में निपुण होना चाहिए। शुक्राचार्य के अनुसार दण्डनीति ही एक ऐसी विद्या है, जिस पर अन्य सभी विद्याओं का योगक्षेम निर्भर है।[8]

मुख्यतः आठ प्रकार के दैवी प्रकोपों की शान्ति, पुरोहित शान्ति कर्म द्वारा किया करता था।[9] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पुरोहित को ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता, सर्व शास्त्रों में समृद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल तथा शान्तिकर्म में निपुण होना चाहिए।[10] मनु के अनुसार भी पुरोहित को गृह्यकर्म तथा शान्त्यादि में निपुण होना चाहिए।[11]

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि राष्ट्र में धर्म का प्रतिनिधि पुरोहित था। इस पद का महत्त्व वैदिक युग से ही वर्णित है। पुरोहित का अर्थ है आगे स्थापित।[12] उसे पुरोधा भी कहा गया है। वह राजा का शिक्षक पथप्रदर्शक ऋषि तथा मित्र के रूप में प्रधान संगी था। वह राजा का आध्यात्मिक गुरु था। ऐतरेय ब्राह्मण में उसे राष्ट्र-गोप्ता कहा गया है।[13] शुक्र ने पुरोहित को "राष्ट्रभृत्" कहा है।[14] पुरोहित न केवल धर्म का ही प्रधान था अपितु राजनीति में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह युद्ध में भी राजा के साथ जाता था।[15] इसीलिए उसके शस्त्रास्त्र में भी कुशल होने की बात शुक्रनीति में कही गई है।[16]

कथासरित्सागर कालीन भारतीय राजनीति में भी पुरोहित का पद प्राचीन परम्परा के अनुसार ही गौरवपूर्ण माना जाता था। प्रशासन के अन्य उच्चाधिकारियों के समान ये भी सम्मानित थे। इनका पद सामन्त के समान था। अतः सामन्त को प्राप्त होने वाली सारी सुविधायें इन्हें भी प्राप्त

---

१. क. स. सा. ११।१९।६१ २. वही ६।८।२०६ ३. वही १२।७।१ ४. वही ६।८।११८
५. वही १२।३४।४४ ६. कौ. अ. १।९।१५ ७. मानसोल्लास २।२।६७
८. मान. पृ. १५० पर उद्धृत ९. कौ. अ. ४।३।१३ १०. या. स्मृ. १।३।१३ ११. मनु. ६।७८
१२. ऋग्वेद १।१।१ १३. ऐ. ब्रा. ४०।२ १४. शु. नी. २।७४ १५. ऋग्वेद ७।१८।१३
१६. शु. नी० २।१०

थीं। राजा आदित्य सेन ने विदूषक को अपने पुरोहितों में नियुक्त किया, उसे छत्र और सवारी के लिए घोड़ा दिया। इस प्रकार वह ब्राह्मण भी उसी समय राजा के अन्य सामन्तों के समान हो गया।[1]

इससे स्पष्ट है कि इस पद पर एक साथ कई व्यक्तियों की नियुक्ति होती थी। इन्हें छत्र एवं वाहन प्राप्त थे, एवं वे सामन्तों के समान सम्मानित थे। राजा नरवाहनदत्त का शान्ति सोम पुरोहित प्राचीन आदर्शों के अनुसार ही गुणवान है। सभी मांगलिक अवसरों पर गृह्य कर्म के लिए उसे बुलाया जाता है। राज्याभिषेक के अवसर पर सारे मांगलिक कृत्यों को शान्ति सोम पुरोहित ही सम्पन्न करता है।[2] विवाह के अवसर पर वैवाहिक कृत्यों को सम्पन्न करने के लिए राजा नरवाहनदत्त शान्ति सोम पुरोहित को बुलाता है।[3] राजा नरवाहनदत्त के यहाँ भी वैश्वानर एवं शान्ति सोम दो पुरोहित नियुक्त हैं।[4] कथासरित्सागर के अनुसार पुरोहित अथर्व वेद का ज्ञाता हो, वह चतुर एवं तपस्वी हो। ऐसे ही व्यक्ति को राजा पुरोहित के पद पर नियुक्त करे।[5] किन्तु कथासरित्सागर के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन पुरोहित अपनी मर्यादा छोड़ चुके थे। समय के साथ-साथ जिस प्रकार राजाओं एवं मन्त्रियों में कर्त्तव्य हीनता आई, उसी प्रकार पुरोहित जो राष्ट्रधर्म के नेता थे, अपने आचरण से गिर चुके थे। कामी, लोभी, पुरोहितों की संख्या ही अधिक देखने को मिलती है। प्रारम्भ में ही एक पुरोहित नगराधिकारी एवं मन्त्री के साथ पतिवियुक्ता उपकोशा का पीछा करता है। बड़ी चालाकी से वह इन लोलुपों से अपनी रक्षा करपाती है।[6] इसी प्रकार शिव और माधव दो ठग लोभी राजपुरोहित को खूब अच्छी तरह ठगते हैं। अर्थलोभ में वह अपनी कन्या तक दे डालता है। वह घूसखोर भी है।[7]

सेनापति[8]—

राज्य के सप्तांगों में सेनापति का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। बल के बिना राज्य की रक्षा एवं प्रशासनिक स्थिरता नहीं लायी जा सकती। सेना की सफलता योग्य सेनापति के अधीन है। मानसोल्लास[9] के अनुसार सेनापति को कुलवान्, शीलवान्, धैर्यवान् अनेक भाषाओं में निपुण, गजाश्व पर चढ़ने में दक्ष; शास्त्र का ज्ञाता, वाहनों का विशेषज्ञ, अस्त्र-शस्त्र का विशेषज्ञ, दानी मधुर भाषी, दान्त, मतिमान् दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर तथा भृत्यों को विशेष रूप से मानने वाला होना चाहिए।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार भी उसे सेना के चारों अंगों के प्रत्येक कार्य को जानना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के युद्ध में सभी प्रकार के अस्त्रशस्त्र के संचालन का परिज्ञान भी उसे होना चाहिए, हाथी घोड़े पर चढ़ना और रथ संचालन में भी अत्यन्त प्रवीण होना चाहिए एवं चतुरंगिणी सेना के प्रत्येक कार्य का उसे परिज्ञान होना चाहिए। युद्ध में उनका कार्य अपनी सेना पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के साथ ही साथ शत्रु की सेना को नियन्त्रित करना भी है।[10] इसी प्रकार शुक्रनीति[11] में भी सेनापति के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। महाभारत में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक माना गया है। वह शस्त्र संचालन में फुर्तीला विविध प्रकार के संग्राम-कौशल में निपुण, सिंह के सदृश पराक्रम वाला, महाद्युति

१. क० स० सा० ३.४ १२५-१२६   २. वही १५।२७५.   ३. वही १८.१.५४   ४. वही ६८।११६
५. वही ६८ १९३   ६. क० स० सा० १।४।२९-३०   ७. वही ५।१।११९   ८. वही १६।२।१
९. मान० २।२४०   १०. कौ० अ० पृ० २९३   ११. शु० नी० २।४२२-४२२

सम्पन्न, सुदंष्ट्र, सुहनु, सुबाहु, सुमुख, अकृश, विशालाक्ष, सुपाद सभी शस्त्रों तथा शस्त्रविज्ञान का पंडित सत्यवादी और जितेन्द्रिय हो।[1]

कथासरित्सागर में अनेक सेनापतियों का वर्णन है जो अपने स्वामी के प्रति निष्ठावान् एवं रणनीति में कुशल हैं। इनमें कुछ को मुख्य सेनापति एवं कुछ को सेनापति कहा गया है। सुप्रतीक[2] मुख्य सेनापति है। हरिशिख[3], रुमण्वान्[4], बलधर[5] आदि सेनापति कहे गये हैं। भिल्ल, शबर आदि आर्येतर संगठनों में भी सेनापति हुआ करते थे।[6] प्रधान सेनापति के अतिरिक्त रथ सेनाध्यक्ष, पैदल सेनाध्यक्ष, हस्ति सेनाध्यक्ष और अश्व सेनाध्यक्ष हुआ करते थे। सभी अपने-अपने विभागों के विशेषज्ञ थे।

ऊपर वर्णित सेनापतियों में राष्ट्र एवं राजा के प्रति अटूट प्रेम है। सेनापति बलधर राजा की प्रसन्नता के लिए अपनी पत्नी को भी सौंप देने को तैयार है। छल-कपट, विषकन्या, जहरीले द्रव्यों के प्रयोग आदि में निपुण हैं। व्यूह रचना विभिन्न शस्त्रास्त्रों का भी उन्हें परिपूर्ण ज्ञान है। मार्ग में विनाश का जाल[7] बिछाने में भी निपुण हैं।

कोषाध्यक्ष—कोष राज्य का आधार है। कौटिल्य ने "कोषपूर्वा समारम्भाः"[8] कहकर कोष को सम्पूर्ण राज्य के कार्यों का आधार माना है। इस कोष का अधिकारी कोषाध्यक्ष कहा जाता था। इसकी योग्यता के बारे में बताया गया है कि उसे गुणाकार, भागहार और त्रैराशिक विधि से परिचित होना चाहिए। लोभ, रागद्वेष और प्रमाद रहित होना चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मात्सर्य आदि दुर्गुणों का अभाव परमावश्यक है।[9]

कथासरित्सागर में कोष और बल का विशेष महत्त्व वर्णित है। ये राजा की शक्ति के सूचक हैं। राजा यशोधन[10], राजा चामरवाल कोष, दुर्ग और बल से युक्त हैं।[11] राजाओं के कोष का अधिकारी कोषाध्यक्ष[12] कहा गया है। कोषाध्यक्ष को कोषागाराधिकारी[13], भाण्डगारिक[14] भाण्डारी[15] भी कहा गया है।

दण्डाधिकारी—इसका दूसरा नाम धर्माधिकारी भी है। कथासरित्सागर में इसे दण्डाधिकारी[16] कहा गया है। यह न्यायपालिका का अध्यक्ष था। सोमेश्वर के अनुसार इसे कुशल, रागद्वेष से रहित, लोभरहित तथा निर्भय होना चाहिए।[17] कथासरित्सागर में इसका कई जगह उल्लेख मिलता है। एक डाकिनी दण्डाधिकारी[18] को द्वेष से मृत्युदण्ड प्राप्त शव की चर्चा से ठगती है। अन्य प्रसंगों में मन्त्री, पुरोहित आदि के समान यह भी राजा के साथ रहा करता था। राजा विक्रमादित्य की प्रशंसा दण्डाधिकारी करता है।[19]

---

१. महा० उ० प० १५१ २. क० स० सा० १२।२४।१८ ३. वही ६।८।११४ ४. वही २।५।४४
५. वही १२।२४।१८ ६. वही १८।४।४८ ७. वही ३।५।८०
८. कौअ० ८।२।१ ९. मानस० पृ० १५७ १०. क० स० सा० १२।२४।६ ११. वही ९।४।१४५
१२. वही १२।८।२९ १३. वही १२।८।२४ १४. वही १२।८।२९ १५. वही ७।९।३२
१६. वही ५।२।१२८ १७. मानस २।२।९३ १८. क० स० सा० ५।२।१२८ १९. वही, १८।२।२७९

तृतीय परिच्छेद

राष्ट्र

राष्ट्र की सुखसमृद्धि ही राजा का पुनीत कर्त्तव्य था। मन्त्रिपरिषद के सहयोग से वह स्वराष्ट्र की व्यवस्था किया करता था। कामन्दकीय नीति सार के अनुसार राज्य के समस्त अंगों की उत्पत्ति राष्ट्र से बताई गई है।[1] प्राचीन राजशास्त्रों में उन्नत राष्ट्र के लिए कई बातें आवश्यक थीं। जिस राष्ट्र में धन धान्य, खानें पशु, जल, शुद्धाचरण वाले व्यक्ति, वन, हाथी, सड़कें व्यापारी तथा अन्य वस्तु हों वह राज्य ऐश्वर्यशाली कहा जाता है।[2] मनु के अनुसार ऐश्वर्यशाली राष्ट्र में आर्य एवं शिष्ट व्यक्तियों का निवास होना चाहिए।[3] कथासरित्सागर में भी उन्नत राष्ट्र के पूर्वोक्त लक्षण बताये गये हैं।[4] प्रजा को राष्ट्र में अनुरक्त होना चाहिए।[5] एक अन्य प्रसंग में भी प्रजा की सुखसमृद्धि का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है।[6]

षाड्गुण्य सिद्धान्त—प्राचीन भारत की वैदेशिक नीति का संचालन षाड्गुण्य सिद्धान्त के अनुसार किया जाता था। इनके निम्नलिखित अंग बताये गये हैं—सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव।

कथासरित्सागर कालीन राजा भी इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार अपना कर्तव्य निश्चित किया करते थे। कथासरित्सागर में राजा के कर्त्तव्य विवेचन में बताया गया है कि उसे सन्धि विग्रहादि छह गुणों का प्रयोग करना चाहिए।[7]

सन्धि—कुछ विशेष शर्त्तों पर परस्पर किया गया समझौता सन्धि है। इसके कई प्रकार बताये गये हैं। विजित राजा, जीतनेवाले राजा की शर्त्तों के अनुसार आत्मसमर्पण करे वह अमिष सन्धि है। सेनापति और राजकुमार को शत्रु के सामने भेजकर जो सन्धि की जाती है, उसे पुरुषान्तर सन्धि कहते हैं। शत्रु के कार्य की सिद्धि के लिए "मैं स्वयं अकेला ही जाऊँगा या मेरी सेना जायेगी" इस प्रकार की शर्त के अनुसार जो सन्धि की जाती है, उसे अदृष्ट पुरुष सन्धि कहते हैं। उक्त तीनों सन्धियों में से प्रथम दो सन्धियों में विश्वास के लिए जब विजेता राजा प्रमुख राजपुरुषों की कन्याओं से विवाह करे तो इसे दण्डोपनत सन्धि कहते हैं। धन आदि देकर यदि अमात्य को छुड़ाया जाय तो उसे परिक्रम सन्धि कहते हैं। परिक्रम सन्धि को सुविधापूर्वक निभाने के लिये जब किश्तों पर धन दिया जाय तो उसे उपग्रह सन्धि कहते हैं। जब किसी समय और स्थान पर धन देने का वचन दिया जाय तो उसे प्रत्यय सन्धि कहते हैं। निश्चित किये गये धन को नियत समय पर देना और कन्या आदि के दान से भविष्य में सुखकारी सन्धि को सुवर्ण सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के विपरीत यदि माँगी हुई धनराशि तत्काल देनी पड़े तो इसे कपाल सन्धि कहते हैं।[8]

---

१. का० नी० सा० ६।३ राज्याङ्गानां च सर्वेषां राष्ट्राद् भवति संभवः। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत्।

२. वही ४।५२ ३. मनु० ७।६९ ४ क० स० सा० १३।११।३३ न मे राष्ट्रे पराभूतो न दरिद्रो न दुःखित

५. वही २।४।३८ ६. वही ९।५।२७

७. क०स०सा० ६।८।२०० "प्रयुञ्जीत ततः सन्धिविग्रहादीन् गुणांश्च षट्"। ८. कौ० अ० शा० पृ० ५४९–५६३

कथासरित्सागर में लगभग इन सभी तरह की सन्धियों का वर्णन मिलता है। इसमें कन्या सम्बन्ध नामक सन्धि की प्रचुरता है।[1] उदयन ने मगध नरेश की पुत्री के साथ इसी सन्धि के अनुसार विवाह किया। साथ ही साथ वह सतर्क भी है कि कहीं वह विरुद्ध क्रिया तो नहीं कर रहा है।[2] राजा उदयन से हारने के बाद ब्रह्मदत्त सन्धिदूत भेजकर स्वयं आत्मसमर्पण करता है।[3] राजा विक्रमशक्ति भयभीत हो महासेन से सन्धि कर लेता है।[4]

विग्रह[5]—विग्रह की परिभाषा कौटिल्य ने इस प्रकार की है। "अपकारो विग्रहः"। विग्रह हीन बलवाले राजा से ही करना चाहिए सबल से नहीं।[6]

विग्रह के आठ प्रकार बताये गये हैं।[7] कामज (स्त्री के कारण), इष्टज (मित्र के लिए), लोभज (धनहरण के कारण), मदोत्थित (अहंकार के कारण), भू भव (भूमि के कारण), एकद्रव्याभिलाष (किसी एक ही अर्थ की दृष्टि से), मानसम्भव (मान रक्षा के लिए) तथा अभयाख्य (शरणागत की रक्षा के लिए)। क० स० सा० कालीन राजाओं का विग्रह मुख्यतः कामज था।

आसन—कौटिल्य के अनुसार "उपेक्षणमासनम्" कहा गया है।[8] उपेक्षा करना ही आसन है। मानसोल्लास में दस प्रकार के आसन बताये गये हैं। उनके नाम हैं—

स्वस्थासन, उपेक्ष्यासन, मार्गशोधासन, दुर्गसाध्यासन, राष्ट्रस्वीकरणासन, रमणीयासन, निकृटासन, दूरमार्गासन, प्रलोभासन और पराधीनासन।[9]

यान—यान का अर्थ प्रयाण करना है। एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करने के क्रम में जो प्रयाण करता है उसे यान कहते हैं। प्रयाण करते समय राजा को यात्रा सम्बन्धी शकुनों पर भी विचार करना चाहिए। कथासरित्सागर में सारी तैयारी पूरी होने पर विजयसूचक शकुनों से प्रसन्न राजा उदयन, शुभ दिन में पहले पूर्व दिशा में चढ़ाई करता है।[10]

संश्रय—संश्रय का अर्थ है किसी राजा की शरण ग्रहण करना। जब हीनशक्ति वाला राजा विजय के लक्षण नहीं देखता, तब वह किसी शक्तिशाली राजा की शरण में जाता है।

द्वैधीभाव—इसका शाब्दिक अर्थ है, दोनों ओर मिले रहना। कौटिल्य ने सन्धि और विग्रह दोनों गुणों के एक साथ प्रयोग करने को द्वैधीभाव कहा है।[12]

इस प्रकार कथासरित्सागर में भी प्राचीन षाड्गुण्य सिद्धान्त के अनुसार ही राजा अपनी वैदेशिक नीति का संचालन किया करते थे।

तीनबल—बल का नाम है शक्ति। मन्त्रशक्ति ज्ञानबल है, प्रभुशक्ति कोष है और सेनाबल एवं उत्साह शक्ति विक्रमबल है।[13] कथासरित्सागर में विजिगीषु राजा के लिए इन तीनों शक्तियों को बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न[13] करने की बात कही गई है। दूसरे देशों को जीतनेवाले राजा को मन्त्र, उत्साह

---

१. वही, ३।३।१५६ "कन्या सम्बन्ध नाम्ना हि साम्ना सम्यक् स बाधितः"। २. कौ० अ० शा० ३।६।१५८
३. क० स० सा० ३।५।८७ ४. वही ८।६।८३ ५. वही १४।४।१९१ ६. वही १२।३५।१२५
७. कौ० अ० पृ० ५४९ ८. वही पृ० ५४९ ९. मानसोल्लास, पृ० २२३।२२४
१०. क० स० सा० ३।५।६२ ०१. कौ० अ० पृ० ५४९ १२. कौ० अ० ६।२।१२ १३. क० स० सा० ६।८।१९८
"उत्साहः प्रभुता मन्त्रशक्ति त्रययुतस्ततः। परदेश जिगीषु स्याद् विचार्य स्वपरान्तरम् ॥"

एवं प्रभुशक्तियों से युक्त होना चाहिए। इन शक्तियों का महत्त्व सभी राजशास्त्रों में वर्णित है। महाभारत के आश्रमवासिक पर्व में तीनों ही शक्तियों को राजा की ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए आवश्यक बताया गया है।[1] सरस्वती विलास में उद्धृत गौतम धर्मसूत्र के अनुसार, कोप को इन तीनों शक्तियों का आधार बताया गया है।[2]

सोमेश्वर के अनुसार उसी राजा में स्थित शक्ति प्रभुशक्ति है जिसकी आज्ञा सम्पूर्ण राज्य के शीर्ष पर विद्यमान रहती है।[3] जिस शक्ति से युक्त होकर मनुष्य कार्य में काम क्रोध, भय, लोभ तथा अन्य तृष्णाओं से आकृष्ट नहीं होता वही मन्त्रशक्ति है।[4] जिस राजा के हृदय में नित्य ही उत्साहपूर्ण प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, उसी शक्ति एवं विक्रम को सोमेश्वर ने उत्साह शक्ति माना है।[5]

इसी प्रकार कथासरित्सागर कालीन राजाओं में भी इन शक्तियों की अपेक्षा की जाती थी।

चार उपाय—प्राचीन राजनीतिशास्त्र के अनुसार साम, दान, भेद और दण्ड इन चार उपायों के आधार पर राजा को अपने राज्य का विस्तार एवं अपनी प्रजा पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए।

कथासरित्सागर में इन चार उपायों का विस्तृत वर्णन किया गया है। राजा उदयन के मन्त्रियों ने उपाय चतुष्टय की आवश्यकता पर बल दिया है।[6] सामदानादि उपायों को जानकर योगक्षेम का विस्तार करना चाहिए।

राजा मृगांकदत्त कर्मसेन की पुत्री से विवाह की अभिलाषा से घेरा डाले पड़ा है। उसका मंत्री मातंगराज समझाता है कि विजिगीषु राजा को कार्याकार्य में भेद जानना चाहिए। जो कार्य उपाय से भी असाध्य हो उसे छोड़ देना चाहिए। साम, दान, भेद और दण्ड ये चार प्रकार के उपाय बताये गये हैं।[7]

इन उपायों का महत्त्व प्राचीन समय से ही वर्णित है। वाल्मीकीय रामायण में इसकी चर्चा है।[8] याज्ञवल्क्य ने भी "उपाया: सामदानं च भेदो दण्डस्तथैवच"[9] कहा है। शुक्रनीति में भी इसी प्रकार का वर्णन है।[10] आगे कहा गया है कि जिस प्रकार उपाय से गज, व्याल तथा सिंह भी वश में हो जाते हैं उसी प्रकार उपाय से मृत्युलोक के जीव स्वर्ग पहुँच जाते हैं।[11] याज्ञवल्क्य ने उपायों को एक सुन्दर उदाहरण से स्पष्ट किया है।[12] पहले पिता बालक को साम प्रयोग के द्वारा समझाता है पुनः लड्डू का प्रलोभन देता है,

---

१. महा० भा० आश्रमवासिक ७।६ २. सरस्वती विलास, पृ० ४६ ३. मानसोल्लास २।८।६९६

४. मानसोल्लास २।९।७२१ ५. मानसोल्लास २।१०।७२४

६. क० स० सा० ६।८।२०० "सामदानाद्युपायज्ञो योगक्षेमं प्रसाधयेत्"

७. वही, १२।३५।१२१–१२२ कार्याकार्य विभागः प्राग्बोद्धव्यो विजिगीषुणा। असाध्यं यदुपायेन तत् कार्यं परित्यजेत्।
तत्कार्यं यदुपायेन साध्यं तत्र चतुर्विधः। उपायः सामदानं च भेदो दण्ड इति स्मृतः।

८. वा० रा० सुन्दर का० ४१।२–३ न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते। न दानमर्थोपचितेषु युज्यते।
न भेद साध्याः बलदर्पितार्जनाः। पराक्रमस्त्वेह ममेह रोचते'।

९. याज्ञवल्क्य स्मृ०—१।३४६ १०. शु० नी० ४।२१

११. शु० नी० ४।२२ उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहोऽपि साध्यते भूमिष्ठाः स्वर्गमायान्ति वज्रं भिदन्त्युपायतः।

१२. याज्ञ० अस्वाराध्याय ३४६ "अधीष्व पुत्रकाधीष्व तुभ्यं दास्यामि मोदकान्। यद्वान्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाट्यामि ते॥"

यह दान प्रयोग है। अध्ययन में तब भी प्रवृत्त न होने पर मनोरंजन की चीजें उसके, सामने ही उसे न देकर दूसरों को दे देने को कहता है, यह भेद है। इससे भी काम न चलने पर भय द्वारा पढ़ने के लिए कहा जाय, तो वह दण्ड है।

इन चार उपायों में साम सर्वोत्तम, भेद मध्यम, दान अधम और दण्ड कष्टतम है। बिना द्रव्य की हानि के कार्य सिद्ध हो जाने के कारण साम अत्यन्त उत्तम है। सन्देह रूप होने से भेद मध्यम एवं धन के क्षय होने पर भी सिद्धि भाग्याधीन होने के कारण दान अधम उपाय है। दण्ड तो कष्टतम है ही।

कथासरित्सागर में भी साम की अपेक्षा दान, दान की अपेक्षा भेद एवं भेद की अपेक्षा दण्ड को निकृष्ट बताया गया है।[1] इसी को और स्पष्ट करता हुआ मातंगराज मृगाङ्कदत्त से कहता है कि लोभ-रहित कर्मसेन दान से वश में आनेवाला नहीं। इससे असन्तुष्ट भी कोई दिखाई नहीं देता, अतः भेद प्रयोग भी सम्भव नहीं। दुर्गस्थ अधिक बलशाली होने से दण्ड प्रयोग भी सम्भव नहीं, अतः साम प्रयोग ही उचित है।[2]

---

१. क० स० सा० १२।३५।१२३ "पूर्वः पूर्वो वरस्तेषां निकृष्टश्च परः परः। तस्मात् सामप्रयोगस्ते पूर्वं देवेह युज्यते ॥"

२. क० स० सा० १२।३५।१२४-१२७निर्लोभे कर्मसेने हि राज्ञि दानं न सिद्धये। न भेदो नहि सन्त्यस्य क्रुद्धलुब्धविमानिताः ॥ दण्डश्च दुर्गदेशस्थे तस्मिन्नति बलाधिके। नृपतेरजितपूर्वोऽन्यः प्रयुक्तः संशयावहः ॥ तत्तस्य राज्ञः साम्नैव दूतस्तावत् विसृज्यताम्।

चतुर्थ परिच्छेद

शासन व्यवस्था

कथासरित्सागर कालीन प्रशासन व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय तथ्य प्राप्त नहीं है। अशोक आदि राजाओं के समय से प्रचलित प्रशासनतन्त्र के अनुसार ही राजा कुशल प्रशिक्षित प्रशासकों के माध्यम से राज्य की देखभाल करता था। प्राचीन व्यवस्थापक पद इस समय भी विद्यमान थे। श्री अतुल चटर्जी ने कथासरित्सार कालीन प्रशासनतन्त्र के बारे में लिखा है "किसी प्रकार के प्रशासन तन्त्र का प्रमाण कथासरित्सागर के समय नहीं मिलता। इससे यही मानना पड़ता है कि प्राचीन समय से प्रचलित प्रशासन तन्त्र ही इस समय भी प्रचलित था।[1]

मनु के अनुसार शासन की इकाइयों का गठन दशम पद्धति के अनुसार किया गया था। प्रशासन के लिए ग्राम सबसे छोटी इकाई माना जाता था। इसका प्रबन्धक अधिपति कहा जाता था। दूसरी इकाई दस ग्रामों का समूह था। इसका अधिकारी दश ग्रामपति था। तीसरी इकाई बीस ग्रामों की थी, इसका अधिकारी विंशतीश कहा जाता था। सौ ग्रामों का अधिपति शतेश और सहस्र ग्रामों का शासक सहस्रपति कहा जाता था।[2] कथासरित्सागर में इस प्रकार का कोई प्रशासनिक विभाजन नहीं मिलता। ग्राम और नगरों की चर्चा बहुधा हुई है। कथासरित्सागर कालीन प्रशासकों को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं।

पहले प्रकार के अधिकारी प्रशासन का कार्य करते थे। पहले वर्ग में राष्ट्राधिकारी मुख्य प्रतीहार, नर्मसचिव, विनोद मन्त्री, चाराधिकारी अमात्य, पुरोहित, सेनापति, मुख्य प्रतीहार, प्रतीहार द्वारपाल, लेखहार, अन्तःपुर चेटी, द्वारपालिका आदि हैं। दूसरे वर्ग में नगराध्यक्ष, नगर पुररक्षी, रक्षक, सिपाही आदि हैं।

प्रतीहार—सोमेश्वर ने कोषाध्यक्ष के बाद प्रतीहार का उल्लेख किया है। राजा को चाहिए कि वह उन्नत, दक्ष, मधुरभाषी, गर्वरहित सबके चित्त को लुभाने वाले व्यक्ति को प्रतीहार के पद पर नियुक्त करे।[3] यह राजा को परमप्रिय था।

शुक्र के अनुसार प्रतीहार अस्त्रशस्त्र में कुशल दृढांग आलस्यरहित हो तथा नम्रतापूर्वक सबका स्वागत करे।[4] कथासरित्सागर में प्रतीहारों की संख्या अधिक है। प्रतीहारों में एक मुख्य होता था।[5]

---

१. O. S. Vol. Ix Foreword Page IX "But there is little evidence of any complex political and administrative organisation at the Centre of govt, we are led to presume that the system of regional administration by means of trained bureaucracy···Continued to survive."

२. मनु० ७।११५ ग्रामस्याधिपतिं कुर्यात् दशग्रामपतिं तथा विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च।

३. मानसोल्लास, २।२।१२६ तथा चाणक्य संग्रह—"इङ्गिताकार तत्वज्ञो बलवान् प्रियदर्शनः, अप्रमादी सदा दक्षः प्रतीहारः स उच्यते। ४. शु० नी० २।९७३ ५. क० स० सा० ४।१।३८

कौटिल्य ने राज्याधिकारियों के तीन वर्ग किये हैं। दौवारिक या प्रतीहार दूसरे वर्ग के अधिकारी माने गये हैं। द्वारपालों के समान ही अन्तः पुर के द्वारों पर द्वारपालिकायें[1] नियुक्त थीं। कथासरित्सागर में इनका भी उल्लेख है।

लेखहार—कथासरित्सागर में लेखहार[2] का भी उल्लेख है। शुक्रनीति के अनुसार इसे गणना में कुशल, देशविदेश की भाषा के भेदों को जानने वाला, असंदिग्ध तथा स्पष्ट लिखने वाला होना चाहिए।[3] कथासरित्सागर में इसके कई नाम हैं।

राष्ट्राधिकारी[4]—कौटिल्य के अनुसार जो अधिकारी प्रथम वर्ग में रखे गये हैं उन्हें ही राष्ट्राधिकारी समझा जाता था। मंत्री, पुरोहित सेनापति और युवराज ही राष्ट्राधिकारी हैं। मन्त्रियों में राजा के मनोविनोद के लिए नर्मसचिव[5] या विनोदमन्त्री[6] नियुक्त थे। राजा के मनोविनोद के लिए प्रसंगानुकूल कथा कहनेवाले भी थे जो कथक[7] कहे जाते थे। दूतों का प्रधान अधिकारी चाराधिकारी कहा जाता था।[8] इनके अतिरिक्त राजा की सुरक्षा के लिए अंगरक्षक[9] नियुक्त थे। राजा के परिचारक राजसेवक[10] कहे जाते थे। इनके अतिरिक्त राजमहल में कुछ स्त्रियाँ भी विभिन्न पदों पर नियुक्त थीं। द्वारपालिका[11] अन्तः पुर चेटी[12] दासी[13] आदि स्त्रियाँ विभिन्न पदों पर नियुक्त थीं।

दूसरा राज्यकर्मचारियों का वर्ग प्रशासन का कार्य करता था। इनमें नगराध्यक्ष[14] प्रमुख है। इसे दण्डाधिप[15] (आज का मजिस्ट्रेट) भी कहते थे। इसे नगराध्यक्ष नगररक्षक,[16] नगरशासक,[17] पुररक्षी[18] आदि कहा जाता था। स्त्रियाँ भी इस पद पर नियुक्त की जाती थीं जिन्हें पुररक्षिका[19] कहते थे।

नगर का प्रशासन इन्हीं के ऊपर था। अपराधियों को पकड़ना, अपराधों को रोकना इनका प्रमुख कर्त्तव्य था। इनके अधीनस्थ राजपुरुष[20] (सिपाही) थे। इनके अनैतिक आचरण की कई कथायें कथासरित्सागर में उपलब्ध हैं। उपकोशा का पीछा नगरपाल[21] भी करता है। इनके अतिरिक्त सारथी, क्षत्ता[22] आदि सेवक थे।

न्याय और दण्ड—न्याय और दण्ड राज्य के रीढ़ हैं। इन्हीं पर राज्य की सुखशान्ति निर्भर है। राजशास्त्रों में दण्ड की महिमा वर्णित है। मनु के अनुसार दण्ड सर्वोपरि है।[23] इसी प्रकार महाभारत में

---

१. वही ७।१।३, २. वही १२।३४।३६

३. शु० नी० २।१७२ "गणना कुशलो यस्तु देशभाषाप्रभेदवित् असंदिग्धमगूढार्थं विलिखेत्स च लेखकः।

४, क० स० सा० २।४।३८, ५. वही ५।५।३८, ६. वही ६।८।११६ ७. वही १।२।२

८. वही १२।३६।७९ ९. वही ७।३।१६ १०, वही १६।२।१२४ ११. वही ७।१।३

१२ वही १४।२।१३१, १३. वही १३।१।५३ १४. वही १२।३६।३८ १५. वही १।४।२९

१६. क० स० सा० २।५।१६९, १७. वही १।४।३८, १८. वही १२।८।१६७ १९. वही १४।१।१४

२०. वही २।१।८४ २१. वही १।४।२९ २२. वही १२।४।११२

२३. मनु ७।२३ "सर्वदण्डजितो लोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः। दण्डस्यहि भयात् सर्वं जगत् भोगाय कल्पते।

भी दण्ड की महिमा गाई गई हैं।[1] कौटिल्य ने दण्ड के तीन भेद बताये हैं, वे हैं, सुविज्ञात प्रणीत, दुष्प्रणीत और अप्रणीत।[2]

कथासरित्सागर कालीन राजाओं का न्याय और दण्ड विधान प्राचीन सिद्धान्तों के अनुरूप ही है। मर्यादा का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के लिए कठोर दण्ड देने का विधान था। न्यायपालिका का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही था। किन्तु वह भी मनमाना न्याय करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था। प्रमाण और साक्ष्य की आवश्यकता उसे भी थी।

वासवदत्ता एक दुष्टा स्त्री का स्वप्न देखती है। वही स्वप्न में देखी गई स्त्री राजसभा में उपस्थित होती है। वह अपने पति पर अभियोग लगाती है। किन्तु वासवदत्ता के स्वप्न से राजा सचाई जान चुका है। अतः उसी आधार पर राजा दण्ड देना चाहता है। किन्तु यौगन्धरायण प्रमाण और साक्ष्य के अभाव में निर्णय न देने की राय देता है।[3] पुनः साक्षी के आधार पर ही उसे देश निकाला की सजा दी गई।[4] परदाराभिगामी को देशनिकाला एवं सम्पत्ति हरण[5] की सजा दी जाती थी। परदारागमन के लिए सर्वस्वहरण[6] की सजा विहित थी। धरोहर के रूप में रखे गये धन का अपहरण करने वाले दुष्ट बुद्धि का धन छीन कर उसके हाथ तथा जीभ काट दिये गये।[7]

छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी मृत्युदण्ड की सजा दी जाती थी। चोरी के लिए भी मृत्यु दण्ड दिया गया।[8]

राजद्रोही के लिए मृत्युदण्ड अनिवार्य था। सोमदत्त ब्राह्मण को पकड़ने के लिए राजा सिपाही भेजता है। सोमदत्त सिपाहियों से लड़ता है। इस अपराध के कारण उसे मृत्युदण्ड दिया जाता है।[9] उद्दण्ड युवक को "धर्माचरण" (बोण्ड) लिखना पड़ता था। उसे समय-समय पर अपने निर्दोष व्यवहार का प्रमाण देना पड़ता था।[10]

इस काल में भी ब्राह्मण और दूत अवध्य समझे जाते थे। जहाँ अल्पशक्ति के प्रयोग से सुव्यवस्था लाई जा सकती थी वहां अधिक शक्ति का प्रयोग निषिद्ध था। कुबेर ब्रह्म हत्या की निन्दा करते हैं। वे अपने अनुचरों को ब्रह्महत्या के कारण शाप देते हैं। "ब्रह्महत्या कथं पाप कारिता सहसा त्वया, निवार्यते स वित्रास्य विघ्नैस्तैर्न हन्यते।"[11]

दूत—दूत राज्य का अभिन्न अंग है। राज्याधिकारियों में इसकी भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्राचीन समय से ही राजनीति में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिक निभाई है। हितोपदेश,[12] महाभारत[13] तथा मनुस्मृति[14] में इनके गुणों का विशद वर्णन है। कौटिल्य ने दूत को राजा का गुप्त सलाहकार माना है।

---

१. म० भा० शा० व० ५९।७८ "दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः। दण्डनीतिरितिख्याता त्रीन् लोकानभिवर्तते।   २. कौ० अ० १।४ सू० १४-५६.

३. क० स० सा० ४।३।२३ "तथापि साक्षिवचनात् कार्यं देव यथोचितम्, लोकोह्येतदजानानो न प्रतीयात् कथञ्चन

४. वही, ३।३।२५,   ५. वही १।४।८४,   ६. वही ३।५।४८   ७. वही १०।४।२३१

७. क० स० सा० २।२।१७०   ९. वही ३।६।१७   १०. वही ३।१।३०   ११. वही ६।८।७५-७६

१२ हितोपदेश विग्रह १९.   १३. म० भा० उ० प० ३७।२७   १४. मनु० ७।६३।६४,

उन्होंने दूत के गुण एवं दायित्व के आधार पर निसृष्टार्थ, परिमितार्थ तथा शासनहर, ये तीन भेद किये हैं। इस प्रकार सभी राजशास्त्रों में दूत के लिए निर्धारित आवश्यक गुणों में अत्यधिक समता हैं।

उसे प्रतिभाशाली एवं वाक्चतुर होना चाहिए। कथासरित्सागर में दूत के आवश्यक गुणों की चर्चा की गई है। बताया गया हैं कि दूत को प्रतिभाशाली गम्भीर भाषण करनेवाला, कार्यकाल की स्थिति को जानने वाला, कठोर और सहिष्णु होना चाहिए।[1] प्राचीन समय से ही दूत अवध्य रहे हैं। ब्राह्मण एवं दूत का वध शास्त्रविरुद्ध माना जाता था।[2] इसी प्रकार राजा मृगांक, कर्मसेन की पुत्री के लिए दूत भेजता है। कर्मसेन क्रुद्ध हो उठता है। वह दूत से कहता है कि तुम दूत होने से अवध्य हो अन्यथा ऐसे सम्वाद के कारण तुम्हारा वध करडालता।[3] सैन्यविहीन राजा दूत भेजने के अधिकारी नहीं थे।[4]

गुप्तचर—गुप्तचर ही राजा की आँखें हैं। इन्हीं के द्वारा वह राज्य की गतिविधियों को देखता रहता है। प्राचीन समय से ही इसका महत्त्व वर्णित है। कौटिल्य ने कार्यभेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किये हैं—

१. कापाटिक, २. अदास्थित, ३. गृहपतिक, ४. वैदेहक, ५. तापस, ६. सभी, ७. तीक्ष्ण, ८. रसद एवं ९. भिक्षुकी।[5] राज्य की सुव्यवस्था का वहुत कुछ दायित्व गुप्तचरों पर निर्भर है। मनु ने भी इनका महत्त्व बताया है।[6] याज्ञवल्क्यस्मृति[7] एवं महाभारत[8] में भी इनका महत्त्व प्रतिपादित है। कथासरित्सागर कालीन राजनीति में गुप्तचरों का जाल सा विछा हुआ प्रतीत होता है। इनका विशेष उपयोग आक्रमण के उद्देश्य से किया गया है।

यौगन्धरायण के गुप्तचर कापालिक का वेश बनाकर ब्रह्मदत्त के राज्य वाराणसी में प्रविष्ट हो जाते हैं। गुप्तचर ब्रह्मदत्त द्वारा किये गये सभी प्रतिरोधात्मक उपायों की सूचना यौगन्धरायण को दे डालते हैं।[9]

राजा के कर्त्तव्य निर्देश के प्रसंग में वताया गया है कि उसे गुप्तचरों द्वारा मन्त्रियों की गतिविधियों पर ध्यान रखना चाहिए।[9] इनका प्रधान, चाराधिकारी[10] कहा जाता था। स्त्रियाँ भी जासूसी के लिए नियुक्त की जाती थीं।[11] अपराधियों का पता लगाने के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता था।

---

१. क० स० सा० ८।३।१३५ "एष स प्रतिभो वाग्मी गतिज्ञः कार्यकालयोः, कर्कशश्च सहिष्णुश्च सर्वदूतगुणान्वितः।

२. वही ८ ३।१६६. ग्रान्तं द्वतश्च विप्रश्च न वध्य इति गल्पता ३. क० स० सा० १२।३५.९६ "गच्छ वध्योसि किं कुर्म इति क्रुद्धोऽभ्यधान्नृप। "सैन्य हीनस्य चाभून्मे न दूत प्रेषणार्हता।

४. वही २।१।१३ ५. कौ० अ० पृ० ३७ ६. मनु० ७।६६ ७. भा० स्मृ० १।३२७

८. म० भा० ६।३६।७।१३ ९. क० स० सा० ३।५।७४

९. क० स० सा० ६।८।१९७ "जिज्ञासेत् पृथक् चैषां चारैराचरितं तदा। १०. वही, १२।३६।७९

११. वही, १।३।७२

पंचम परिच्छेद

सेना-युद्ध सामग्री

कोष और बल राज्य के आधार माने गये हैं। राजा की शक्ति सैन्यबल पर ही प्रभावशाली बन पाती है। आदिकाल से ही राजशास्त्र प्रणेताओं ने बल का महत्त्व स्वीकार किया है। शुक्र ने बल की परिभाषा देते हुए कहा कि "मनुष्य जिसका आश्रय लेकर निःशंक कार्य करता है वह बल है।"[1] उन्होंने बल के छह भेद बताये हैं, वे हैं—शरीर बल, आत्मिक बल, सैन्य बल, अस्त्र बल, बुद्धि बल तथा आयुबल[2]। इनमें सैन्य बल ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।[3] कौटिल्य के अनुसार राजा को दो प्रकार के कोपों से भय रहता है। पहला है आन्तरिक कोप जो अमात्यों के कोप से उत्पन्न होता है। दूसरा बाह्य कोप, जो शत्रु राजाओं का आक्रमण है। इन दोनों कोपों से रक्षा सैन्यबल से ही हो सकती है।[4]

चतुरङ्गिणी सेना—शुक्र ने शस्त्रास्त्र सज्जित मनुष्यों के संगठित समुदाय को सेना माना है।[5] शुक्रादि आचार्यों द्वारा निरूपित सिद्धान्तानुसार ही सेना संगठन का रूप कथासरित्सागर में भी उपलब्ध है। परस्पर युद्धरत राजाओं की बढ़ती हुई युद्धलिप्सा की पूर्ति के लिए आक्रमण के नये-नये तरीके ढूढ़ निकाले गये। उनके शस्त्रास्त्र, युद्ध-कौशल एवं कपट प्रयोग, पूर्वापेक्षा अधिक वैज्ञानिक एवं प्रभावशाली थे। सभी छोटी-बड़ी समस्याओं का एकमात्र निदान युद्ध ही माना जा रहा था। सैनिकों का मनोबल ऊँचा रखने के लिए युद्ध-जन्य मृत्यु सर्वोत्कृष्ट बताई गई है। युद्ध में मृत सैनिक की आत्मा स्वर्ग से भी ऊपर मंडल भेदन कर पहुँचती है।[6]

शास्त्र ज्ञान के समान ही शस्त्र विद्या का भी अपना अलग महत्त्व था। शस्त्रास्त्र संचालन में प्रवीणता राजाओं के लिए भी अपेक्षित थी। उन्हें निरन्तर शस्त्राभ्यास करना पड़ता था। बिना अभ्यास के राजा युद्ध में सफल नहीं होते। व्यायाम, लक्ष्यवेध और शस्त्रों के अभ्यास के लिए शिकार खेलना आवश्यक बताया गया है।[7] युद्ध विद्या और शस्त्र चातुरी दोनों का ज्ञान आवश्यक है।[8] शस्त्र विद्या की निपुणता की परीक्षा की जाती थी। बिना शस्त्र के कौशल से शस्त्रधारी को पराजित करना "करण प्रयोग" कहा जाता था।[9] इसका ज्ञान भी आवश्यक माना जाता था।

सेना के मूलतः दो विभाग हैं। उन्हें स्वगमा तथा "अन्य गमा" कहा जाता है। स्वगमा के अन्तर्गत पदाति सेना तथा अन्यगमा के अन्तर्गत रथ, अश्व गज आदि वाहनों पर चलने वाली सेना मानी जाती है। रथ सेना, गज सेना, अश्व सेना एवं पदाति सैनिक, चतुरंगिणी सेना के अंग हैं। कथासरित्सागर में चतुरंगिणी सेना का महत्त्व वर्णित है।[10] राजा महासेन की चतुरङ्गिणी सेना प्रस्थान कर रही

---

१. शु० नी० १।३८३ "अशंकितक्षमो येन कार्यं कर्तुं बलं हि तत्"   २. शु० नी० ४।८५८-६१
३. वही १।१७   ४. कौ० अ० ८।२।५   ५ शु० नी० ४।८६४ "सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादि गणात्मिका।
६. क० स० सा० ८।५।५   ७. वही ६।१।१४६   ८. वही, ६।१।१४४   ९. वही ८।६।१४६
१०. वही १।४।७६ "यष्ट्या लिलेख तत्र स नगरं चतुरङ्ग बलयुतम्।

है।[1] हरिभट आदि एक-एक राजा के पास दस-दस हजार रथ, बीस-त्रीस हजार पैदल सिपाही अगणित हाथी एवं अश्व सैनिक थे।[2]

पदाति बल—यह भारतीय सैन्य का मेरुदण्ड था। महाभारत में पदाति बल का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है।[3] मनु के अनुसार भी पदसेना प्रत्येक स्थल में अपना पराक्रम प्रदर्शित करने में समर्थ है।[4] इसके छह भेद बताये गये हैं, वे हैं मौल, भृत्य, मित्र श्रेणी, आटविक तथा अमित्र।[5] वंशक्रम से आई हुई सेना मौल (पैतृक) कही जाती है। धन व्यय कर इकट्ठी की गई सेना भृत्य, मित्रता स्थापित कर इकट्ठी की गई सेना मित्र, निश्चित समय पर सहायता देने वाली, सेना श्रेणी, पर्वत प्रदेश में भिल्ल, निषाद, शबर आदि से संगठित सेना आटविक, एवं शत्रु की सेना से आक्रान्त होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्यु भाव स्वीकार करलें तो उनसे गठित सेना अमित्र कही जाती है।

कौटिल्य ने भी सेना का विभाजन इसी आधार पर किया है।[6] कथासरित्सागर में उपर्युक्त सभी प्रकार की सेनाओं का वर्णन है। उदयन आदि राजाओं के पास अपनी पैतृक सेना है। समय-समय पर इन्हें सहायता देने वाली पर्वतीय प्रदेशों में रहने वाले शबर आदि सैन्य संगठनों की सेना भी हैं।[7] डाकुओं की अमित्र सेना का वर्णन भी मिलता है।[8] राजा देवदत्त कर्णाभूषण गिरवी रख उसके पैसे से सेना इकट्ठी करता है। यह सेना का भृत्य प्रकार है।[9] पदातिबल को सबसे महत्त्व पूर्ण माना गया है।[10]

गजबल—युद्ध में विजय के लिए हाथी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कौटिल्य ने हस्ति प्रधानो विजयो राज्ञाम्"[11] कहा है। हाथी सेना, पानी, दुर्ग, तथा वृक्षों से युक्त स्थलों में बहुत उपयोगी मानी गई है। कामन्दक नीति शास्त्र में इसका समर्थन किया गया है।[12] मनु का कहना है कि अथाह जल में नाव से युद्ध करना चाहिए और अल्पोदक में हाथी से।[13] कथासरित्सागर में गजशक्ति को विजय के लिए आवश्यक बताया गया है। श्रुतशर्मा की सेना में हाथी देख सूर्यप्रभु आदि भी हाथी पर आरूढ़ सैनिक, इकट्ठा करते हैं।[14] चतुरंगिणी सेना में गजबल की चर्चा सम्पूर्ण कथासरित्सागर में है।[15] मानसोल्लास प्रभृति ग्रन्थों में गज, युद्ध के लिए आवश्यक माना गया है।[16] राजा भद्रबाहु, वाराणसी के राजा धर्मबाहु के हाथी को छल से मरवा डालता है। इससे उसकी सैन्य-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह अपनी कन्या देने को तैयार हो जाता है।[17]

अश्वसेना—गज के समान ही युद्ध में अश्व सेना की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं। नकुलाश्वशास्त्र में अश्व का महत्त्व वर्णित है।[18] कथासरित्सागर में भी अश्व सेना का विशद वर्णन

---

१. क० स० सा० १२।३४।२६२ २. वही, ८।३।३६-४२ ३. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, पृ० १२१ पर उधृत "पदाति बहुला सेना दृढ़ा भवति भारत" ४. मनु० ७।१९० "वृक्षगुल्मावृते चापैरसि चर्मायुधैः स्थले"
५. मानसोल्लास २।६।५५६ ६. कौ० अ० शा० ९।२।१ ७. क० स० सा० २।४।४५-४६
८. वही, ६।३।११७ ९. वही, ४।७।८८ १०. वही, ४।७।८८
११. क० स० सा० ८।३।३६ १२. का० नी० शा० "उर्वरा गम्य शैला च विषमा गजमेदिनी'
१३. मनु० ७।०९२ १४. क० स० सा० ८।४।३९ १५. वही ८।३।४२ १६. मानसोल्लास २।६।६२०
१७. क० स० सा० १२।८।७३ "सोऽपि तां प्रददौ तस्मै तद्गजाभावदुर्बलः १८. नकुलाश्वशास्त्र—१।१४

है।[1] कम्बोज सैन्धव आदि घोड़े उत्तम माने गये हैं। उच्च कुलीन घोड़े राजा का हितसाधन स्वयं करते थे। राजा आदित्य सेन मार्ग भूल जाता है। घोड़ा स्वयं उसे ठीक मार्ग पर ले आता है।[2] उत्तम घोड़े प्रत्येक वातावरण को अपने अनुकूल बना लेते हैं। सवार की इच्छा को स्वयं जान लेते हैं।

रथबल—चतुरंगिणी सेना में रथ सेना की गणना की गई है। कथासरित्सागर में सर्वत्र गज एवं अश्व सेना के साथ रथ सेना का वर्णन भी किया गया है। पदाति के साथ रथ सैनिक भी हैं।[3] युद्ध में रथों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है। रामायण एवं महाभारत काल में युद्ध के समय रथों का विधिवत् प्रयोग हुआ है। महाभारत में वासुदेव, मातलि, आदि योग्य सारथियों का वर्णन है। कौटिल्य ने भी रथाध्यक्षों के कार्यों का वर्णन किया है।[4] मनु के अनुसार रथ तथा घोड़े पर आरूढ़ होकर समभूमि पर युद्ध करना उचित समझा जाता था।[5] महाभारत के अनुसार भी पंक तथा गर्त से रहित स्थल, रथयुद्ध के लिए प्रशंसनीय है।[6] साधारणतः रथ में दो घोड़े जोते जाते थे। महारथियों के रथ में चार घोड़े प्रयुक्त होते थे। दिव्यास्त्रधारी रथी किसी भी सेना से लड़ सकता था। युद्ध में काम आनेवाले सांग्रामिक रथ ध्वजाओं से युक्त होते थे। ध्वजा पर उस सेना का चिन्ह बना रहता था। इसी से सेना का दूसरा नाम ध्वजिनी भी है।

कथासरित्सागर में ध्वजाओं का वर्णन है।[7]

सैन्य संगठन—प्रशासनिक सुविधा के लिए समूची सेना का सुनियोजित संगठन किया गया था। राजा समस्त सेना का अध्यक्ष था। उसके बाद सेनापति एवं सेना के विभिन्न अंगों के अध्यक्ष थे। सबसे नीचे सैनिक थे। सेनापति से लेकर सैनिक तक कई इकाइयां थीं। जिस प्रकार आधुनिक सेना में नायक, लेफ्टिनेंट, मेजर आदि की क्रमशः वरीयता होती है उसी प्रकार प्राचीन भारतीय सैन्य संगठन भी था। मायासुर अपनी सेना का निरीक्षण करता है। रथ सेना के विभिन्न संगठनों का वह विस्तृत विवरण देता है।[8] जिस तरह पदाति दल हयदल और अश्वदल में सैनिक पद थे उसी तरह रथयुद्ध में कुशलता की मात्रा के अनुसार रथ सेना में भी अनेक पद थे। वे हैं—अर्द्ध रथी[9], पूर्णरथी[10], द्विगुण रथी[11], त्रिगुण रथी[12], चतुर्गुण रथी[13], पंचगुण रथी[14], षड्गुण रथी[15], सप्तगुण रथी[16]।

क. स. सा. में महारथियों के दल का सरदार[17]—महारथ, महारथियों के दल का नायक[18]—महारथ यूथप, अतिरथियों का नायक[19]—अतिरथ यूथप, अतिरथियों के सरदार[20]—रथयूथों का यूथप,

१. क० स० सा० २।५।१२१ "गत्वा सुदूरं लेभे च तामश्वारोहवाहिनीम्" २. वही, ३।४।९९–१००

३. वही ८।३।३६ ४. कौ० अ० २।३५।५ ५. मनु ७।१९५

६. महा० शा० प० ९५ अपङ्का गर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।

७. क० सा० सा० ३।५।७२ "पवनाक्षिप्तविक्षिप्तेस्तस्य सेनाध्वजांशुके"

८. वही, ८।४।१० प्रविभागं रथादीनामस्मत् सैन्येऽत्र शंस नः" ९. वही, ८।४।१३

१०. वही, ८।४।१२–१४ ११. वही, ८।४।१५–१६ १२. वही, ८।४।१९ १३. वही, ८।४।१९

१४. वही, ८।४।२० १५. वही, ८।४।२१ १६. वही, ८।४।२३ १७. क० स० सा० ८।४।२३

१८. वही, ८।४।२६ १९. वही, ८।४।२९ २०. वही, ८।४।२६

महारथियों के अधिपति[1]—रथाति रथपा, अधिपतियों के अधिपति[2]—रथातिरथ पूथप कहा गया है। सैन्यशक्ति के अनुसार राजा भी छोटे-बड़े माने जाते थे। कुछ राजाओं पर एक बड़ा राजा होता था। श्रुतशर्मा की सेना के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसके अधीन एक सौ एक राजा थे। उनमें से प्रत्येक राजा बत्तीस राजाओं का स्वामी था।[3]

महाभारत में भी कौरवदल में भीष्म अतिरथ थे, कर्ण अर्द्धरथ, अश्वत्थामा महारथ, कृप, भूरिश्रवा और द्रोण रथयूथपयूथप वाल्हीक, मात्स्यराजशल्य अतिरथ। इसी प्रकार पाण्डव सेना में युधिष्ठिर रथोदार, उत्तर रथोदार, अभिमन्यु सात्यकी और अर्जुन रथयूथप यूथप, विराट् और द्रुपद महारथ तथा धृष्टद्युम्न अतिरथ थे।[4] रथ यूथप यूथप सबसे बड़ा पद था।

शस्त्रास्त्र—सेना में शारीरिक बल के साथ-साथ शस्त्र बल की आवश्यकता भी कम नहीं थी। पत्थर युग से ही आवश्यकता के अनुरूप छोटे-बड़े अस्त्रशस्त्रों के निर्माण एवं प्रयोग में उन्नति होती रही है। कथासरित्सागर कालीन भारत के शस्त्राशस्त्रों में प्राचीन एवं तद्युगीन शस्त्रों का सम्मिश्रण मिलता है। धनुष, बाण तलवार, चक्र गदा आदि प्राचीन शस्त्रास्त्र तो थे ही, भल्ली अर्द्ध चन्द्राकार बाण, खंजर आदि उस युग के शस्त्रों का भी वर्णन है।[5]

व्यूह-प्रतिव्यूह—युद्ध के लिए सैन्यरचना का नाम व्यूह है। स्थान विशेष में सैनिक आवश्यकता के अनुसार व्यूह की स्थापना होती है। सेना को व्यूह रूप में स्थापित करने से शत्रु पक्ष को शीघ्र भेद नहीं मिल सकता।

---

१. वही, ८।४।२८ २. वही, ८।४।२८–३० ३. वही, ८।३।५० "तेषां च पृथगेकैको राज्ञां द्वात्रिंशतः पति।

४. प्रा० भा० सा० पृ० १०१

कथासरित्सागर में निम्नलिखित शस्त्रास्त्रों का प्रयोग पाया जाता है—

५. काटनेवाले शस्त्र—परशु, कुदाल, तलवार, चूर करनेवाले शस्त्र—मुदगर, मुसल, घन चुभनेवाले शस्त्र—कटार, छुरा दूर से शरीर में प्रविष्ट होनेवाले अस्त्र—भाला, शूल।

अस्त्र—लगुड़—१२।५।२०८ खंग—१२।३६।६ तीक्ष्ण कुन्त—१२।३६।७ भल्ली—१३।१।२०६ (Crescued Loaded arrow) खंग पट्ट ढाल—१५।१।१२१ गदा—१५।१।१२३ क्षुरिका—१५।१।१३४ कृपाण—१८।२।२१ खंजर—९।३।१०९ मुद्गर, मुसल—१७।२।६६ अर्द्धचन्द्राकार बाण—८।४।५७ खंग, चक्र—८।४।८९–९० लोह दण्ड—८।६।९२ छुरिका—८।६।१४५ बाण—८।७।४ खंगलता—८।७।५ अंकुश—८।७।२५ पाद—९।५।२२३ सायक—९।५।२२६ अयोदण्ड—८।१४।

यन्त्र द्वारा फेंके जानेवाले बाण का भी उल्लेख है। १.

प्रक्षेपास्त्र—प्रकाशनास्त्र—८।४।४५ आग्नेयास्त्र—८।४।४६ नारायणास्त्र—८।५।७४ प्रद्युम्नास्त्र—८।७।२१ शक्ति अस्त्र—८।७।३२ अस्त्र प्रत्यस्त्र—८।७।२६ ब्रह्मास्त्र—१७।३।७६ वायव्यास्त्र—२।६।२९ वारुणास्त्र—२।६।२९।

प्रतीकारात्मक अस्त्र—तमोस्त्र के लिए—भास्करास्त्र—१७।३ ७१ शैशिरास्त्र के लिए ग्रैष्मास्त्र—१७।३।७१ शैलास्त्र के लिए कुलिशास्त्र—१७।३।७१ नागास्त्र के लिए गारुडास्त्र—१७।३।७१।

क० स० सा० ३।४।९२ "सोश्वस्तत्पार्ष्णिघातेन यन्त्रेणेवेरितः शरः"

व्यूह के यथार्थतः चार भेद हैं—दण्ड, भोग, मण्डल, और असंगत। इन चारों के भी अनेक भेदोपभेद हैं। वक्रभाव में सैन्य रचना का नाम दण्डव्यूह है। पश्चात् करके जो सैन्य विन्यास किया जाता है उसे भोगव्यूह और चारो ओर घेरे की तरह सैन्य स्थापन को मण्डलव्यूह कहते हैं। सैनिकों को पृथक्-पृथक् भाव में रखने को असंहत व्यूह कहते हैं। मनु ने दण्ड, शकट, वराह, सूची, गरुड़, पद्म, वज्र, मकर आदि व्यूहों का उल्लेख किया है।[1] युद्ध यात्रा में चारो ओर से शत्रु आक्रमण का भय हो तो सेना को चक्रव्यूह से संचालित करना चाहिए। पीछे से भय की आशंका हो तो शकटव्यूह रचना चाहिए। दो ओर से भय हो तो वराह या मकर व्यूह। आगे और पीछे भय का कारण हो तो गरुड़ व्यूह और केवल सामने भय हो तो सूची व्यूह की रचना करनी चाहिए। जिस ओर से भय की आशंका हो उसी ओर सैन्य का विस्तार करना चाहिए। राजा को पद्मव्यूह रचकर बीच में रहना चाहिए। राजा स्वयं प्रत्येक अभियान में सम्मिलित रहता था।

नीति मयूख में व्यूह के छ भेद बताये गये हैं[2]—मकर, श्येन, सूची, शकट, वज्र और सर्वतोभद्र। अग्नि पुराण में दस प्रधान व्यूहों का वर्णन मिलता है।[3] वे हैं—गरुड़, मकर, श्येन, अर्द्धचन्द्र वज्र, मण्डल सर्वतोभद्र, सूची आदि।

व्यूह के वस्तुतः दो भेद हैं—प्राज्यङ्गरूप और द्रव्य रूप। किसी प्राणी की आकृति के अनुसार जो व्यूह रचा जाता है वही प्राज्यङ्ग है। द्रव्य की आकृति के अनुसार जो व्यूह रचा जाता है वह द्रव्य रूप कहलाता है। कथासरित्सागर में व्यूह प्रतिव्यूह का विस्तृत उल्लेख मिलता है। सेना को युद्धभूमि में सजाकर खड़ा करना महत्वपूर्ण युद्ध कौशल है। कौटिल्य ने जिन बयालिस प्रकार के व्यूहों का उल्लेख किया है, उनमें अधिकांश कथासरित्सागर में भी मिलते हैं। उनमें चक्रव्यूह[4], वज्रव्यूह[5], महासुचिव्यूह[6], और अर्धचन्द्रव्यूह[7] प्रमुख हैं।

चक्रव्यूह—यह गोल होता था। चक्र का आकार ही गोल है। चक्र के आकार में ही सैन्य रचना होती थी। प्रवेश्य पथ केवल एक ही होता था। यह आठ, कुण्डलाकार सेना पंक्तियों द्वारा वेष्टित रहता था।

वज्रव्यूह—मेधातिथि के अनुसार "अग्रत पृष्ठतश्च त्रिधा व्यवस्थित बले वज्रव्यूहः" अर्थात् भय जब चारो ओर से हो तो वज्रव्यूह से काम लेना चाहिए। मनुस्मृति के टीकाकार नारायण के अनुसार सूचीव्यूह बनाकर अल्पसंख्यक सैनिकों को लड़ना चाहिए। वज्रव्यूह रचकर अनेक योद्धाओं को लड़ना चाहिए[8]—

महासूचिव्यूह—यह बहुत पतला होता था। यह चीटियों के अभियान के समकक्ष हैं। सूचिव्यूह में सैनिक एक के पीछे उसी प्रकार चलते हैं जैसे चीटियां एक के पीछे एक चलती हैं। पुरोवर्ती सैनिक

---

१. मनु० ७।१८७–१९१ २. प्रा० भा० सां०, पृ० १३३ पर उद्धृत ३. वही, १३३ पर उद्धृत

४ क० स० सा० ८।८।३ श्रुतशर्मबले चक्रव्यूह दामोदरं व्यधात् ५. वही, ८।५।२ वज्रव्यूहं प्रभासश्च···

६. वही, ८।४।४० दामोदरो महासूचिव्यूहं विद्याधरोत्तमः

७. वही, ८।७।३ सैन्ये द्वे अपि ते व्यूहावर्धचन्द्रो च चक्रतुः ८. प्रा० भा० सा० पृ० १३६

फुर्तीले तथा वीर होते हैं। अग्निपुराण में व्यूह के सात अंग बताये गये हैं। उर, दो कक्ष, दो पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह और कोटि।[1] कुरु क्षेत्र में जब पाण्डवी तथा कौरवी सेना में मुठभेड़ होने लगी तब युधिष्ठिर ने सूचिव्यूह रचने का परामर्श दिया। सूची और वज्रव्यूह आक्रमणकारी ही रचते थे। कथासरित्सागर में भी दामोदर ने महासूचिव्यूह की रचना की।[2]

अर्द्धचन्द्र व्यूह—इसका उल्लेख अग्निपुराण में वर्णित व्यूह भेदों में भी है। इसमें सैन्यविन्यास अर्द्धचन्द्र की आकृति के अनुसार किया जाता था।

प्रति व्यूह—इन व्यूहों के भेदन के लिए प्रति व्यूहों की रचना भी की जाती थी। राजा मन्दर देव के व्यूह भेदन के लिए नरवाहन दत्त ने प्रतिव्यूह की रचना की।[3]

युद्ध- कथासरित्सागर में युद्ध के तीन प्रकार मिलते हैं। पहला प्रकार वह है जिसमें राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ युद्धरत हों। जब दोनों पक्षों के सैनिकों के विनाश के कारण, उनकी संख्या अल्प रह गई हो तब द्वन्द्व युद्ध होता था। द्वन्द्व युद्ध में एक शस्त्रधारी के साथ एक ही शस्त्रधारी लड़ सकता था। जब उन दोनों के अस्त्र टूट जायँ, हारजीत अनिर्णीत हो तो बाहु युद्ध होता था। बाहु युद्ध में शस्त्र त्याग कर अपने-अपने शारीरिक बल से प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता था। उक्त तीनों प्रकार के युद्धों का सांगोपांग वर्णन कथासरित्सागर में किया गया है।

श्रुतशर्मा और सूर्यप्रभ के युद्ध में अधिक संख्या में सैनिकों के हताहत होने से दोनों के बीच द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ हुआ।[4] दोनों ही अकेले शस्त्र से लड़े। पुनः दोनों के निरस्त्र होने पर बाहुयुद्ध प्रारम्भ हुआ।[5] इसी प्रकार मुक्ताफल और विद्युध्वज के बीच द्वन्द्व 'युद्ध हुआ।[6] इसे द्वन्द्व यद्ध, बाहु युद्ध मल्ल युद्ध भी कहा जाता था। काल की प्रगति के साथ-साथ इस मल्ल युद्ध विद्या में युद्ध कोशल का भी समावेश हुआ। विचित्र मण्डल लेना, विविध स्थान ग्रहण करना, गोमूत्रक चित्र की भाँति आगे बढ़ना और हटना, तिरश्चीन गति, वक्रगति, प्रहारों का वर्णन तथा मोक्ष, परिधावन, आप्लावन, परावृत, अपहृत, अवप्लुत उपन्यस्त, प्रभृति युद्ध सम्बन्धी कौशल थे।[7]

युद्ध के कारण—कथासरित्सागर में युद्ध के प्रमुख तीन कारण बताये गये हैं। (१) साम्राज्य विस्तार (२) नारी सौन्दर्य (३) आत्म सम्मान की रक्षा।

चक्रवर्तित्व की प्राप्ति के लिए युद्ध होते हैं। एकच्छत्र राज्यलाभ की अभिलाषा से प्रेरित हो राजा आपस में लड़ते थे। राज्याभिषेक के बाद युवराज उदयन एवं उसका पुत्र नरवाहन दत्त पृथ्वी विजय के लिए निकले। राजा नरवाहन दत्त ने चक्रवर्तित्व की प्राप्ति के लिए विद्याधरों के साथ घोर युद्ध किया।[8] सुन्दरी कन्या की प्राप्ति के लिये अन्य उपायों के निष्फल होने पर राजा सैन्य बल के प्रयोग से कन्या हरण करने का प्रयास करते थे। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए भी राजाओं में युद्ध हुए। राजा देवदत्त ने आत्म-सम्मान के लिए युद्ध कर राज्य प्राप्त किया।[9]

---

१. अग्नि पु० २४२ २. क० स० सा० ८।४।४० ३. वही, १५।१।११५-११३
४. क० स० सा० ८।७।८ ५. वही ८।७ १५-१६ ६. वही, १७।३।६९ ७. प्रा० भा० सा० पृ० १२८
८. का० स० सा० १२।३५ ९. क० स० सा० ४।७,

युद्ध की आचार संहिता—युद्ध क्रूरता का ही प्रतीक न बन जाय इसे रोकने की प्रशंसनीय चेष्टायें मनुष्य ने की हैं। युद्ध धर्म का अन्तिम उद्देश्य यह है कि युद्धार्थी शक्तियों का प्रयोग करें, पर अवसंर विशेष पर क्रूरता का परिहार करें। सबसे पहले साम, भेद का प्रयोग किया जाता था। दण्ड का प्रयोग अभिनन्दनीय नहीं समझा जाता था। शक्तिशाली होने पर ही दण्ड प्रयोग अभिनन्दनीय था सबसे पहले आक्रामक राजा दूत द्वारा सन्देश भेज कर अपनी शर्तें मनवाने एवं युद्ध रोकने का प्रयत्न करते थे। सफल न होने पर ही युद्ध किया जाता था। मृगांकदत्त ने कर्मसेन के पास पहले दूत भेजा।[1] युद्ध क्रूरता का प्रतीक न बन जाय अतः इसे रोकने की प्रशंसनीय चेष्टायें की जाती थीं। सूर्यास्त के बाद युद्ध करना युद्ध संहिता के विरुद्ध था। निरस्त्र होनेपर धोखे से प्रहार करना अधर्म समझा जाता था।[2] युद्धदर्शकों का युद्ध में भाग लेना नियम विरुद्ध था।[3]

युद्ध की तैयारी—युद्ध का निश्चय होनेपर सबसे पहले अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। अपने नगर के परकोटा, खाई, गोपुर आदि का उचित प्रबन्ध किया जाता था। दुर्ग रक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। स्थायी सेनापति के अतिरिक्त आक्रमण विशेष के लिए सेनापति का चुनाव राजा करता था।[4] आक्रामक राजा को भय रहता था कि कहीं कोई शत्रु उसके राज्य पर उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर आक्रमण न कर दे। अतः ऐसी स्थिति से बचने के उपाय किये जाते थे। राजा उदयन आक्रमण करना चाहता था। किन्तु उसे भय था कहीं आसपास के राजा आक्रमण न कर दें। अतः उसने अपने साले गोपालक को मिथिला का राज्य दिया। पद्मावती के भाई सिंहवर्मा को चेदि देश का राज्य दिया। भिल्लों के राजा पुलिन्दक से मैत्री की। तदनन्तर ही राष्ट्र में विजय यात्रा की तैयारी प्रारम्भ हुई।[5]

गुप्तचरों के द्वारा आक्रमण किये जानेवाले राज्य की सामरिक तैयारी की जानकारी प्राप्त की जाती थी। कुशल राजा, शत्रु राजाओं के अमात्यादि अधिकारी वर्ग को प्रलोभन देकर मिलाने का प्रयास करता था। राजा मृगांकदत्त, कर्मसेन के अधिकारियों को लोभ देकर मिलाना चाहता था पर उनमें कोई लोभी नहीं था।[6] अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाने के लिए मित्र राजाओं से सैनिक सहायता ली जाती थी। राजा मृगांकदत्त ने शबराधीश से सैनिक सहायता ली।

युद्ध की सारी तैयारी पूरी हो जानेपर भी शुभमुहुर्त्त न रहने पर आक्रमण स्थगित कर दिया जाता था।[7] विजय के अनुकूल परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता था। यौगन्धरायण उदयन से कहता है "इस समय आपका दैव अनुकूल है, और पुरुषार्थ भी है ही। तुम्हारे मन्त्रिगण भी राजनीतिक दांवपेंच के जानकार हैं। अतः यह समय विजय यात्रा के सर्वथा अनुकूल है।"[8] अनिष्ट शमन के लिए व्रत, पूजादि, अनुष्ठान भी किये जाते थे। राजा उदयन ने व्रत उपवासादि, विजय के लिए किया।

सैनिक प्रयाण—राजा हाथी पर सवार होकर सबसे पहले निकलता था। कभी कभी कर्णिका

१. वही, १२।३५।१३०, २. वही, ७।४।१३३, "अधर्मयुद्धेन जयं कोहीच्छेन् क्षत्रियो भवन्" ।
३. वही ८।९।७३ ४. वही ८।३।१७ ५. क० स० सा० ३।५।६० ६. वही, १२।३५।१२५
७. वही, ९।४।१४९ ८. वही, ३।५।१२

पर चढ़कर जाने का भी उल्लेख है।[1] मार्ग को प्रयाण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता था। रणभेरी वज उठती थी। रणवाद्यों एवं सैनिकों के शब्दों से सारी दिशायें गूंज उठती थी।[2] रणवाद्य, प्रयाण के समय, युद्ध के समय एवं युद्ध की समाप्ति पर बजाये जाते थे। राजा के साथ महारानियां भी युद्ध भूमि में जाया करती थीं। राजा उदयन की रानियां भी साथ गईं।[3] सैनिक प्रयाण से खेती को अधिक क्षति पहुँचती थी। सोमदत्त की खेती दूसरे राजा के राष्ट्र पर चढ़ाई करने से ध्वस्त हो गई।[4]

सैनिक उत्साह—सैनिकों का मनोवल ऊंचा रखना आवश्यक था। उन्हें उत्साहित करने के तरह-तरह के तरीके अपनाये जाते थे। अनवरत बजते हुए नगाड़े उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित करते थे। उन्हें समझाया जाता था कि रण में मृत व्यक्ति, स्वर्ग से भी उच्च पद प्राप्त करता है। शूरों का महोत्सव तो संग्राम ही है।[5]

सैन्य शिविर—प्राचीन भारतीय युद्ध विज्ञान में सैन्य शिविरों का भी विवेचन किया गया है। सायंकाल युद्ध बन्द होने पर सैनिक इन शिविरों में विश्राम किया करते थे। इन शिविरों में उनकी सुख सुविधा के लिए सारे सम्भव उपाय किये जाते थे। कथासरित्सागर में शिविर के लिए "कटक" कहा गया है।[6] राजा सूर्यप्रभ की सेना सायंकाल युद्ध समाप्त कर अपने-अपने शिविरों में लौट गई।[7] शिविर के चारो ओर तम्बू लगाये जाते थे। मध्य में सम्राट् का तम्बू रहता था। रानियों के भी अलग-अलग तम्बू लगे रहते थे। उसके वाद सामन्तों एवं सैनिकों के तम्बू रहते थे। युद्ध बन्दियों का भी वर्णन कथा-सरित्सागर में किया गया है।[10] इन्हें भी शिविरों में रखा जाता था।

रणभूमि—रणभूमि के लिए विस्तृत मैदान चुना जाता था। राजा सूर्यप्रभ ने श्रुतशर्मा को विस्तृत मैदान वाले कलाप ग्राम में चलने का सन्देश भेजा।[11]

सेना सम्मान—युद्ध में विशिष्ट वीरता के लिए योद्धाओं का सैनिक-सम्मान किया जाता था। जिस प्रकार आजकल पदक प्रदान किया जाता है, उसी तरह प्राचीन समय में विशिष्ट वीरों का पट्ट बन्ध किया जाता था। राजा चमरवल ने विजय के वाद सेनापति एवं अंगरक्षक को पट्टवन्ध कर उनका सम्मान किया।[12]

कूटनीति—युद्ध कालीन राजनीति सामान्य राजनीति से अलग होती है। साम, दामादि उपायों के अतिरिक्त विजिगीषु राजा, कूटनीति का प्रयोग कर विजय लाभ करना चाहता है। युद्ध में कूटनीति का प्रयोग शास्त्रविहित है। कौटिल्य ने कूटयुद्ध का विवरण दिया है। कूटयुद्ध के अनुकूल परिस्थिति के सम्बन्ध में बताया गया है कि "बलवान् एवं बृहद् सेना से युक्त शत्रु पक्ष को फोड़ने में समर्थ और युद्ध के योग्य, समय को अपने अनुकूल बनाने वाले विजिगीषु को चाहिए कि वह अपनी अनुकूल भूमि में ही

१. क० स० सा० १४।४।९९ २. वही, ८।५।४ ३. वही, ३।५।७१ ४. वही, ३।६।२९

५. वही, ८।४।३५ "संग्रामो नाम शूराणामुत्सवो हि महानयम्"

६. वही, ८।३।१७२ ७. वही, ८।५।५ "सम्यक्छस्त्रहताः शूराः भिन्दन्ति सूर्यमण्डलम्"

८. वही, १।४।९७,७।८।९० ९. वही, ८।४।९२ १०. वही, १२।३।२० "युद्धबन्दी कृतेन····"

११. वही, ८।४।३६ १२. वही, ९।४।२३३

प्रकाश युद्ध करे। यदि इसके विपरीत अवस्था हो तो कूट युद्ध ही करना चाहिए।"[1] मनुस्मृति में भी विजित राष्ट्र को निर्बल बनाने के उपाय बताये गये हैं।[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र में कूटनीति के विभिन्न प्रयोग बताये गये हैं। प्राचीन समय से ही युद्धों में कूटनीति का प्रयोग मिलता है। महाभारत में तो इसके अधिकाधिक प्रसंग उपलब्ध हैं।

कथासरित्सागर में कूटनीतिक प्रयोगों का तो जाल सा बिछा हुआ है। उदयन को पकडने के लिए राजा चंडमहासेन ने बनावटी हाथी बनाकर उसके भीतर सैनिक बैठा दिया। राजा उस हाथी को अकेले पकड़ने चला। फलतः सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया।[3] इसका उत्तर यौगन्धरायण ने भी कूटनीतिक प्रयोग से ही दिया। वसन्तक और यौगन्धरायण, कापालिक का वेश बनाकर बिना युद्ध के ही राजा को छुड़ा ले गये। राजा ब्रह्मदत्त ने उदयन के आक्रमण के प्रतिरोध के लिए मार्ग में विविध प्रकार के विनाश का जाल बिछा दिया।[4]

यात्रा में आनेवाली प्रत्येक सड़क पर स्थित पेड़ों, लताओं, कुंजों, तालावों घासफूस आदि में जहरीले द्रव्यों का प्रयोग कर दिया।[5] विषकन्या के प्रयोग की चर्चा भी कम नहीं है। राजा ब्रह्मदत्त, ने वत्सराज उदयन की सेना में विषकन्याओं को भेजा।[6]

विष कन्याओं के प्रयोग के सम्बन्ध में भी संस्कृत साहित्य में कई उपाख्यान मिलते हैं। मुद्राराक्षस नाटक में राक्षस ने चन्द्र गुप्त के शयन-कक्ष में विषकन्या भेजा। किन्तु चाणक्य की सतर्कता से यह योजना विफल हो गई। विषकन्या का दूसरा उल्लेख सुवावहुत्तरीकथा की १७ वीं कथा में मिलता है। राजा धर्मदत्त, कामसुन्दर की कन्या मांगता है। उसका मंत्री सिद्धेश उसे समझाता है कि वह विषकन्या है।[7] इन विषकन्याओं को विष कई प्रकार से प्रभावित करते थे। सबसे पहले "विषाक्त दृष्टि" की बात कही गई है। संस्कृत में इसे "दृक्विष" या "दृष्टिविष" कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि एक दिव्य सर्प सम्पूर्ण वातावरण को विषाक्त बना देता है।[8] दूसरा कारण विषाक्त श्वांस है। बचपन से ही थोड़ा-थोड़ा विष खिलाकर उस कन्या का श्वास विषाक्त बनाया जाता था। गुजरात के राजा मुहम्मद शाह ने अपने पुत्र को विष की खुराक, बचपन से ही इसलिये दी, जिससे भविष्य में उस पर कोई विष असर न कर सके।[9] गांजा और अफीम इसके लिए प्रयोग में लाये जाते थे। वाराणसी का राजा बृस्नदत्त ने उदयन के आक्रमण को विफल करने के लिए मार्ग के वृक्ष, पुष्प, लता, जल, तृण आदि को दूषित कर दिया।[10]

किन्तु यौगन्धरायण ने अपने दूतों से इनकी जानकारी कर ली। और विपरीत योग से उनका शोधन कर डाला। राजा ब्रह्मदत्त ने विषकन्याओं का प्रयोग किया। किन्तु यौगन्धरायण ने सैन्य-

---

१. कौ० अ० १५०।३ "वलविशिष्टः कृतोपजापः प्रतिविहितर्तुः स्वभूम्यां प्रकाश युद्धमुपेयात्। विपर्यये कूट युद्धम्"

२. मनु. ७।१९५ ३. क० स० सा० २।४।२–५ ४. वही, ३।५।८०

५. क० स० सा० ३।५।८१ ६. वही ३।५।८२

७. Uber die Suvabahuttari Katha, Johannes Hertel, Leipzig 1914 P. P. 146-147.

८. Ocean of Stories Towney—Penzer Vol. II—Appendix. III P. P. 299.

९. O. S. Vol II. Page 300.

१०. क. स. सा. ३।५।८१ अदूषयत् प्रतिपथं विजादिद्रव्ययुक्तिभिः वृक्षान् कुसुमवल्लीश्च तोमाति च तृणानि च।

शिविर में स्त्रियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया—रूप बदलकर युद्ध करना भी कूटनीति का अंग था। विभिन्न रूप धारण करनेवाले कुवेर दत्त को महामाय ने भी रूप बदलकर मार डाला। झूठी घोषणा के बलपर भी युद्ध जीते गये हैं। राजा पुण्यसेन बलवान् शत्रु से आक्रान्त होनेपर झूठी घोषणा करा देता है कि राजा मर गया। धूमधाम से उसके शव का दाह संस्कार भी किया गया। तदनन्तर शत्रुराजा को संदेश भेजा कि तुम्हीं हमारे राजा हो। अतः आकर राज्य ग्रहण करो। संदेश सुनकर शिथिल हुए राजापर पुण्यसेन चढ़ाई कर विजयी हुआ।[५]

इसी प्रकार अदृष्ट भय की आशंका उत्पन्न कर भी युद्ध जीतने की घटनायें हैं। महासेन दो ओर से सैनिकों से घिर गया। उसका मन्त्री देवदूत बनकर सोये हुए राजा के शिविर में जाकर कहता है कि मैं देवदूत हूँ तुम्हारा हित इसी में है कि तुम महासेन से सन्धि कर लो अन्यथा तुम्हारा विनाश होगा।[६]

इस प्रकार बहुत से कूटनीतिक प्रयोगों का विस्तृत वर्णन कथासरित्सागर में उपलब्ध है।

---

१. वही, ३।५।८४ यौगन्धरायणोऽप्येतद्बुद्ध्वा प्रतिपदं पथि। दूषितं तृण तोयादि प्रतियोगैरशोधयत् ॥

२. वही, ३।५।८५ अपूर्व स्त्री समायोगं कटके निषिषेध च।

३. वही, ८।७।३८ रूपैर्नागादिवृक्षाणां महामायो विमोहदम्। कुवेरदत्तं हतवांस्तार्क्ष्यवज्राग्नि रूपधृत् ॥

४. वही, ३।१।९९ ५. वही, ७।८।८८ ६. क. स. सा. ८।६।६९

षष्ठ परिच्छेद

आर्थिक जीवन

कथासरित्सागर में तत्कालीन आर्थिक जीवन का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। श्री अतुल चटर्जी ने ठीक ही लिखा है कि "कथासरित्सागर में दुर्भाग्यवश लोगों की आर्थिक दशा का बहुत ही अल्प चित्रण हुआ है।[1]

ब्राह्मणों को दानस्वरूप राजकीय भूमि "अग्रहार[2]" के रूप में दिये जाने के अनेकानेक उद्धरण मिलते हैं, किन्तु भूमि के उपयोग का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। जीविकोपार्जन के लिए ये अग्रहार दिये जाते थे।[3] निश्चय ही यह भूमि कृषिकर्म के उपयोग में लायी जाती थी। यत्र-तत्र प्राप्त विवरणों के आधारपर तत्कालीन अर्थसम्बन्धी विचार, आर्थिक समृद्धि, जीविका के साधन, व्यापार एवं विभिन्न व्यवसाय आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[4]

अर्थनीति—धर्मानुसार अर्थोपार्जन ही उचित माना जाता था। धर्म से कमाई लक्ष्मी सन्तान परम्परा तक नष्ट नहीं होती। पाप की कमाई, पत्ते पर पड़ी ओस की बूंद के समान विनाश शील होती है।[5] अन्यत्र भी "धर्ममूला हि संपदः"[6] कहा गया है। दूसरों को ठगकर अथवा चुराकर अनीति द्वारा अर्जित सम्पत्ति कभी स्थिर नहीं होती। अर्थोपार्जन का धर्मानुकूल साधन ही समाज में प्रशंसित था। किन्तु अन्य सामाजिक मूल्यों की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। जिससे कवि, विभिन्न नीतिपूर्ण कथाओं के माध्यम से, उचित साधनों के प्रयोग किये जाने पर बल देता हैं। ऐसे चोर, डाकू, ठग, उचक्कों की कमी नहीं जो अनीति के द्वारा धनोपार्जन में प्रवृत्त हैं। "पृथ्वी पर जाल फरेब से जीनेवाले धूर्त, अपनी जिह्वा के जाल बुनते रहते हैं, जिनमें सरल हृदय मनुष्य मछलियों के समान फंसते रहते हैं।"[7] भिन्न-भिन्न रंगों में रंगे हुए कांच और स्फटिक के टुकड़ों को पीतल में जड़कर वेचनेवाले धूर्त भी हैं। किन्तु समाज में ऐसे लोग अत्यन्त निन्दित माने जाते थे।[8]

प्राचीन समय से ही वैश्य वर्ण के लिए व्यवसाय ही एकमात्र जीविका का साधन माना जाता रहा है। वैश्य का धर्म व्यवसाय है। कथासरित्सागरकालीन वैश्य वर्ण व्यवसाय में संलग्न हैं।

---

१. O. S. Vol. IX Page Foreword XV. "References to the economic condition of the people are unfortunately meagre in the ocean."

२. क० सा० सा० १३।१।२१४ प्राप्याग्रहारमेकं सा परिणीता मया वधूः ॥ ३।६।७   ३. वही, १२।१५।३

४. क० स० सा० १२।१५।३

५. क० स० सा० ५।१।२००, "इत्थं धर्मार्जिता लक्ष्मीरासन्तत्यनपायिनी। इतरा तु जलाघात तुषारकणनश्वरी ॥"

६. वही, १३।१।११६   ७. क० स० सा० ५।१।२०० एवं सूत्र पातैस्तैस्तैः जिह्वाजालानि तन्वते। जालोपजीविनो धूर्ता धारायां धीवरा इव ॥   ८. वही, ५।१।१७९

वे इसे ही अपना धर्म मानते हैं।[1] वणिक्पुत्र के लिए वाणिज्य ही प्रशस्त माना जाता था।[2] यह जातिगत बन्धन अनिवार्य नहीं था। शूद्र[3] भी कपड़ा व्यापारी था। वैश्य भी शस्त्रधारी का कार्य करता है।[4] किन्तु व्यवसाय वैश्यों का ही प्रचलित जीविकोपार्जन का साधन रहा है। व्यापार कला के रूप में पूर्ण विकसित हो चुका था इसमें कुशलता प्राप्त करने के लिए बुद्धि एवं अध्यवसाय अपेक्षित थे। सुप्रतिष्ठित नगर में व्यापारी परस्पर व्यापार कला के बारे में विचार विनिमय कर रहे हैं।[5] व्यापार के लिए अर्थ की आवश्यकता है। अर्थ बिना सञ्चय के सम्भव नहीं है। अतः व्यवसायी को अर्थसंचयी होना चाहिए।[6]

धन का समुचित उपयोग ही उसकी वास्तविक उपयोगिता है। भोगरहित सञ्चय की प्रवृत्ति की बार २ निन्दा की गई है। धन लक्ष्मी और भोग लक्ष्मी में भोग लक्ष्मी को ही श्रेष्ठ माना गया है।[7] ऐसी लक्ष्मी निरर्थक है जिसका भोग न हो रहा हो।[8] भोगयुक्त थोडी लक्ष्मी भी श्रेष्ठ है।[11] किन्तु अर्थसंयमी लोभी व्यवसायी की संख्या भी कम नहीं। उस समय के अधिकांश व्यवसायी लोभी बताये गये हैं।[10] अर्थलोभी अर्थलोभ धन के लोभ में अपनी पत्नी को ही व्यवसाय में सहायिका रखता है।[12] वह सुखधन नामक व्यापारी के पास धन के लोभ में अपनी पत्नी को भी भेजने में नहीं हिचकता। इस प्रकार अर्थलोभ की बार-बार निन्दा की गई है। व्यापार के लिए द्वीपान्तर यात्रा आवश्यक थी। बिना प्रवास के घर बैठे लक्ष्मी की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। इस प्रकार धनोपार्जन के लिए भीषण आपत्तियाँ झेल कर भी साहसी सार्थवाह, वर्षों समुद्र यात्रा किया करते थे।[13]

व्यापारियों की श्रेणियां—आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर व्यापारियों के कई वर्ग थे। साधारणतः व्यापार करनेवाले को वणिक्[14] कहा जाता था। सामान्य स्तर के व्यापारी वणिक् कहे गये हैं। इनसे ऊपर की श्रेणी "महावणिक्"[15] की थी। तीसरी श्रेणी वणिक् पति की थी जो बनियों का मुखिया माना जाता था।[16]

सार्थवाह—कथासरित्सागर में सार्थवाह का उल्लेख है। "सार्थवाह किमेतावदस्नासीति सकौतुकम्"[17]। अर्थवर्मा को सार्थवाह कहा गया है। इसी प्रकार कुछ व्यापारी सार्थवाह के पुत्र बताये जाते हैं। "सार्थवाह सुता एते"।[18] सार्थ का अर्थ गिरोह है। यात्रा में विशेषतः व्यापार सम्बन्धी यात्रा में सार्थवहन का बहुत महत्व था। चोर और बटमार मार्गों के किनारे छिपकर बैठ जाते थे और अकेले-दुकेले निकलने वाले वणिकों को लूट लेते थे। सार्थ का उद्देश्य ही लूटपाट से बचना था। सार्थ के नेता को सार्थवाह कहते थे: वह व्यापारियों के झुंड का प्रधान होता था। पथप्रदर्शक बनकर सार्थवाह मार्ग की

---

१. क० स० सा० ५।३।१२६ २ वही, १।६।३३ "वणिक्पुत्रोऽसि तत्पुत्र वाणिज्यं कुरु साम्प्रतम्"

३. वही, १२।१६।१० ४. वही, १२।११।५ ५. वही, १।६।२७ "अन्योन्यं निज वणिज्यकलाकौशलवादिनाम्।

६. वही, १।६।२८ ७. वही, ९।४।२०६ ८. वही, ९।४।१८६

९. क० स० सा० ९।४।२१० "तदेवं भोग सम्पन्ना श्रीरप्यल्पतरा वरम्" १०. वही, १।३।५४

११. वही, ७।९।७०. सोऽर्थलोभोवणिक् धर्माल्लोभात् भृत्येष्वविश्वसन्। वाणिज्याव्यवहारेषु मध्येभार्यान्ययुक्तताम्॥

१२. वही, ११।१।४०, ६।८।१३ १३. वही, १२।३४।२६४ १४. वही, १२।२४।८ १५. वही, ११।१।४

१६. वही, ९।४।१७२. १७. वही, २।५।१८८

जिम्मेदारियाँ निभाता था। सार्थ का उल्लेख काशिका में भी है।[1] सार्थ बनाकर चलने वाले सार्थिक कहे जाते थे। कालिदास ने भी विदर्भ से विदिशा जाने वाले सार्थ की दुखभरी कहानी का वर्णन किया है।[2] कथासरित्सागर से व्यापारियों के एक दल (सार्थ) के जंगल के मार्ग से जाने का उल्लेख है।[3] एक व्यवसाय में लगे व्यापारी संघ की स्थापना भी करते थे, जिसे श्रेणी कहा जाता था।

व्यवहार और वाणिज्य—व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यवहार का अर्थ बड़ा ही व्यापक था। वाणिज्य व्यवसाय, व्यवहार कहा जाता था।[4] व्यापार के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग पाणिनिकाल से ही होता आ रहा है। "वाणिज्य-व्यापार के लिए सामान्यतः व्यवहार शब्द चालू था। उसे पण भी कहा गया है।"[5]

आपण—दूकान या बाजार के लिए आपण[6] शब्द का प्रयोग किया जाता था। दूकान के लिए विपण[7] शब्द का प्रयोग किया गया है। नगर में सड़क के दोनों ओर दूकानें सजी रहती थीं[8]। दूकान के लिए "कटक"[9] शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

शुल्क—व्यापारियों के माल पर जगह-जगह चुंगी ली जाती थी, जिसे शुल्क कहा जाता था। कथासरित्सागर में शुल्क वसूल किये जाने का उल्लेख है। शुल्क लेने वाला राजा तस्करों से व्यापारियों के बचाव की व्यवस्था भी करता था। वसुदत्तपुर का राजा वसुदत्त, मार्ग शुल्क लेता है, जंगल के पास रहकर सारे जंगल की रक्षा करता है एवं तस्करों को पकड़ता है।[10] व्यापारी भी चुंगीकर की अधिकता से बचने के लिए कभी-कभी अन्य जंगली मार्ग से यात्रा करते थे।[11] राजा शुल्क वसूल करने का अधिकारी था। यह प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन समय से ही प्रचलित है। पाणिनि ने भी शुल्क वसूल किये जाने का उल्लेख किया है।

बन्धक—किसी वस्तु को बन्धक के रूप में रखकर उसके बदले अपेक्षित मूल्य लिया जाना बन्धक कहा जाता है। मूल्य लौटा देने पर गिरवी के रूप में रखी चीज वापस ली जा सकती थी। यह प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है। कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख है। राजकुमार देवदत्त, एक कर्णाभूषण एक लाख स्वर्ण मुहरों पर बन्धक रखता है।[12] पुनः वह बन्धक का मूल्य देकर कर्णाभूषण लौटा लेता है।[13]

दैनिक व्यापार—आढ़त का काम दैनिक व्यापार के अन्तर्गत था। एक से माल खरीदकर दूसरे को देकर बिना मूलधन लगाये बीच में दलाली कमा लेने का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है। भोगवर्मा अपना दैनिक व्यापार प्रारम्भ करता है। एक से माल खरीद कर उसी समय उसने दूसरे को दे दिया, और अपना धन बिना लगाये ही बीच में, दलाली से दीनार कमा लेता है।[14] इससे उस समय की

---

१. काशिका ४।३।८५ २. माल० अ० ४ ३. क० स० सा० ६।१।१०५ ४. वही, ९।४।१९०, १०।५।३०१

५. पाणिनिकालीन भारत वर्ष, पृ० ३२० ६. क० स० सा० ५।१।१९७, १८।४।२६२, ३।५।२३

७. वही, ७।९।१०, ३।५।२६, ३।५।२३ ८. वही, ७।९।१० ९. वही, ५।१।१७७

१०. वही, ६।३।१३३ ११. वही, ६।३।१०५

१२. क० स० सा० ४।१।८७ "तत्र बन्धाय दत्वा तत् स्वर्ण लक्षेण भूषणम्" १३. वही ४।१।८९

१४. वही, ९।४।१९१ अन्यस्माद् भाण्डमादाय ददावन्यस्य तत्क्षणम्। विनैव स्वधनं मध्याद्दीनारानुदपादयत्॥

उन्नत व्यावसायिक प्रणाली का पता चलता है। आज भी बड़े-बड़े ऊँचे व्यापारी इस प्रकार के व्यवसाय में लगे हैं। मध्ययुग में इसका प्रचलन व्यावसायिक प्रगति का द्योतक है।

व्यावसायिक वस्तु एवं व्यवसायी—अर्थशास्त्र के अनुसार सामान्यतः वैयक्तिक आवश्यकताओं को पाँच वर्गों में बांटा जा सकता है।

१–जीवन रक्षक आवश्यकताएँ, २–निपुणता रक्षक आवश्यकतायें, ३–प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकतायें, ४–आराम सम्बन्धी आवश्यकतायें, ५–विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ। इस वर्गीकरण की प्रथम तीन आवश्यकताओं को अनिवार्य आवश्यकता के अन्तर्गत रखा जाता है। कथासरित्सागर में इन सभी वर्गों के पण्य द्रव्यों का उल्लेख है।

खाद्यान्न—खाद्यान्न के अन्तर्गत सभी प्रकार के अन्न का उल्लेख है। गेहूँ आदि प्रमुख खाद्यान्न थे जो बाजार में बिका करते थे। बाजार से गेहूँ खरीद कर लाने का उल्लेख हैं।[२] खाद्यान्न के अतिरिक्त बिक्री के लिए रखे गये मांस का उल्लेख भी है।[३]

शाक—विभिन्न प्रकार की साग-सब्जियाँ भी बेंची जातीं थी। सुन्दर मालव से मूली लाकर कन्नौज में बेंचता है।[४] लकड़ी[५], मिट्टी के बर्तन[६], नगरों में बेचे जाने का निर्देश है। चना भूंजकर बेचना भी जीविका का साधन था।[७] वस्त्र में चीनी कपड़े अधिक प्रसिद्ध प्रतीत होते हैं। एक व्यापारी चीनी कपड़े एवं घोड़े लाकर बेचता हैं।[८] भारत से रत्नों का निर्यात अत्यन्त प्राचीन समय से ही होता रहा है। यहाँ के व्यापारी सुदूर द्वीपों में पहुँचकर रत्नों की बिक्री करते थे। कथासरित्सागर इसका स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ के सार्थवाह विभिन्न द्वीपों में जाकर रत्न की बिक्री से अच्छी आय करते हैं। कुसुमसार नामक धनी वैश्य ने समुद्र के मार्ग से दूसरे द्वीपों में जाकर व्यापार द्वारा धन कमाने की इच्छा से विविध रत्नों से भरे व्यापारिक नाव पर यात्रा की।[९] मुक्ता, कस्तूरिका ऊंट पर लाद कर ले जाये जाते हैं।[१०]

कटाह द्वीप से अगुरु का व्यापार किया जाता था। मुग्ध बुद्धि नामक वैश्य पुत्र व्यापार के लिए कटाह द्वीप जाता है। उसके व्यापारिक सामान में अगुरु की लकड़ी सबसे अधिक थी।[११] वस्त्र, अंगराग, ताम्बूल आदि खरीदने का उल्लेख है। वीरवर एक सौ दीनार भोजन सामग्री पर व्यय करता है[१२] एवं एक सौ दीनार प्रतिदिन वस्त्र, अंगराज, ताम्बूल आदि पर व्यय करता है।[१३] रत्न एवं आभूषणों की बिक्री के लिए अलग बाजार का उल्लेख है। रत्नपारखी एवं जौहरी विभिन्न रत्नों की परीक्षा एवं शोधन करते थे। जौहरी बाजार में जाकर कंगन बेंचने का उल्लेख है।[१४]

शिल्प कर्म—विभिन्न व्यवसाय में लगे लोग पेशों के नाम पर पुकारे जाते थे। मूर्ति बनाने वाले मूर्तिकार[१५] कहलाये। इसी प्रकार चित्रकार[१६], स्वर्णकार,[१७] मालाकार[१८], वस्त्रधावक[१९], कार्पटिक[२०]

१. क० स० सा० १८।२।७४ २. वही, ९।६।१८३ ३. वही, ३।६।१६८ ४ वही, ३।६।१६८
५. क० स० सा० १।६।४३, ६. वही, ४।१।१३४ ७. वही, १।६।४१ ८. वही ७।९।७५
९. वही, ११।१।४० १०. वही, १८।४।७७ ११. वही, १०।५।३ १२ क० स० सा० १२।११।१६
१३. वही, १२।११।१७ १४. वही, ५।१।१७७ १५. वही, ७।३।८ १६. वही, ९।१।१२४
१७. वही, ५।२।१७४ १८. वही, १७।४।८४ १९. वही, १७।३।२२ २०. वही, ९।२।२५६

आदि का भी कथासरित्सागर में उल्लेख है, जिनका नामकरण ही व्यवसाय के आधार पर हो गया। हाथी दांत की कलाकृतियां बनाने वाले दन्तघाटक का उल्लेख भी कथासरित्सागर में मिलता है।[१] इससे पता चलता है कि व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। समाज का एक बड़ा वर्ग विभिन्न व्यवसायों के द्वारा जीविकोपार्जन करता था। शिल्प कर्म को आजीविका की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। हस्तकौशल के अन्तर्गत बढ़ई, लोहार, कुम्हार, चमार सोनार आदि की उपयोगी कलाओं के साथ-साथ चित्र खींचना, फूल पत्ते काढ़ना आदि भी सम्मिलित थे। कथासरित्सागर में राज्यधर बढ़ई (तक्षक) यन्त्रों के निर्माण में कुशल है।[२] कौटिल्य–अर्थशास्त्र में शिल्पकर्म करनेवाले को प्रतिवर्ष पांच सौ पण वेतन निर्धारित है।[३] कौटिलीय अर्थशास्त्र में शिल्पी शब्द की व्याख्या करते हुए स्नापक, संवाहक, अस्तरक, रजक, मालाकार आदि को शिल्पी कहा है।[४] उबटन बनाना, सुगन्धित पाउडर तयार करना, चन्दन द्रव तयार करना, कस्तूरी एवं कुंकुम से विभिन्न प्रकार के चूर्ण तैयार करना शिल्पियों का ही कार्य था।[५] उत्पादन में श्रम का महत्त्व सर्वविदित है। कुछ श्रमिकों का उल्लेख भी कथासरित्सागर में मिलता है। वसुधर नामक दरिद्र भारवाहक, मजदूरी कर खाता-पीता है। इसी प्रकार शुभदत्त काष्ठभारक, लकड़ी ढोकर जीविकोपार्जन करता है।

कृषि—आर्थिक विकास की दृष्टि से कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत का विशाल जन-समुदाय कृषि कर्म से ही अपना भरणपोषण करता आ रहा है। किन्तु कथासरित्सागर में कृषि सम्बन्धी बहुत ही अल्प सूचना हमें उपलब्ध है। सोमदत्त ब्राह्मण जीविका का अन्य साधन न पाकर कृषि कर्म अपनाने का निश्चय करता है। कृषियोग्य भूमि के लिए जंगल में जाता है।[६] जंगल में उसने अच्छी फसल होने योग्य एक भूमि देखी। तदनन्तर बैलों को जोड़कर पूजा पाठ आदि कर वृक्ष को प्रसाद चढ़ा कर उसने खेती प्रारम्भ कर दी।[७] सम्पूर्ण कथासरित्सागर में यही एक मात्र कृषि सम्बन्धी सूचना मिलती है। मुख्यतः आभिजात्य वर्ग के लोगों की कथाओं के वर्णन के कारण सामान्य लोगों के इस व्यवसाय का विशद वर्णन सम्भव न हो सका। ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में भूमि दिये जाने के अनेकानेक उल्लेख हैं, किन्तु वे कृषिकर्म किस प्रकार करते थे यह नहीं मिलता। उपर्युक्त वर्णन में बैलों द्वारा जोत कर कृषि किये जाने का उल्लेख है। सभी भूमि कृषि योग्य न थी। उसका चयन आवश्यक था।

कृषि और पशुपालन में सामान्य लोग लगे थे। कुछ प्रसंगों में पशुपालन एवं पशु चराने वालों का भी उल्लेख है। देवसोम का मामा दरिद्र होने से पशुपालक नहीं रख पा रहा है।[८] उपमा के रूप में बीजवपन एवं उसके सींचे जाने का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है।[९] कृषि के अभाव में भीषण

---

१. वही, १२।८।८२, दन्त घाटक शब्द का अर्थ दांत बनाने वाले के अर्थ में कोष में नहीं मिलता। अतः हाथी दांत के कलाकर अर्थ में ही प्रयोग उचित जँचता है।

२. क० स० सा० ७।९।२२ ३. कौटिलीय अर्थशास्त्र-चोखम्भा प्रकाशन, पृ० ५१४ ४. वही, पृ० ८७

५. वही पृ० ८७ ६. क० स० सा० वही, ३।६।२३

ततो वृत्यन्तराभावात् कर्तुं स चकमे कृषिम्। तद्योग्यां च भुवं द्रष्टुं शुभेह्न्यटवीं ययौ॥

७. क० स० सा० ३।६।२४ ८. वही, १७।१।९४ पुत्रोदरिद्रीभूतानामस्माकं पशुपालकम्।

९. वही, ६।२।१२

अकाल का उल्लेख मिलता है जब गौ जैसे पूज्य एवं पवित्र पशु को भी लोग मार कर खा जाते हैं।[१] वर्षाभाव के कारण भीषण अकाल का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है।[२] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कृषिकर्म जीविका का प्रमुख साधन था, जिसके अभाव में लोगों को भीषण अकाल का सामना करना पड़ता था। कृषि की सुरक्षा, सिंचाई आदि से सम्बद्ध कोई कथा, कथासरित्सागर में उपलब्ध नहीं।[३] प्राचीन समय से चली आती हुई दास प्रथा इस युग में भी पूर्ववत वर्तमान थी।[४] अन्य सामानों की भाँति मनुष्य की खरीद-बिक्री की जाती थी। पशुओं के समान मनुष्यों का भी मूल्य आंका जाता था। खरीदने वाला व्यक्ति दासों के श्रम का अधिकारी था। तीन वणिक् उत्तरापथ की ओर जाते हैं। नगरों, ग्रामों, जंगलों और नदियों को पार कर वे म्लेच्छ से भरी उत्तर दिशा में पहुँचते हैं। वहाँ वे ताज्जिक द्वारा पकड़े जाकर दूसरे ताज्जिक के हाथ दामों पर बेच दिये गये।[५] राजाओं के यहाँ इस प्रकार के दास एवं दासियों का पूरा समूह ही था।[६]

तौलमाप और मुद्रा—मापतौल के परिमाण इस युग में भी प्रचलित थे। मापन के दो प्रकार थे। तराजू पर तौलकर या खाली पात्र में भर कर किसी वस्तु को मापा जाता था। लम्बाई की माप, दण्ड आदि लम्बी वस्तुओं से की जाती थी।

माष—यह तौल का सबसे छोटा बाट था। यह एक तौल और एक सिक्के का नाम भी था। तांबे का माष तौल में पाँच रत्ती और चांदी का दो रत्ती होता था।[७] कथासरित्सागर में यह सोने के सिक्के के रूप में प्रयुक्त है।[८]

कर्ष—सोलह माष का एक कर्ष होता था। यह तराजू से तौलने का बाट भी था और मापने का पात्र भी। इसे अक्ष अथवा विस्त भी कहा जाता था।[९] अमरकोष के अनुसार सोलह आद्यमापक (आना भर) को कर्ष अथवा अक्ष कहा जाता था।[१०] कथासरित्सागर में यह घृत आदि के तौल के रूप में व्यवहृत है।[११]

भार—एक बार में एक स्वस्थ मनुष्य जितना बोझ ले जा सकता था उसे भार कहते थे। क. स. सा. में इसका उल्लेख है।[१२]

योजन—दूरी की नाप में योजन का ही प्रयोग कथासरित्सागर में मिलता है। दो गव्यूति या चार क्रोश को योजन कहते थे।

---

१. वही, ६।१।११६ २. वही, १।३।११

३. O. S. Vol I Page Foreword XVI—Uufortunately there is no description in any story of special measures of protection or preservation such as water course embankments or grain stores which must have been familiar to the people.

४. O. S. (Ibid) Slavery was a recognised institution. ५. क० स० सा० ७।३।३६

६. वही, १०।११५२. ७. मनु० ८।१३५ अर्थशास्त्र २।१२ ८. पा० का० भा० पृ० ३४२,

९. क० स० सा० १।६।५१ १०. कम० २।९।९६ ११. क० स० सा० ९।४।१७४.

१२. क० स० सा० १५।२।१४२

सिक्के—मध्यकाल तक मुद्राओं का पूर्ण विकास हो चुका था। सिक्कों का प्रचलन आदिवैदिक युग से ही मिलता है। राजकीय मुद्राओं के विनिमय से विभिन्न वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। वास्तविक मूल्य के मान के बराबर मुद्रायें बनायी जाती थीं। सोना, चाँदी, ताँबा आदि द्वारा निर्मित सिक्कों का मूल्य उनके वजन के अनुसार होता था। कथासरित्सागर में दो प्रकार की मुद्राओं का ही प्रयोग मिलता है। ज्यादातर प्रयोग स्वर्ण मुद्राओं का है। दूसरा स्थान दीनार का है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वर्णमुद्रा एवं दीनार ही उस समय मुख्य विनिमय के साधन थे।

स्वर्णमुद्रा—सुवर्ण जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सोने की मुद्रा थी, जिसका भार १ कर्ष के बराबर होता था। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् ८० गुणा के बराबर होता था। सुवर्ण के सिक्कों का अस्तित्व पाणिनी के समय से ही है। कथासरित्सागर में स्वर्णमुद्राओं का उल्लेख सर्वाधिक है। लाख से लेकर करोड़ तक की गिनती में स्वर्णमुद्राओं का विनिमय होता है। पुत्रक के मस्तक के पास एक लाख स्वर्ण मुद्रायें रोज मिलती हैं।[1] गुरु वर्ष, एक करोड़ स्वर्णमुद्रा मांगते हैं।[2] कहीं स्वर्ण की जगह हेम[3], कहीं काञ्चन[4] कहा गया है। सामान्य सोने के लिए हिरण्य शब्द का व्यवहार किया जाता था।

दीनार—दीनार, निष्क का ही पर्यायवाची शब्द है। अमरकोष के अनुसार "दीनारोऽपि निष्कोऽस्त्री"[5] मिलता है। इसे "निष्क परिमाणम्"[6] कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार निष्क ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर होता था। "निष्क के परिमाण में समय-समय पर अन्तर होता रहा है। कभी उसका भार १६ बड़ी या ३२ छोटी राशियों के दीनार के बराबर था और वह १६ माष के एक कर्ष या सुवर्ण के बराबर होता था। दीनार का मान कभी-कभी १०५ से १०८ सुवर्ण के बराबर मिलता है।[7] निष्क वैदिक युग में एक आभूषण का नाम था। बाद में युगों में निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गई थी। जातक, महाभारत और पाणिनी तीनों का एक ही ओर संकेत हैं।[8] दीनार ३२ रत्ती सोने के बराबर होता था।[9] कथासरित्सागर में दीनार का प्रयोग अधिक है। वीरवर को पांच सौ दीनार प्रतिदिन वेतन में मिलता है।[10] धर्मबुद्धि एवं दुष्टबुद्धि को दो हजार स्वर्ण दीनार मिलते हैं।[11] स्वर्ण एवं दीनार के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की मुद्रा का उल्लेख कथासरित्सागर में नहीं है। इसके अतिरिक्त चांदी के शाण, कार्षापण, एवं ताम्बे के सिक्कों का भी प्रचलन अवश्य ही रहा होगा। किन्तु इनका नाम निर्देश कथासरित्सागर में नहीं है।

---

१. क० स० सा० १।३।२२, २. वही, १।४।९३, ३. वही, ९।४।९१ चतस्रो हेमकोटयः।
४. वही, ७।१।६६ वयकाञ्चन कोटिश्च। ५. अमरकोष—३।३।१४, ६. अमरकोष—३।३।१४
७. पा० का० भा०, पृ० ३५३, ८. वही, पृ० २५०,
९. श० कल्पद्रुम—"द्वात्रिंशत् रत्तिका परिमित काञ्चनं दीनारम्।" १०. क० स० सा० ९।३।९२
११. वही, १०।४।२१२

अध्याय ५

प्रथम परिच्छेद

भोजनपान और रहन-सहन

कथासरित्सागर में वर्णित आहार पान, रहन-सहन एवं रीति-रिवाज तत्कालीन सांस्कृतिक स्वरूप के परिज्ञान में सहायक हैं। भोजन के आधारपर हम तत्कालीन समाज को दो भागों में बांट सकते हैं। प्रथम हैं अन्नाद एवं दूसरा है क्रव्याद। सीधी भाषा में हम इन्हें शाकाहारी एवं मांसाहारी कह सकते हैं। जो केवल वनस्पति खाते थे मांस नहीं, वे शाकाहारी हैं एवं जो वनस्पति के साथ-साथ मांस भी खाते थे, वे मांसाहारी कहे जाते हैं।

मांसाहार—कथासरित्सागरकालीन समाज स्पष्टतः दो भागों में विभक्त था। उस युग में मांसभक्षण की व्यापकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्रव्याद केवल पिशाच ही नहीं मनुष्य भी हैं। मद्य और मांस भोजन के अभिन्न अंग बन चुके थे। विवाहोत्सव में घृत एवं मांस के भोजन का उल्लेख है।[1] कथासरित्सागर में मृग[2], भैंसा[3], छाग[4], आदि पशुओं के मांस भक्षण का उल्लेख है। धर्म-व्याध बाजार में मांस बेचता है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि समाज में मांस खानेवाले व्यक्तियों की संख्या कम नहीं थी।

इसके कुछ कारण तो बिल्कुल स्पष्ट हैं। मध्य युग में तन्त्र का प्रभाव अपनी चरम सीमा पर था। छोटे से बड़े तक सभी इससे प्रभावित हो चले थे। तान्त्रिक योग साधना के पंचमकारों में मद्य और मांस की गणना की गई है। इस साधना में महामांस (नरमांस) की आवश्यकता भी होती थी। कथा-सरित्सागर में महामांस की चर्चा भी है।[6] महामांस विक्रय की प्रथा अत्यन्त भीषण और वीभत्स थी। श्मशान में जाकर शव मांस लेकर फेरी लगाते हुए भूत पिशाच आदि को प्रसन्न करते थे। इस सम्प्रदाय के व्यापक प्रभाव के कारण निश्चय ही मांस भक्षण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

इसके अतिरिक्त दो संस्कृतियों के परस्पर मेल से भी बहुत कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए। पुलिन्द, शबर आदि मूल जंगली जातियों में प्रचलित मद्य मांसाहार का प्रभाव उनके सम्पर्क में आनेवाली दूसरी जातियों पर भी पड़ा। कथासरित्सागर में वर्णित कथाओं में दोनों जातियों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सच्चा स्वरूप उभर कर सामने आता है। हिचक एवं झिझक के साथ आर्यों ने भी उनकी बहुत सी चीजें अपनायीं। "आर्यों का खानपान परिष्कृत था। किन्तु आर्येतर जातियों को मिलाने की उदार-वादी प्रवृत्ति के कारण प्राचीन बन्धन ढीले पड़ते गये। यास्काचार्य ने "पञ्चजनाः" के अन्तर्गत गन्धर्व, देवता, पितर, असुर तथा राक्षसों को भी माना है। जब असुरों और राक्षसों तक को स्वीकार कर

---

१. क० स० सा० ६।४।९७ "आकण्ठघृत मांसादि भोजनास्थां बबन्ध सः",

२. क० स० सा० १४।३।१० ३. वही, १०।६।२१३ ४. वही, १७।१।१०१

५. क० स० सा० ९।६।१८३ वियणिस्थमुपागच्छत् कुर्वाणं मांसविक्रयम्" ६. वही, ५।२।८१

लिया गया था, तब दूसरी अनार्य जातियों की बात ही क्या थी।"[1] मांस भक्षण के व्यापक प्रभाव का यह भी एक कारण है।

कुछ विदेशी जातियों के सम्पर्क में आने से भी इसका प्रचार बढ़ा। साथ ही साथ अनवरत द्वीपान्तरों की यात्रा में संलग्न साहसी नाविकों एवं व्यापारियों ने अन्य देशों में प्रचलित खान-पान को भी ग्रहण किया।

कुछ लोगों के अनुसार प्राचीन वैदिक काल में मांस भक्षण नहीं किया जाता था। महाभारत से इसकी पुष्टि की जाती है।[2] महाभारत में धूर्तों, म्लेच्छों और अनार्यों को इसके प्रचार का दोषी माना गया है।

कथासरित्सागर में मांस के कई प्रकार के भोजन का उल्लेख है।[3] मांस में घृत डालकर उसे भूना जाता था।[4] मांस का स्वादिष्ट व्यंजन भी बनाया जाता था[5] घी मांस और व्यंजन एक साथ खाने का उल्लेख है।[6] सूखा मांस भी खाये जाने का निर्देश है।[7] मांस भक्षण के कतिपय अन्य उदाहरण भी हैं।[8] कुछ जातियों में मत्स्य भक्षण प्रचलित था।[9] भोजन में मछली का निर्देश भी है।[10] धीवर जाति तो मछली व्यापार में संलग्न थी ही। इस प्रकार इतना निश्चित है कि मांस भक्षण उस समय के खान-पान का विशिष्ट अंग बन चुका था।

कथासरित्सागर में भोज्य पदार्थों का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं है। श्री अतुल चटर्जी ने ठीक ही कहा है कि "कथासरित्सागर में अन्न एवं वनस्पति का विस्तृत वर्णन नहीं"[11] यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ पदार्थों का नाम निर्देश मिलता है। स्नान के बाद भोजन दैनिक कृत्य था। कथासरित्सागर में भक्ष्य, भोज्य और लेह्य, तीन प्रकार की भोजन सामग्री बतायी गई है। भक्ष्य के अन्तर्गत लड्डू आदि पदार्थ परिगणित हैं। भोज्य में रोटी चावल दाल आदि हैं। दूध दही आदि लेह्य हैं।[12] षट्रस भोजन को स्वादिष्ट माना गया है।[13] षट्रस में कटु अम्ल, तिक्त, मधुर, कषाय, और लवण गिना गया है। षट्रस भोजन की चर्चा भारतीय साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है। कथासरित्सागर में उपलब्ध भोजन सामग्री को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। १—अन्नभोजन, २—पक्वान्न भोजन, ३—फल भोजन।

---

१. जा० का० भा० संस्कृति : बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना, पृ० २०८।

२. महाभा० अनु० ११५।५६ "श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणः"

३. महाभा० शा० मो० २६५।९-१० सुरां मत्स्यान् मधुमांसमासवं कृतरोदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्। मानात् मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम् ४. क० स० सा० १०।५।२८२ ५. वही, ९।४।१६१

६. वही, ९।४।१७० ७. वही, १।८।२४ ८. वही, १०।६।२१

९. O. S. Vol. Ix. Foreword Xvii. "fish appears to have been popular, atleast with certain classes for we have many references to fishermen and fishing. The flesh of deer and other wild animal was consumed."

१०. क० स० सा० १६।२।११९ दासी रक्षितिका तस्यै तन्मत्स्य प्राभृतं ददौ।

११. O. S. vol. Ix Foreword. Page xvii. १२. क० स० सा० ८।२।२३०
"तत्तन्नानाविधं भक्ष्य भोज्य लेह्यादि षड्रसम्, दिव्यमन्नं बुभुजिरे पपुः पानमथोत्तमम्" १३. वही, ८।२।२३०

अन्न भोजन—अन्न भोजन में चावल प्रमुख आहार विदित होता है। इसे ओदन[1] भक्त[2] तण्डुल[3] आदि कई नामों से अभिहित किया गया है। रोटी से अधिक चावल का प्रयोग मिलता है। धान[4] की चर्चा बार-बार की गई है। ओखल में मूसल से धान कूट कर चावल निकालने के कई प्रसंग हैं।[5] चावल के अन्य भेदों में शालि चावल से बनी खीर उत्तम मानी गयी है।[6] शालि, चावल का वह प्रकार है, जिसका पौधा रोपा जाता है, और जो हेमन्त ऋतु में तैयार होता है। यह चावल खाने में स्वादिष्ट और पुष्टिकर होता है।

नीवार आदि चावल यज्ञ में एवं तपस्वियों के यहाँ विशेष प्रयोग में लाया जाता था। महाकवि कालिदास ने भी शाकुन्तलम्" नाटक में नीवार धान का उल्लेख किया है। यह विशेषकर जंगलों में उपजता था। वर्तमान समय में इसे तिन्नी धान कहते हैं। इसकी गणना फलाहार धान में की जाती है।

गोधूम—गेहूँ उत्तरी भारत का प्रमुख खाद्यान्न है। पश्चिमी भारत में इसकी उपज अधिक है। कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख है।[7]

चना—यह भी प्रसिद्ध खाद्यान्नों में से एक है। पश्चिमी भारत का यह एक प्रमुख उपज है। इसका भूँजा बनाकर वेचे जाने का उल्लेख कथासरित्सागर में है।[8]

यव—प्राचीन भारत का यह भी एक विशेष अन्न रहा है। इसका प्रयोग विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर किया जाता था। रघुवंश महाकाव्य[9] में भी यव का प्रयोग उपलब्ध होता है। कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख है।[10]

सत्तू—यव एवं चना से बनाये गये सत्तू की चर्चा भी कई बार की गई है।[11]

पक्वान्न—पक्वान्न का व्यवहार प्राचीन काल से चला आ रहा है इसे मधुरान्न भी कहा जाता है। कथासरित्सागर में अलग-अलग खाद्य पदार्थों की चर्चा न कर पक्वान्न[12] शब्द से ही अभिहित किया गया है।

क्षीर—दूध में चावल एवं शर्करा डालकर बनाया जाता था। इसके साथ घृत का प्रयोग भी बताया गया है। "सक्षीर घृतशर्करम्"[13] कहा गया है। स्वादिष्ट खीर नैवेद्य के रूप में भी चढ़ाये जाने का वर्णन है। इसे परमान्न भी कहा गया है।[14] अमरकोष के अनुसार परमान्न पायस ही हैं।[15]

अपूप—पुआ भी भारत का बहुत पुराना पक्वान्न है। गेहूँ के आटे को चीनी और पानी में मिलाकर घी में बनाया जाता है। इसके कई प्रकार थे। कथासरित्सागर में भी इसका उल्लेख है।[16]

---

१. वही, ९।४।१८० २. क० स० सा० १४।४।७६. ३. वही, १।७।२०

४. वही १८।५।२२३ ५ वही १२।१८।२३

निर्गता साश्रृणोत् क्वापि गृहे धान्यावघातजम्, निःशब्दायां निशि व्यक्तम् विदूरे मुसलध्वनिम्।

६. वही, १७।९।३१ आश्वासयञ्च निक्षिप्य सक्षीरान् शालितण्डुलान् ७. वही १८।२।७४

८. क० स० सा० ११।६।४१ "कृत्वा तांश्चणकान् भृष्टान् गृहीत्वा जलकुम्भिकाम्" ९. रघुवंश, ९।४३, १७।१२

१०. क० स० सा० १२।४।२६६, "तावत् सा स्त्री गृहीत्वैव यवमुष्टिं गृहान्तरे।"

११. वही, १२।४।२६७, "लूनैर्भृष्टैश्च पिष्टैश्च सक्तवो विहितास्तथा"

१२. वही, १२।८।१४२ १३. वही, १२।२१।४७ १४. वही, ५।३।२०२

१५. "परमान्नं तु पायसम्" अ० को० २।७।२४ १६. क० स० सा० १८।२।७४

गुड़—गुड़ आटा मिलाकर तैयार किया गया पक्वान्न भी बहुत प्रिय था। इसका वर्णन भी कथासरित्सागर में है।[1]

सूप—दाल का व्यवहार पाणिनि के पूर्व से होता आ रहा है। पाणिनि ने सूप का प्रयोग किया है।[2] कथासरित्सागर में भी इसका वर्णन है।[3]

व्यंजन—जिन पदार्थों के मिलने से या साथ खाने से खाद्य पदार्थ में रुचि अथवा स्वाद उत्पन्न होता है, वे दधि, घृत, शाक, चटनी आदि पदार्थ व्यंजन कहे जाते हैं।[4] "व्यंजन" शब्द "अंज" धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाशित करनेवाला। जब किसी चिकने अथवा मधुर पदार्थ से इन्द्रियों की स्थिति ऐसी जड़ीकृत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नहीं चलता, या चलता है तो ठीक नहीं चल पाता, उस समय जो वस्तु इन्द्रियों की अपनी स्वाभाविक स्थिति वापस ला देती है, उसी को व्यंजन कहते हैं।"[5] कथासरित्सागर में भी व्यंजन का उल्लेख है।[6]

फलाहार—फल भोजन का वर्णन भी कथासरित्सागर में मिलता है। तपस्वी अधिकतर फल पर ही जीवन निर्वाह करते थे। उन्हें फलाशी कहा जाता था। फलों में आम्र, जम्बू, आमलक, आदि गिनाये गये हैं।[7]

पेय पदार्थ—रुचिकर भोजन के साथ-साथ रुचिकर पान भी आवश्यक है। भोजन और पान दोनों साथ-साथ गिनाये गये हैं। यशोवर्मा मांस ओदन खाकर पयपान करता है।[8] दूध पीने का निर्देश क्षीर, पय और दुग्ध के नाम से किया गया है। इसके अतिरिक्त पानक (शर्बत) का उल्लेख भी है।[9]

देश भेद के अनुसार पेय पदार्थों में भी भिन्नता बताई गई है। हेम व्याकरण से विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले लोगों के रुचिकर पेय पदार्थों पर प्रकाश पड़ता है। बताया गया है कि उशीनर देश के निवासी दूध पीने के शौकीन थे तथा सौराष्ट्र निवासी मट्ठा पीने के और गान्धार निवासी कषाय पीने के शौकीन थे। इसी प्रकार वाल्हीक मद्रदेशवासियों में सौवीर अर्थात् कांजी पीने की प्रथा एवं प्राच्य देशों में सुरा पीने की प्रथा प्रचलित थी।[10]

मद्यपान—कथासरित्सागर के अध्ययन से विदित होता है कि मदिरा पीने की प्रथा केवल प्राच्य में ही नहीं सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गई थी। प्रत्येक विशिष्ट अवसरों पर मदिरापान जैसे आवश्यक सा हो गया था। कथासरित्सागर के अध्ययन से स्पष्ट है कि मदिरा पान भोजन का आवश्यक अंग बन चुका था। पुराणों में भी मदिरापान के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं।[11] किन्तु भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने

---

१. वही, १।१।५६ २. पतंजलिकालीन भारत, पृ० २१६। ३. क० स० सा० ८।६।४१।

४. आ० पु० भा०, पृ० १९७। ५. पा० का० भा०, पृ० २२७।

६. क० स० सा० ८।६।३७ "व्यंजनं ददतं सूदमेषं मामेत्यवारयत्"। ७. O. S. Vol. IX Foreword XVII.

८. क० स० सा० ९।४।१८० मांसौदनश्च भुक्तोऽस्य पीतं च पयसः पलम्। ९. वही ६।८।१७५।

१०. हेम० ५।१।१५७, २।३।७०, ५।१।१५८, २।३।७७, २।३।७०। पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति क्षीरपायिणः उशीनराः, तक्रपायिणः सौराष्ट्राः कषायपायिणो गान्धाराः, सौवीरपायिणो वाल्हीकाः, तथा सुरापायिणः प्राच्याः।

११. श्रीमद् पु० १०।१०।२-३

मदिरापान का कठोर विरोध किया है। मनु ने उच्च तीन वर्णों को सुरापान से वंचित रखा है। केवल शूद्र ही मदिरा पीने के अधिकारी थे।[१] क्रमशः क्षत्रियों एवं वैश्यों को पीने की छूट दी गई है।

लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त राजा और वैश्य मदिरापान कर सकते हैं।[२] विष्णु-धर्मोत्तर के अनुसार ब्राह्मण के लिये मदिरापान वर्जित है, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य पी सकते हैं।[३] मानसोल्लास[४] के अनुसार राजा मदिरापान किया करता था। मदिरापान की प्रशंसा में कहा गया है कि यह विचित्र राग के सागर को उत्पन्न करनेवाला, बंधु के सदृश शोक का नाश करनेवाला, मित्र के सदृश प्रेम की वृद्धि करनेवाला एवं मोह के सदृश स्मृति का नाश करनेवाला है।[५] वात्स्यायन[६] ने भी मदिरापान की गोष्ठियों का वर्णन किया है।

कथासरित्सागर में मद्यपान भोजन का अभिन्न अंग बन चुका था। भोजन के साथ पान का उल्लेख भी अवश्य ही हुआ है। राज उदयन सुखपूर्वक मदिरापान कर रात्रि व्यतीत करते हैं।[७] राजा नरवाहनदत्त स्नानादि कर मदिरापान करते हैं।[८] भोगवर्मा भोजन के बाद पान कर सो जाता है।[९] युद्ध में घायल गुणाकर मन्त्री को मदिरापान कराया जाता है।[१०] प्रमुख मन्त्रियों एवं पत्नियों के साथ बैठकर मद्यपान करना राजाओं का प्रमुख विलास था।[११] राजा धर्मध्वज अपनी पत्नी द्वारा पीकर छोड़े गये मद्य को पीता है।[१२] स्त्रियां भी खुलकर मद्यपान किया करती थी। इस युग की यह सबसे बड़ी विशेषता मानी जायगी।[१३]

दिन में मद्यपान करना निषिद्ध था। राजा नरवाहनदत्त के पास मरुभूति मन्त्री मद्य के नशे में कुछ अलसाया हुआ सा फूलों का गजरा डाले और इत्र लगाये लड़खड़ाती जीभ और गीत से अन्य मित्रों को हंसाता हुआ आया। उसकी इस दशा पर गोमुख कहता है "तुम यौगन्धरायण के पुत्र होकर भी नीति नहीं जानते। प्रातःकाल शराब पीते हो और नशे की बेहोशी में राजा के पास आते हो।[१४] आपान भूमि (मदिरालय) का उल्लेख भी कथासरित्सागर में है।[१५] मदिरापान की प्याली को चषक कहा जाता था। कीमती रत्नों से जटित चषकों में राजा मद्यपान करते थे। उन पर सुन्दर कलाकृतियाँ भी बनी रहती थीं। जिस पात्र में मदिरा रखी जाती थी उसे कलश कहते थे। सुन्दर युवतियाँ उन कलशों को लिये रहती थीं।[१६]

---

१. मनु ११।९४ २. कृत्य कल्पतरु, नियत कालकाण्ड, पृ० ३३१

३. विष्णुधर्मोत्तर २२।८३-८४, ग्यारहवीं सदी भारत—पृ० २४०

४. मानसोल्लास—५।१०।४४०-४१ मधुपानोद्भवा क्रीड़ा स्त्रीजनैः कारयेन्नृपः

५. मानसोल्लास ५।१०।५१२, ५१३ ६. वात्स्यायन कामसूत्र—अ० २६।

७. क० स० सा० ३।४।२७ "पानादि लीलया दिनशेषं निनाय स" ८. वही, ७।९।६३

९. वही, ९।४।१९८ १०. वही, १२।५।१० ११. वही, ३।६।२३०

१२. वही, १२।१८।१० "प्रिया पीतावशेषाणि पिबन् रेमे मधूनि स"

१३. वही, १२।१८।१०, ४।१।६-८, १२।८।३०४, १४।२।५१-५३

१४. क० स० सा० ७।६।४ "प्रातः पिबसि मद्यं यन् मत्तः प्रभुमुपैषि च"

१५. वही, १५।३।१२४ "आपानभूमिः सज्जेयं तदमागम्यतामिति"

१६. वही, १५।२।१२५ "विचित्र रत्न चषक प्रफुल्लविविधाम्बुजाम्, विकीर्णनिककुसुमामुद्याननलिनीमिव"

मद्य की प्रशंसा में बताया गया है कि यह स्त्रियों की लज्जारूपी बन्धन को तोड़नेवाला है, कामदेव का सर्वस्व एवं विलासप्रिय है। मद्यपान के बाद प्रफुल्ल एवं रक्ताभ मुखवाला तप से द्योतित कमल के समान लग रहे थे।[1] मनोरंजन के लिए आपान गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था।[2] वैवाहिक मांगलिक अवसरों पर सामान्य लोग भी मदिरापान करते हुए देखे जाते हैं।[3]

मद्य के कई भेद बताये गये हैं। मनु ने गुड, पिट्ठी तथा महुआ से बनी हुई तीन प्रकार की गौड़ी, पिट्ठी तथा माह्वी सुराओं का वर्णन किया है।[4]

कथासरित्सागर में भी मद्य के कई भेद उपलब्ध हैं।

मदिरा[5]—यह उत्तम कोटि का पेय था जो अंगूर आदि से बनाया जाता था। राजा इसका विशेष सेवन करते थे।

आसव[6]—यह द्राक्षा गुड़ चावल आदि पदार्थों को सड़ा कर बनाया जाता है।

चरु[7]—यह निम्न कोटि की मदिरा है।

सीधु[8]—यह मदिरा राव, गुड़ से तैयार की जाती थी। उत्तम प्रकार की मदिराओं में इसकी गणना की गई है।

अन्य मादक द्रव्यों में धतूरा का उल्लेख मिलता है। देवस्मिता धतूरा मिला हुआ मद्य पिलाती है[9]। किन्तु अफीम, गाँजा, चरस और भाँग का कोई उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि कश्मीर में इन पदार्थों के पाये जाने से, लेखक को परिचित होना चाहिए था। किन्तु सम्पूर्ण कथासरित्सागर में इनका कहीं उल्लेख नहीं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि दसवीं ग्यारहवीं सदी में इनका प्रयोग प्रारम्भ नहीं हुआ था।[10]

अन्य उपभोग्य पदार्थ—अन्य उपयोग्य पदार्थों में एला (इलायची) लवंग (लौंग) कपूर, ताम्बूल आदि हैं जिनका उपयोग भोजनादि के बाद मुख शुद्धि के लिए किया जाता था।

ताम्बूल—सम्मान सूचक एवं मांगलिक ताम्बूल की अपनी एक अलग परम्परा रही है। पान के लिए संस्कृत शब्द ताम्बूल है। केवल पत्ते के लिए नागवल्ली एवं कत्था, चूना, सुपाड़ी आदि से युक्त होने पर ताम्बूल कहा जाता था।

---

१. वही, १५।२।१२८
"वपुस्तत्रावरोधस्त्री लज्जा निगडभेदि ते, स्मरजीवितसर्वस्वं विलाससचिवं मधु।
मुखानि मधुनां तेपामुत्फुल्लान्यरुणानि च बालातपेन सरसां सरोजानीव रेजिरे॥

२. वही, १२।३६।२०० ३. वही, ६।१।१९९

४. मनु० ११।९४ "गौड़ी पेष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा" ५. क० स० सा० २।३।५

६. वही, ९।४।१९८ ७. वही, २।१।१० ८. वही, ३।६।२३०

९. वही, २।५।१४२ तद्धतूरकसंयुक्तं मद्यमानयत द्रुतम्"

१०. O. S. Vol. IX Foreword page Xiv by Atul Chatterjee. It is Worthy of note that there is no allusion in any of the tales to the consumption of opium either as a medicine or as an intoxicant. Nor do we find any mention of Ganja, charas or Bhang.

इसका उपयोग भारत में कब से प्रारम्भ हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रेंजर ने ईसा पूर्व २०० ई० तक व्यवहृत होने की बात कही है।[1] जातकों में इसका उल्लेख है। महासीलव जातक[2] एवं अण्डभूत जातकों[3] में इसका उल्लेख है। जैन[4] एवं पाली[5] साहित्य में भी ताम्बूल का नाम-निर्देश है।

इसमें सन्देह नहीं कि ताम्बूल का व्यवहार भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। कुछ लोगों ने भाषावैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर इसे अपनी-अपनी ओर खींचने की कोशिश की है। श्री एल० वी० रामस्वामी अय्यर ने ताम्बूल शब्द को द्राविडी उत्पत्ति माना है।[6] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी[7] के अनुसार आर्य लोग भारत में आने के पूर्व ताम्बूल लता से परिचित न थे, तथा उसके उपयोग को नहीं जानते थे। आर्यों ने ताम्बूल पत्र का प्रयोग नागजातियों से सीखा। इसीके आधार पर वे नाग बल्ली शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। राजशेखर विरचित प्रबन्ध कोष में एक कथा के आधार पर ताम्बूल को नागों की ही देन माना है। उसके अनुसार पाताल लोक के नागों के राजा वासुकी ने अपनी कन्या राजा उदयन को देते समय दहेज में अन्य पदार्थों के साथ नागवल्ली भी दी। तभी से यह प्रचलित हुआ।

ताम्बूल में मूल शब्द बूल है जिसमें तम् अथवा ताम् उपसर्ग है। जीलंस्की ने बूल शब्द की तुलना आर्येतर शब्द बालु से की है जिसका अर्थ है वह वस्तु जो लपेटी गई हो।[8] इसी प्रकार यू० वेंकट कृष्णराव[9] भी ताम्बूल को दक्षिण भारत की ही निधि मानते हैं। वे इसका सम्बन्ध द्राविडी भाषा से जोड़ते हैं। निश्चित कुछ कहना कठिन है। किन्तु यह प्राचीन भारत की ही देन है, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय साहित्य में इसका उल्लेख प्राचीन समय से ही मिलता है। कामसूत्र में नागरक की शय्या के पास पीकदान की व्यवस्था भी है।[10] गुप्ता शिलालोख में यह उधृत है।[11]

कुट्टिनीमतम् से विदित होता है कि वेश्या के यहाँ जाने वाला भट्ट पुत्र मुंह में पान का बीड़ा रखे हुए था।[12] पान सम्मान का सूचक था। महाकवि श्री हर्ष कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र से पान के दो बीड़े से सम्मानित हुए थे।[13]

कथासरित्सागर में कई अवसरों पर पान का उल्लेख मिलता है। राजा उदयन संपेरे से एक सर्प की रक्षा करते हैं। प्रसन्न होकर सर्प ने उदयन को कभी न सूखने वाली पान की लता दी थी।[14]

---

१. O. S. vol. VIII Appendix II Romance of Betal Chewing, Paga 254.

२. महासीलव जातज नं० ५१ केम्ब्रिजएडिसन भा० १, पृ० १३२

३. अण्डभूत जातक नं० ६२ केम्ब्रिज एडिसन भा० १, पृ० १५२

४. आपपाटकासूत्र भा० ३८ ल्यूमन एडिशन, पृ० ५०   ५. बुद्ध घोष का विशुद्धिमग्गा, पृ० ३१४

६. journal of Oriental Research, Madras, vol. V. PP. 1-10.

७. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० २३-२४

८. O. S. vol. VIII Page 236"   ९. मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० २५२ पर उद्धृत।

१०. कामसूत्र १४।८।९   ११. Fleet-Gupta Inscriptions   १२ कुट्टनीमतम्—श्लोक ७०

१३. नैषध, पृ० ५१८ ताम्बूल द्वयमासनं च लभते।—ताम्बूल पुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।

१४. क० स० सा० २।१।८१ ताम्बूलीश्च सहाम्लान माला तिलकयुक्तिभिः।

मृगाङ्कदत्त राजप्रासाद से नीचे पान का पीक फेंकता है जो नीचे जाते हुए मन्त्री पर गिरता है।[1] प्रथम वेताल कथा में पद्मावती की सखी ताम्बूल लेकर आती है।[2] वीरवर कुछ मुद्रा ताम्बूल पर व्यय करता है।[3] इन प्रसंगों के अतिरिक्त कथासरित्सागर में दो बार पंचफल से युक्त ताम्बूल की बात कही गई है। सिद्धि के प्रभाव से एक ऋषी चन्द्रस्वामी को फल भोजन एवं पान खिलाता है जो पंच फलयुक्त है।[4] मदिरावती एक ब्राह्मण को पंचफल युक्त पान खिलाती है।[5] इस प्रकार पंचफल के साथ ताम्बूल भक्षण की बात कही गई है। किन्तु पुंगीफल को छोड़ कर बाकी पदार्थों को फल नहीं कहा जासकता। वैद्यक सप्तसिन्धु[6] में "पंच सुगन्धिकम्" के अन्तर्गत जिनकी गणना की गई है वे हैं कर्पूर, कंकाल, लवंग, जातिफल और पूगफल।

पाँच की संख्या हिन्दू धर्म में बहुत शुभ मानी गई है। ताम्बूल भी मंगल का प्रतीक है। सभी मांगलिक अवसरों पर ताम्बूल का व्यवहार किया जाता है। अतः इसे भी "पंच" की मांगलिक संख्या से समन्विन कर दिया गया है।

पंचामृत (दूध, दही, घी, मधु, चींनी), पंचपल्लव (आम, पीपल, उदुम्बर, जम्बू, पिपली) पंचरत्न, स्वर्ग के पाँच वृक्ष, काम के पाँच बाण, पंचराज-चिन्ह, पंचगव्य, पंचपुष्प आदि सभी मांगलिक पदार्थ पांच माने गये हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से ताम्बूल पाचन क्रिया में सहायक बताया गया है। सुश्रुत ने भी पाचन के लिए भोजन के बाद पान खाने का विधान बताया है।[7] वाग्भट्ट[8] ने अष्टांग संग्रह में कहा है कि सोने के समय पान लेना चाहिए। सुभाषित रत्नाकर[9] में ताम्बूल के गुणों का उल्लेख किया गया है। योगरत्नाकर[10] एवं वराहमिहिर[11] ने भी ताम्बूल के गुणों का उल्लेख किया है।

भोजन भूमि—राजभवनों में राजाओं के भोजन का कक्ष भोजन भवन[12] या भोजन भूमि[13] कहा गया है। क० स० सा० में सुरुचिपूर्ण ढंग से सजे हुए इस भवन का सुन्दर चित्र दिया गया है। सुस्वादु विविध आहार पूर्ण पात्र रखे थे। चारों ओर पर्दे लगे थे। यह भवन राजलक्ष्मी की नाट्यशाला के समान वैभव एवं श्री सम्पन्न लगरहा था।

---

१. वही, १२।३।५ मृगांकदत्तस्ताम्बूलनिष्ठीवानरसं जहौ २. वही, १२।८।१४२ ३. वही, १२।११।१८
४. क० स० सा० १२।१५।४२ युक्त पंचफलस्वादुताम्बूलस्वरसेन च।
५. वही, १३।१।४६ सपंचफलकर्पूरै नागवल्लीदलैर्युता।
६. वैद्यक सप्तसिन्धु, पृ० १९१३–१४, के० एन० सेन द्वारा परिवर्द्धित—कलकत्ता।
७. भिषगरत्नटीका—भाग १, पृ० ५६२
८. Gode. P. K. Studies in Indian Cultural History. voi. I. Page 143.
ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० २४२। ९. सुभाषित-रत्ना कर, पृ० २४२
"ताम्बूलस्य गुणाः सन्ति सखे शतसहस्रशः, एकोऽपि च महत्दोषो यस्य दानात् विसर्जनम्"
१०. योग रत्नाकर—आनन्द, श्रम, पूना से १९०० में मुद्रित
११. बृहत्संहिता—"कामंप्रदीपयति रूपमभिव्यक्ति—मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० २५७ पर उधृत।
१२. क० स० सा० ८।२।२२७ १३. वही, १५।२।१३१

मय दानव का भोजन-भवन चार सौ कोस तक फैला हुआ बताया गया था जिसकी भूमि सोने और रत्नों से जड़ी हुई थी इसमें रत्नों के खंभे लगे हुए थे और अनेक रंगों की मणियों के भोजन-पात्र रखे हुए थे।[२] रसोई घर को महानस[३] कहा जाता था। भोजन बनानेवाले रसोइया को सूपकार[४] कहते थे।

सागसब्जी के लिए शाकवाटिका[५] (किचेन गार्डेन) भी थी।

भोजनशाला में प्रयुक्त पात्र—भोजन में प्रयुक्त पात्रों का उल्लेख भी कथासरित्सागर में है।

पाकभाण्ड[६]—भात आदि बनाने वाले पात्र को पाक भाण्ड कहते थे। इसे भाण्ड[७] भी कहा जाता था।

चषक[८]—प्याला या कटोरा को चषक कहते थे। विशेषतः यह मदिरापान के लिए प्रयुक्त था।

कलश[९]—जल भरने का घड़ा। कांस्यपात्र[१०], ताम्रघट[११], द्रोणिकान्तर[१२] (पानी की टंकी) आदि का भी उल्लेख है।

---

१. क० स० सा० १५।२।१३१-१३२

ततो भोजनभूमिं ते क्रमेणात्र समासदन् विद्याविभव संभूत विविधाहार हारिणीम्।

आस्तीर्णवस्त्रां पात्राढ्यां सतिरस्करिणीपटाम्, नानाविधास्वाद्यरसां नाट्यवेदीमिवश्रियाम्।

२. वही, ८।२।२२८ शतयोजनविस्तीर्णां सुवर्णमार्गकुट्टिमाम्, रत्नस्तम्भचितां न्यस्तविचित्रमणि भाजनाम्

३. वही, ७।२।७० ४. वही, ८।६।४१ ५. वही, १२।५।२०६ ६. वही, १४।४।७७

७. वही, १२।४।७० ८. वही, १५।२।१२९

९. क० स० सा० १५।२।१२६ १०. वही, १२।४।२६८

११. वही, १०।५।१००, ७।२।४१, १०।५।१८० १२. वही, १।३।३३

द्वितीय परिच्छेद

वस्त्र

परिधान भी युगविशेष की संस्कृति का सूचक है। कथासरित्सागर में वस्त्रों का सामान्य निर्देश हुआ हैं। अम्बर, वस्त्र, अंशुक, कर्पट आदि शब्दों का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया गया है। वस्त्र बुननेवाली जाति जुलाहे को कार्पटिक कहा जाता था। उत्तरीय, वस्त्रयुग्म, कंचुक, उष्णीष आदि परिधानों का उल्लेख मिलता है।

कंचुक—यह स्त्रियों द्वारा पहनी जानेवाली एक प्रकार की अँगिया थी। वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे छोटी कुरती या चोली माना है। इनके अनुसार गुप्त काल में यह वेश न था। लगभग छठी शताब्दी में हूणों के बाद चोली या कुरती पहनने का रिवाज शुरु हुआ।[1] निश्चय ही यह स्तनों को ढंकने की चोली थी। कथासरित्सागर में इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है कि राजा उदयन को देखने के लिए स्त्रियाँ दौड़कर गवाक्षों पर पहुँचती हैं। दौड़कर आई हुई किसी सुन्दरी के हाँफने से उछलते हुए स्तन, राजदर्शन के लिए मानों चोली से बाहर निकलना चाहते थे।[2] इसी प्रकार मदिरावती की सखी भी धवल कञ्चुक धारण करती है।[3]

वस्त्रयुग्म—वस्त्रयुग्म का उल्लेख कथासरित्सागर में कई बार हुआ है। इसका अर्थ था वस्त्र का जोड़ा। ऊर्ध्व वस्त्र एवं अधोवस्त्र दोनों मिलकर वस्त्रयुग्म[4] कहे जाते थे। धोती और प्रावारक दोनों मिलकर वस्त्र युग्म थे।[5] प्रावार का अर्थ दुशाला है। हेमचन्द्र ने "राजाच्छादनः: प्रावाराः"[6] लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि राजाओं के ओढ़ने योग्य ऊनी चादर प्रावार कहे जाते थे। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरों के रोयें से प्रावार नामक दुशाला बनता था।[7]

उत्तरीय—कथासरित्सागर में उत्तरीय का उल्लेख भी कई बार हुआ है।[8] अमरकोष में चादर के लिए प्रावार, उत्तरासंग, वृहतिका, संव्यान और उत्तरीय ये पाँच शब्द आए हैं।[9] इस प्रकार उत्तरीय धोती के ऊपर ओढ़े जानेवाले चादर के रूप में व्यवहृत होता था।

उष्णीष—पगड़ी के लिये संस्कृत में उष्णीष या शिरोवेष्टन[10] कहा गया है।[11] क. स. सा.[12] में भी उल्लेख है।

कौपीन चीवर—यह बौद्ध भिक्षुओं का परिधान है। श्रमण एवं ब्रह्मचारी इसे धारण करते थे।

---

१. हर्ष० रा० सां० अ० पृ० ५६ २. क० स० सा० ३।४।१६ ३. क० स० सा० १३।१।१६५
४. क० स० सा० ९।३।५०,५।१।११३ ५. वही, रा० भा० प०—पादटिप्पणी, पृ० ४०६
६. हेमचन्द्र, ३।४।४१ ७. आ० पु० भा०, पृ० २०४
८. क० स० सा० १२।८।९६, एवमुक्तवतीप्रीतः स्वोत्तरीयादि दानतः, वही, १३।१।१३९
९. अमरकोषः. २।६।११७–११८ १०. क० स० सा० १०।५।१८४ ११. आ० पु० भा०, पृ० २०
१२. क० स० सा० १२।६।२८३

डॉ० मोतीचन्द्र[1] ने बौद्ध भिक्षुओं के तीन वस्त्र बताये हैं।

संघाटी—कमर में लपेटने की दोहरी तहमत। **अन्तरवासक**—ऊपरी भाग को ढंकने का वस्त्र, और **उत्तरासंग**—चादर, कथासरित्सागर[2] में भी बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र के रूप में ही उल्लिखित हैं।

वल्कल—वल्कल धारण करने की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है। तपस्वी वल्कल धारण करते थे।

कृष्णाजिन—कथासरित्सागर[3] में भी इसका उल्लेख है। तपस्वी इसका उपयोग किया करते थे। कोल, भील, शवर आदि भी वस्त्र के स्थान पर कृष्णाजिन अथवा वल्कल धारण करते थे। कहीं-कहीं मृगचर्म[4] भी कृष्णाजिन के स्थान पर कहा गया है।

मध्यकाल में निचोल भी धारण किया जाता था[5] रंगे हुए वस्त्रों का भी प्रचार था। वस्त्र रंगने की कला में भी वे निपुण थे। लालवस्त्र को रक्तांशुक कहा जाता था।[6]

कथासरित्सागर में मनोज्ञ वस्त्राभूषण धारण करने पर बल दिया गया है। वस्त्राभूषण धारण सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक समझा जाता था। प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं प्रतिष्ठा के लिए उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण धारण करने की परम्परा थी। निर्धन राजा देवदत्त उचित वस्त्राभूषण के अभाव में ससुराल जाने से हिचकता है। वह अपनी माता से कहता है "राजा के योग्य सजधज के विना वहाँ कौन सम्मान करेगा" ?[7] फटा कपड़ा निर्धनता का सूचक था। ब्राह्मणी के फटे वस्त्र उसकी दरिद्रता के सूचक हैं।[8] महारानी वासवदत्ता उसे नवीन वस्त्र देती है।[9] विवाह राज्याभिषेक प्रभृति अवसरों पर उत्तम वेश धारण किया जाता था। उत्सव विशेष में सम्मिलित होने के लिए नवीन और आकर्षक वेशभूषा धारण की जाती थी।[10] विवाह के अवसर पर लोगों को उत्तम वस्त्र दान किये जाते थे।[11] उपहार में मिले वस्त्रों के ढेर लग जाते थे। लाजा होम के अवसर पर दिये गये वस्त्रों का ढेर लग जाता है।[12] इसीप्रकार मदिरावती के विवाह के अवसर पर भी वस्त्रों के ढेर लग गये।[13] विवाह के अवसर पर कन्या का सुन्दर वस्त्राभूषण से शृङ्गार किया जाता था। सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित नर-नारी अनुपम शोभा धारण करते थे।

---

१. डॉ० मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ३५ २. क० स० सा०, ६।१।१९
३. क० स० सा० ४।५।९९ ४. वही, ४।५।९२ ५. गीतगोविन्द ५।११
६. क० स० सा० ३।४।९ "ध्वजरक्तांशुकच्छन्ना"
७. क० स० सा० ४।१।६७ तत्र मां निष्परिकरं गतं को बहु मंस्यते। ८. वही, ४।१।४१
९. वही, ४।१।५१ १०. वही, २।६।१९ ११. वही, ३।२।८५ १२. वही, ९।१।२२४
१३. वही, १३।१।१६०

तृतीय परिच्छेद

आभूषण

कथासरित्सागर में वस्त्र एवं अलंकार का साथ ही प्रयोग हुआ है। दोनों ही संस्कृति के द्योतक हैं। धातु निर्माण की दृष्टि से समस्त आभूषणों को रत्न जटित स्वर्णाभूषण. मुक्ताभूषण, रजताभूषण एवं पुष्पाभरण के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सोमेश्वर[1] ने तीन प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया है। (१) स्त्री-पुरुषों के समान आभूषण, (२) स्त्रियों के आभूषण, (३) पुरुषों के आभूषण।

क० स० सा० में भी तीनों प्रकार के आभूषणों का वर्णन प्राप्त है। पुरुष भी आभूषण धारण करते थे। मुकुट[2], कण्ठहार[3] एवं कङ्गन[4] पुरुषों के प्रिय आभूषण थे। अन्य ग्रन्थों से भी पुरुषों के आभूषण धारण करने की परम्परा, की पुष्टि होती है।[5] किन्तु स्त्रियों के अलङ्कारों की संख्या अधिक रही है। वात्स्यायन[6] ने "भूषण योजन" को भी चौसठ कलाओं में गिना है। अलङ्कारहीना पत्नी को पति के सम्मुख जाने से निषेध किया गया है।[7] कथासरित्सागर में भी अंगों के आभूषण उपलब्ध हैं। सर, कण्ठ, कर्ण, कर, कटि, पाद आदि सभी अंगों के आभूषणों का विस्तृत वर्णन है। मध्यकालीन साहित्यों में आभूषणों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। राजतरंगिणी[8], समयमातृका[9], नैषधीयचरितम्[10], कुट्टिनीमतम्[11] आदि ग्रन्थों में मध्यकाल में उपयोग किये जाने वाले अलंकारों का वर्णन उपलब्ध है। कथासरित्सागर में भी इनसे मिलते जुलते अलंकारों का वर्णन है।

मणियाँ—रत्नजटित आभूषणों में विभिन्न प्रकार की मणियों का प्रयोग किया जाता था। कथासरित्सागर में पद्मरागमणि[12], तार्क्ष्यमणि[13], स्फटिक मणि[14], मुक्ता[15], प्रवाल[16], वज्र[17], हीरा आदि का उल्लेख मिलता है। विष्णु की कौस्तुभ मणि[18] का भी निर्देश है।

पुरुष एवं स्त्री के आभूषणों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों के आभूषण प्रायः समान हैं। अंगद, वलय, हार, मुद्रिका, कुण्डल दोनों ही धारण करते हैं। पुरुष वलय बायें हाथ में पहनते थे। वे गले में माला भी धारण करते थे। नूपुर, मेखला, आदि कटि आभूषण स्त्रियां ही धारण करती थीं। स्त्रियाँ पुष्पों का शृंगार भी करती थीं। चूड़ामणि, मुकुट आदि पुरुषों के आभूषण थे। ये राजाओं के द्वारा ही धारण

---

१. मानसोल्लास—३।८ २. क० स० सा० ५।१।९ ३. वही, ७।२।१११ ४. वही, ८।२।१५२

५. Al Biruru—Sochau Vol I chap XV p. 181
पृथ्वीराज विजय २।१७-३० क्षेमेन्द्र—दशावतार चरितम् ५।३३ मानसोल्लास ३।१५८५

६. कामसूत्र १।३।१३ ७. कामसूत्र—४।१।१३ ८. राजतरंगिणी ८।२८३३, २८३५

९. समयमातृका ७।१४-१७ १०. नैषधचरितम् १।३८, ७।८०, ९।११४, १०।११६

११. कुट्टिनीमतम् श्लोक ६३,४४,६६ १२. क० स० सा० ७।२।८७ १३. वही, १२।१।७, १८।४।१३१

१४. वही, ६।३।५२ १५. वही, १२।८।६३, १।३।४२ १६. वही, १।३।४२

१७. वही, १२।१८ ४८ १८. वही, १४।४।८२

किये जाते थे। कथासरित्सागर में ऐसी चूड़ामणि का उल्लेख है जिसके धारण कर लेने पर विष, पिशाच, वृद्धावस्था एवं रोग आदि के प्रभाव नष्ट हो जाते थे। रानी इन्दुमती राजा को ऐसी ही मणि देती है।[1] लाल मणि को "अरुण मणि"[2] कहा गया है। पेन्जर ने तार्क्ष्यमणि को काला माना है। जार्ज ग्रियर्सन ने इसकी तुलना गरुड़ मानिक्य से की है।[3]

सिर के आभूषण

चूड़ामणि—सर के आभूषणों में चूड़ामणि सर्वोत्तम माना गया है। यह मणि युक्त सर का आभूषण है। साधारणतः यह मुकुट का ही पर्याय है। राजा ही इसका व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। महाकवि कालिदास[4] एवं बाण[5] ने भी चूड़ामणि का उल्लेख किया है। कथासरित्सागर में चूड़ामणि[6] का कई जगह उल्लेख है।

मुकुट—यह भी राजाओं का आभूषण है जो मस्तक पर धारण किया जाता था। राजा के पाँच चिन्हों में यह भी एक आवश्यक वस्तु है।

किरीट—राजाओं में भी ऊँचे वर्ग के राजा किरीट धारण करते थे।

पट्ट—वराहमिहिर ने पट्ट को स्वर्ण निर्मित माना है। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार भी "यह कपड़े का नहीं, बल्कि सोने का बना हुआ होता था जो उष्णीष या शिरोभूषण के ऊपर बाँधा जाता था।"[7] वराहमिहिर[8] के अनुसार यह पाँच प्रकार का होता था (१) राजपट्ट, (२) महिषी पट्ट (३) युवराज पट्ट (४) सेनापति पट्ट और (५) प्रसाद पट्ट। राजपट्ट में पाँच शिखायें, महिषीपट्ट में तीन शिखायें, युवराजपट्ट में भी तीन शिखायें, सेनापति पट्ट में एक शिखा, और प्रसाद पट्ट में शिखा नहीं होती थी।

कथासरित्सागर में पट्ट का कई बार उल्लेख है। विशिष्ट सम्मान के लिए यह साधारण लोगों को भी दिया जाता था। सामाजिक सम्मान पट्टबन्ध द्वारा किया जाता था।[9] इसी प्रकार राजा सुषेण का भी पट्टबन्ध किया जाता है।[10] रानियों के ऊपर महारानी को पट्टाभिषिक्त महिषी कहते थे।[11]

कण्ठाभूषण—कण्ठाभूषण स्त्रियों एवं पुरुषों के द्वारा धारण किया जाता था। इसके कई प्रकार कथासरित्सागर में उपलब्ध हैं।

हार—इसका उल्लेख कई जगह मिलता है।[12] यह रत्नजटित या मुक्ता की लड़ियों से युक्त रहता था। हार[13] पुरुषों के द्वारा भी पहना जाता था। स्फटिक माला[14], मुक्तावली[15], कण्ठिका[16], एकावली[17],

---

१. क० स० सा० १७।६।२७ २. वही, ३।४।४६ ३. O. S. Vol IX p 52 n

४. कालिदास कालीन भारत—भागवतशरण उपाध्याय, पृ० २०२

५. हर्षचरित—वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १६८ ६. क० स० सा० १२।७।७८, १७।४।११६

७. हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५५ ८. बृहत्संहिता, ४८।२४

९. क० स० सा० २।४।१९३ १०. वही, १।३६।२१८ ११. वही, १।६।१६७

१२. वही, ६।२।१२४, १०।५।२६ १३. वही, ६।७।२११ १४. क० स० सा० ६।७।२११

१५. वही, १२।८।१६३ १६. क० स० सा० १२।२।१४२ १७. वही, १३।१।४५

कण्ठाभरण[1] आदि कण्ठ के प्रमुख आभूषणों का उल्लेख कथासरित्सागर में किया गया है। कण्ठिका आजकल की मोहन माला है। यह स्वर्ण के दानों से तैयार की जाती थी तथा मध्य में यत्र-तत्र रत्न या मोती भी लगाया जाता था। इसे स्त्री एवं पुरुष दोनों धारण करते थे। कण्ठमाला का प्रचार मध्य-कालीन मूर्तिकला से स्पष्ट है। मध्यकाल में इसका पर्याप्त प्रचार था।

कण्ठा भरण—यह पुरुषों का आभूषण है। स्वर्ण और विद्रुम मणि अथवा स्वर्ण तथा मुक्तामणि द्वारा तैयार किया जाता था। कण्ठाभरण की प्रमुख विशेषता अपने आकार प्रकार से पूरे कण्ठ को अच्छादित कर लेना है।

मुक्तावली—मुक्ताओं की एक लड़ी की माला हीं मौक्तिक हारावली या मुक्तावली है। इसे एकावली भी कहते थे।

कर्णाभूषण—कानों में आभूषण धारण करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। कर्ण छेदन संस्कार द्वारा नर एवं नारी दोनों के कान बचपन में ही छेदे जाते थे। इसमें विभिन्न अलंकार धारण किये जाते थे। पुरुष अधिकतर कुण्डल धारण करते थे।

कर्णाभूषण—मुक्ता जटित कर्णालंकार का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है।[2] कुण्डल नर-नारियों का दूसरा प्रिय कर्णाभूषण था। यह मणि रत्न आदि से जटित रहता था।

कराभूषण—प्राचीन भारत में अंगद, केयूर, वलय, कंगन, अंगुलीयक ये पांच प्रधान कराभूषण प्रचलित थे। इन आभूषणों को स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से व्यवहार करते थे। अन्तर इतना ही था कि पुरुष वर्ग सादे कराभूषण धारण करते थे जबकि स्त्रियों के आभूषण में घुंघरु आदि लगे रहते थे।[3]

अंगद—यह भुजाओं पर धारण किया जानेवाला आभूषण है। स्त्री और पुरुष दोनों ही इसे धारण करते थे।[4] हिंदी में इसे बाजूबन्द कहते हैं। यह स्वर्ण द्वारा निर्मित होता था। यह मध्यकाल का बड़ा ही लोकप्रिय आभूषण विदित होता है। कथासरित्सागर में इसके कई उल्लेख हैं। देवता गन्धर्व आदि के धारण करने का भी निर्देश है।[5] यह अलंकार पुष्पों से भी बनाया जाता था।[6]

केयूर—यह दूसरा प्रसिद्ध कराभूषण था। अंगद के समान यह भी भुजबन्द ही है। अंगद की अपेक्षा यह नुकीला होता है। कथासरित्सागर में इसका वर्णन भी है।[7]

कटक—कराभूषणों में कटक का उल्लेख सबसे अधिक मिलता है। यह कलाई में धारण किया जाता था। यह रत्नमुक्ता आदि से जटित भी रहता था। नर-नारी दोनों ही समानरूप से इसे धारण करते थे।[8] रत्नजटित कटक का उल्लेख भी है जिसमें राजा का नाम भी अंकित कर दिया जाता था।[9] कंकण[10] का उल्लेख भी है।

---

१. वही, ९।४।१०५   २. वही, ४।१।८२ "वणिक् सुतायाः श्रवणात् सन्मुक्ताढ्यं विभूषणम्"

३. आ० पु० भा७, पृ० २१८   ४. वही, पृ० २१८

५. क० स० सा० १२।७।७४ "रोचयानैः समायुक्त चूडामण्यङ्गदादिभिः"

६. वही ६।७।१६६ तन्मनाः स्मरसंतप्ता मृणालांगदहारिणी

७. क० स० सा० ६।७।२११ "अवतारदिव्यरूपो हार केयूरराजितः"   ८. क० स० सा० ५।१।१७७

९. वही, १०।१।९ लब्धं राजकुलद्वारात् सद्रत्नं कटकं मया   १०. वही, १०।५।२६

अंगुलीयक—अंगुलियों में अंगूठी धारण करने की भी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। इसके भी कई प्रसंग कथासरित्सागर में मिलते हैं। यह प्रेमविवाह में उपहार में दिया जाता था। प्रेमी द्वारा प्रदत्त अंगूठी धारण करना प्रेम की निशानी थी। एक स्त्री अपने सौ प्रेमियों से सौ अंगूठी प्राप्त करती है।[1] कुछ अंगूठियाँ रत्नजटित होती थीं। उनका निर्देश भी है।[2]

कटि आभूषण—कटि आभूषणों में मेखला, रशना आदि हैं। ये स्वर्ण रत्न, मुक्ता आदि से समन्वित रहते थे।

मेखला—यह दो प्रकार की बताई गई है। सादी, स्वर्णमय और रत्नजटित। कभी-कभी इनमें घुंघरु भी बंधे होते थे। इसका वर्णन कथासरित्सागर में किया गया है।[3] ध्वनि के लिए कभी-कभी घण्टियों से बनी मेखला पहनी जाती थी।[4]

पादाभूषण—पैरों में भी अनेक प्रकार के सुरुचिपूर्ण आभूषण पहने जाते थे। नृत्य में पादाभूषण अनिवार्य थे। नूपुर की मधुर ध्वनि कामदेव को बुलानेवाली स्तुति मानी गई है। पादाभूषणों में नूपुर प्रमुख है।

नूपुर—आजकल इसे पायल कहते हैं। यह मणिजटित भी बनाया जाता था। कथासरित्सागर में कतिपय उल्लेख मिलते हैं। इसमें घुंघरुओं से ध्वनि होती रहती थी।

नूपुरों से पैरों की शोभा बढ़ जाती थी। कथासरित्सागर में नूपुर व्यापक पादाभूषण के रूप में व्यवहृत हैं। इसके पर्यायवाची रशना, कांची, मेखलादाम, कांचीदाम आदि कहे जाते हैं। यह अलंकार मुख्यतः स्त्रियों द्वारा ही पहना जाता था। नृत्य के अवसर पर इनका विशिष्ट उल्लेख है।



---

१. वही, १०।७।३८ २. वही, १८।४।२९२

३. क० स० सा० १७।६।१६४ "बिभ्राणे जघनाभोगं विपुलं बन्धमेखलम्"

४. वही, २।६।९७ ५. वही, ५।२।१५०

चतुर्थ परिच्छेद

प्रसाधन-सामग्री

वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिये अन्य प्रसाधन उपयोग में लाये जाते थे। सुगन्धित चूर्ण, कुंकुम, केशर, अंगराग आदि का विलेपन त्वचा की म्रदिमा एवं आकर्षक रूप के लिए प्राचीन समय से ही किया जाता था। कथासरित्सागर में प्राप्त प्रसाधन सामग्री कोसुविधा के लिए निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

केशरचना सम्बन्धी सामग्री, मुखसौन्दर्य प्रसाधन सामग्री, अन्य प्रसाधन सामग्री।

स्त्रीपुरुष, दोनों ही अपने बालों को सजाया करते थे। स्त्रियाँ केशरचना में विशेष निपुण होती थीं। कथासरित्सागर में दो प्रकार के केशबन्धन का उल्लेख है।

कबरी—विशेष केशरचना का नाम कबरी है। यह वेणी के आकार में लम्बी गूंथी जाती थी। कथासरित्सागर में पीठ तक लम्बी फैली कबरी का उल्लेख किया गया है।[1] बालों की लम्बाई उनका सौन्दर्य माना जाता है। अमरकोष के अनुसार केशविशेष का नाम कबरी है।[2]

धम्मिल—धम्मिल्ल भी केशरचना का एक प्रकार हैं।[3] कथासरित्सागर में इसका उल्लेख है।[4] इसे जूड़े के समान बांधा जाता था। इसमें मुक्ता और पुष्पादि भी लगाये जाते थे। सौन्दर्य के लिए जूड़ा बाँधना एक कला थी। वियोगावस्था में केशविन्यास प्रतिपिद्ध था। वे केवल एक वेणी रखती थीं।[5] बाल का गुण काला एवं लम्बा होना बताया गया है। सुन्दर बालों की उपमा सर्प से दी गई है।[6]

अलक—अमरकोष में अलक का स्वरूप चूर्ण कुन्तल बताया गया है।[7]

कालागुरु—केशों को सुगन्धित करने के लिए कालागुरु की धूप तैयार की जाती थी, जिसके धूम से केशों को सुगन्धित और स्निग्ध बनाया जाता था। यह सुगन्धित धूप बालों को सुवासित करता था। इससे कमरे को भी सुगन्धित किया जाता था।[8] केशों में पुष्पमाला धारण करने की प्रथा थी।[9]

मुख सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री—गोरोचन और कुंकुम से अनेक प्रकार की पत्र-रचना मुख पर की जाती थी। यह पत्ररचना स्त्रीपुरुष दोनों ही करते थे।

तिलक—माथे पर लगाया गया तिलक मुख सौन्दर्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्त्रीपुरुष दोनों ही तिलक का व्यवहार करते थे। केशर आदि सुगन्धित पदार्थ इसमें मिलाया जाता था। स्त्रियाँ लाल रंग का तिलक लगाती थीं। यह सुख-सौभाग्य का प्रतीक था। कथासरित्सागर में तिलक लगाकर

---

१. क० स० सा० १३।१।९४ "वहन्तीं कबरीपाशं पृष्ठतः परिमोचितम्"

२. अमरकोष २।६।९७ "कबरी केशविशेषोऽथ।"

३. अमर—२।६।९७ "धम्मिल्लः संयताः कचाः" ४. क० स० सा० १३।१।८८

५. वही, १४।२।११३ ६. वही, १७।५।१६५ ७. अमर—२।६।९७

८. क० स० सा० १८।३।१७ ९. वही, १८।३।१९

सौन्दर्य वृद्धि का वर्णन है।[1]

पत्ररचना—स्त्री पुरुष दोनों ही मुख पर पत्ररचना किया करते थे। यह गोरोचन और कुंकुम से की जाती थी। राजा सातवाहन के छींटों से नायिकाओं के तिलक पत्र धुल गये[2]।

अंजन—विश्व के अधिकांश देशों में अंजन लगाने की प्रथा चलती रही है।[3] अजन्ता के भित्ति चित्रों एवं विभिन्न चित्र शैलियों में नेत्र सौन्दर्य की वृद्धि के लिये, इनका उपयोग स्पष्ट परिलक्षित है। आँखों की लम्बाई कान तक बढ़ाकर उन्हें सौन्दर्यपूर्ण बनाया गया है। अंजन का उपयोग नेत्रों की लम्बाई बढ़ाने एवं आकर्षक बनाने के लिये किया गया है।[4]

विरह की दशा में अंजन लगाना वर्जित था। अंजन शलाकाओं द्वारा लगाया जाता था। काजल, अंजन, सुरमा आदि इसके कई भेद है। विवाह आदि में नजर लगने से बचाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता रहा है।[5] कथासरित्सागर[6] में इसका उल्लेख है।

स्नानानुलेपन—शरीर की स्वच्छता के लिये स्नानानुलेपन नित्य कर्म का आवश्यक कृत्य था। उबटन एवं स्नान के द्वारा पहले शरीर को निर्मल एवं स्वच्छ किया जाता था। तदनन्तर अंगरागादि का लेप एवं वस्त्राभूषण धारण किये जाते थे। तत्कालीन सौन्दर्य प्रसाधनों के उपयोग से जनरुचि की विवेचकता का पता चलता है। ये सभी उपभोग्य पदार्थ उनकी परिष्कृत अभिरुचि के सूचक हैं।

कथासरित्सागर में स्नानानुलेपन के अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं। कपूर, अंगराग, चन्दन, इत्र, कस्तूरिका आदि प्रसिद्ध लेप थे। गुणशर्मा, अग्निदत्त का उबटन, पालिश, भोजन आदि से सम्मान करता है।[7] इसी प्रकार मदनमंजरी, अनंगदेव का स्वागत करती है[8]—स्नान के पूर्व तैलमर्दन किया जाता था। दासियों के द्वारा शशी तेल मर्दन कराता है।[9]

कर्पूर—कर्पूर का उपयोग कई प्रकार से किया जाता था। चन्दन मिलाकर शरीर पर लेप बड़ा ही प्रिय कार्य था। कर्पूर ताम्बूल के पाँच फलों में से भी एक है। कथासरित्सागर[10] में कर्पूर के विविध प्रयोगों का उल्लेख है।

चन्दन—शीतकाल को छोड़कर स्त्री-पुरुष विविध अन्य वस्तुओं से मिश्रित चन्दन का लेप शरीर पर किया करते थे। इसके उपभोग की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है। कथासरित्सागर में इसके कई प्रयोग उपलब्ध हैं। ताप शमन के लिए, त्वचा को शीतल एवं सुगन्धित बनाने के लिए तिलक के रूप में इसका अधिक प्रयोग किया जाता था। जल में मिलाकर जमीन पर छींटा जाता था।[11] ब्रह्मा ने चन्दन की उत्पत्ति अपना निर्माण कौशल दिखाने के लिए की है।[12] चन्दन वृक्ष राजाओं की निधियों में से एक है।[13]

---

१. क० स० सा० ८।१।२३४ २. क० स० सा० १।६।११२
३. O.S. Vol I, Page 211. ४. O. S. Vol. I, Page 211
५. O. S. Vol. I, P. 214 ६. क० स० सा० १।४।४७ ७. वही, ८।६।२०२
८. वही, १८।१।१३३ ९. वही, १८।५।१८२ १०. वही, १।४।४७
११. क० स० सा० १२।२८।१७ १२. वही, १४।२।१० १३. वही, १४।४।१९८

कर्पूर—कर्पूर का उपयोग कई तरह से किया जाता था। चन्दन में मिलाकर शरीर का लेप तैयार किया जाता था। यह ताम्बूल के पंचफलों में से एक है। कथासरित्सागर में इसके कई उल्लेख हैं। कर्पूर की अधिकता से ही, लगता है कर्पूर द्वीप नाम पड़ा था जिसकी चर्चा कथासरित्सागर में की गई है। कर्पूर सम्भव द्वीप में कर्पूरक राजा की पुत्री कर्पूरिका है।[1]

अंगराग—केशर, कर्पूर, कालागुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर अंगराग का लेप तैयार किया जाता था। इसमें मुख्य कुंकुम है। कथासरित्सागर में कतिपय स्थलों पर इसका उल्लेख है। वीरवर अंगराग खरीदता है।[2] नायिकाओं के अंगराग से तालाब पीला हो गया।[3]

वासक—सुगन्धित द्रव्यों के समान नाना प्रकार के सुगन्धित चूर्णों का भी उपयोग किया जाता था। आधुनिक पाउडर की जगह प्राचीन समय में विभिन्न सुगन्धित चूर्णों का उपयोग किया जाता था, जिसे वासक कहते थे। कथासरित्सागर में भी वासक का उल्लेख है।[4]

आलक्तक—आलक्तक मुख्यतः पैरों में लगाया जाने वाला आधुनिक महावर है। इसे लाक्षारस भी कहते हैं।[5]

अंगुलियों के रंगने वाले आधुनिक नाखूनपालिश को आलक्तक ही कहा जाता था।[6] यह मध्य-काल में सार्वजनिक उपयोग में लाया जाता था।[7]

पुष्पाभरण—धातु के अतिरिक्त कुछ पुष्प भी प्रसाधन के लिए उपयोग में लाये जाते थे। इनमें प्रधान कर्णोत्पल है। इसकी विशेष चर्चा कथासरित्सागर में हुई है। यह भी आभूषण के रूप में धारण किया जाता था। ऋतु के अनुरूप पुष्प मालायें धारण करने की प्रथा प्रचलित थी। माला पुरुष भी धारण करते थे। कर्णोत्पल आदि केवल स्त्रियाँ धारण करती थीं।[8]

कर्णोत्पल का[9] उल्लेख इसकी लोक प्रियता सिद्ध करता है। बालों में, कानों पर एवं हाथों में कंगन के रूप में पुष्पाभरण का प्रयोग किया जाता था।

सिन्दूर—स्त्रियों के सुख सौभाग्य का प्रतीक सिन्दूर भी उपभोग्य पदार्थ था। उत्सव में समुची नगरी सिन्दूर के समान लाल हो गई।[10] अपने-अपने रूपरंग के अनुसार शृंगार किया जाता था।[11]

अन्य सामग्री—आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार विभिन्न वस्तुओं का उपभोग किया जाता था। यदि राजमहलों में रत्नों की पलंग, रत्न के प्रदीप, छत्र, चमर, आदि बहुमूल्य वस्तुएँ थीं तो साधारण गृहस्थ के यहाँ भी कम से कम घड़ा, झाड़ू, चारपाई अवश्य थी। उसी प्रकार तपस्वी की कुटिया में कुश, भिक्षापात्र और मृग चर्म था।

निंगमंजरी के भवन में विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य मणियों का प्रकाश फैल रहा था। रत्न प्रदीप

---

१. वही, ७८।१६-१७ २. क० स० सा० १२।११।१७ ३. वही, १३।१।८९ ४. वही, २२।२५।३९
५. शाकुन्तलम्—निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुलभः लाक्षारसः केनचित् ६. क० स० सा० १२।८।१११,
७. वही, १।३।७१ ८. वही, १८।२।१३६ ९. वही, १३।१।९३
१०. वही, ३।४।१२२ ११. वही, १८।२।१०६

प्रज्वलित थे। मूल्यवान् पर्यंक पर शुभ्र चादर बिछी थी।[1] इसी प्रकार रत्न पर्यंकपर सोई हुई स्त्री को शक्ति देव देखता है।[2] हरि शर्मा ब्राह्मण स्वर्ण छत्र से सम्मानित किया जाता है।[3] एक साधारण गृहस्थ के यहाँ घड़ा, झाड़, चारपाई रखी है।[4] इसी तरह एक तपस्वी की कुटिया में, मिट्टी, भिक्षा पात्र, मृगचर्म आदि रखे हैं।[5] सुखशय्या[6], खट्वा[7], चित्रपट[8], छड़ी[9], पुस्तिका[10], वल्गुलिका[11] (चित्र रखने की थैली) मंजूषा[12], करण्डिका[13] (डोलची) (बिछावन की चादर), पटच्छद[14] आदि वस्तुओं का उल्लेख भी है।



१. क० स० सा० १३।६।३३८-३९० २. वही, ५।३।७८ ३. वही, ६।५।१३७ ४. वही, ६।१।९१
५. वही, ५।१।९२ ६. वही, १८।३।१८ ७. वही, १८।५।१३ ८. वही, १२।३४।७४
९. वही, १४।४।२ १०. वही, १२।९।२४ ११. वही, ९।५।७९ १२ वही, ३।१।३४
१३. वही, ६।३।१० १४. वही, १२।६।३३६

पञ्चम परिच्छेद

वाहन

मनुष्य अपनी सुविधा के लिए वाहनों का उपयोग आदिम युग से ही करता आ रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ पशुओं से लेकर यन्त्र चालित यानों तक क्रमशः वाहन की क्षमता में वृद्धि होती चली आ रही है। मनुष्य की शारीरिक शक्ति सीमित है किन्तु बौद्धिक शक्ति अगम्य। दुर्धर्ष गजराज भी अल्प प्राण मनुष्य के इशारे पर नाचता है। सामाजिक सम्पन्नता के अनुरूप ही वाहनों में भी अन्तर रहा है। राज परिवार, सामन्त, श्रेष्ठि गण, विशेष प्रकार के वाहनों का प्रयोग करते थे। हाथी, रथ, यानादि वाहन सबको सुलभ न थे।

मध्यकालीन लेखक सोमेश्वर ने मानसोल्लास में नौ प्रकार के वाहनों का उल्लेख किया है। वे है—दोला, सुखासन, हस्तियानकरिणी, अश्वतरी, हययान, रथ, नौयान एवं प्लवक।[1]

कथासरित्सागर में भी उपर्युक्त सभी प्रकार के यानों का वर्णन मिलता है। अश्व एवं गज सबसे अधिक लोकप्रिय वाहन थे। साहसी नाविकों द्वारा सामुद्रिक यात्राओं का सिलसिला निरन्तर चल रहा था। अतः जलयानों की चर्चा कम नहीं। विद्याधर तो तीव्रगामी यन्त्र चालित विमानों से ही दूर की यात्रा क्षण में पूरी कर लेते थे।

अश्व—अश्व सबसे प्रिय तीव्रगामी वाहन था। सामान्य यात्रा हो या युद्ध सर्वत्र इनका महत्त्व समान था।[2] चक्रवर्ती के सप्तरत्नों में अश्व भी सम्मिलित है।[3] कथासरित्सागर में विभिन्न अश्वों का सविस्तार उल्लेख है। राजा आदित्यसेन तीव्रगामी श्री वृक्षक नामक घोड़े पर चढ़कर चढ़ाई करने जाता है। जिस तरह यत्न से फेंका बाण वेग से जाता है, उसी प्रकार राजा की जाँघों से प्रेरित वह घोड़ा तीर के समान उड़ चला और लोगों की आँखों से ओझल हो गया।[4] वह राजा रास्ता भूल कर गहन वन में चला जाता है। राजा घोड़े से प्रार्थना करता है, तुम घोड़े नहीं वास्तव में देवता हो। तुम्हारे जैसे उच्च जाति के घोड़े स्वामी द्रोह नहीं करते। इसलिये मुझे कल्याण मार्ग से ले चलो। तदनुसार घोड़ा उसे ठीक रास्ते पर ले आता है।[5] उच्च कुलीन घोड़े सचमुच बुद्धि में देवता ही होते हैं।[6] कथासरित्सागर में तुरंग[7], हय[8], अश्व[9] आदि कई नामों से इन्हें सम्बोधित किया गया है। पीठ पर कसी जानेवाली जीन को पर्याण कहा जाता था। राजा शक्ति देव घोड़ा देखता है जिसकी जीन अर्थात् पर्याण[10] सोने एवं रत्न की बनी हुई थी। घुड़सवार सैनिकों द्वारा उड़ाई गई धूल से अन्धेरा सा छा जाता है। युद्ध में अश्वबल

---

१. मानसोल्लास—३।१६।१६३९ २. महावस्तु जातक पृ० १०८ (सेनर्ट द्वारा सम्पादित)

३. मान० ३।१६।१६३९ "दोला सुखासनं हस्ती करिण्यश्वतरी हयः, रथो नौ प्लवकश्चेति नवधा यानमुच्यते"

४ क० स० सा० सा० २।४।८५-९२ ५. वही, ३.४।९८-९९

६. वही, ३।४।१०० "बुद्धो दैवतं हि ह्योत्तमः" ७. वही, १४।४।५५ ८. वही, ३।४।१००

९. वही, १५।४।५६ १०. वही, ५।३।८५ "रत्नपर्याणम्"

का अधिक उल्लेख है।[1] रथ में कई घोड़े एक साथ जोते जाते थे। पौराणिक अश्वों की चर्चा भी की गई है। अश्वमेध यज्ञ में घोड़ा छोड़ा जाता था। सूर्य को सप्ताश्व कहा गया है।

अश्वों को विभिन्न प्रकार से शिक्षित किया जाता था। उन्हें केवल चाल ही नहीं, अपितु पीछे के पैरों पर खड़े होकर आगे के पैरों द्वारा शत्रु के मुकुट का अपहरण करना, शत्रु के अश्व को घायल करना, शत्रु के अश्व को रणभूमि से भगा देना, आदि की शिक्षा भी दी जाती थी।[2] नकुलाश्व शास्त्र में इनके आस्कन्दित, धौरितिक, रेचित, वल्गित, प्लुत आदि विभिन्न चालों का वर्णन किया गया है। सम्पन्न अग्नि दत्त के पास गये, भैंस एवं घोड़े भी हैं।[3]

गजवाहन—राजाओं का प्रमुख वाहन गज महत्त्व एवं उपयोगिता की दृष्टि से सर्वोत्तम है। इसे पूर्णतः प्रशिक्षित किया जाता था। कथासरित्सागर में आद्यन्त गज का महत्त्व-वर्णित है। गजबल के अभाव में राजा अपनी सैन्य शक्ति क्षीण मानते थे।[4] राजा उदयन हस्ति-विद्या विशेषज्ञ हैं। वे हाथियों को पकड़ने की कला में निपुण हैं। विशाल हाथी की उपमा विन्ध्य पर्वत से दी गई है।[5] महावत को हस्तिपाल[6] एवं हस्तिपक[7] कहा जाता था। कथासरित्सागर में जिन जाति के गजों का उल्लेख है वे हैं, द्विप[8], मातंग[9], कुन्जर[10], दन्ती[11], द्विरद[12], करी[13], नाग[14], गजेन्द्र[15] वन्यहस्ती[16], वारण[17], मत्तद्विप[18], करेणु[19]।

कौटिलीयअर्थशास्त्र[20] में कार्य भेद से हाथियों के चार वर्ग वताये गये हैं। दम्य (शिक्षा देने योग्य) सान्नाह्य (युद्ध के योग्य) औपवाह्य (सवारी के योग्य) और व्याल (घातक वृत्तिवाला)

पुनः दम्य हाथी पाँच प्रकार का होता है। स्कंधगत, स्तम्भगत, वारिगत, अवपात गत और यूथगत।

इसी प्रकार सन्नाह्य हाथी के सात प्रकार हैं—उपस्थान-संवर्तन-सेयान-वधावध-हस्ति युद्ध—नगरायण तथा सांग्रामिक। औपवाह्य हाथी के भी आठ प्रकार हैं। आचरण-कुञ्जरोपवाह्य-धोरण-आधान-गतिक-यष्ट्युपवाथ्य-तोत्रोपवाथ्य-शुद्धोपवाथ्य मार्गायुक। गजवैद्य, गजशिक्षक, गजारोही, गजरक्षक, नहलाने वाला, खाना वनाने वाला, चारा देने वाला, वाँधने वाला, गजशाला कारभक और हाथी को सोने का प्रवंध करने वाला, आदि कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। द्विप हाथियों की वह जाति है, जो आसाम के जंगलों में निवास करती थी जिसे पकड़ने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता था। मातंग गज की वह जाति है जो मदन से उद्दीप्त होकर उन्मत्त अवस्था को प्राप्त होता है। "मातंग चलने में भी तेज होते थे। युद्ध के अवसर पर मातंगों का प्रयोग किले को ध्वंस करने तथा सेना को छिन्न-भिन्न करने में किया जाता था। सवसे सवल जाति मातंगों की है। उन्हें प्रचण्ड कार्य के लिए शिक्षित किया

---

१. ६।१।१५०   २. आ० पुं० भा०, पृ० २३२   ३. क० स० सा० ८।६।२० ऋद्धिमत् गुणशर्माणं वहुगोमहिषी हयम्
४. वही, १२।२।७३   ५. वही, २।४।८   ६. वही, १२।२।५६   ७. वही, १२।२।३२
८. वही, १२।७।३०९   ९. वही, ३।७।६   १०. वही, ३।५।६३   ११. वही, १२।२।५०
१२. वही, ७।९।६३   १३. वही, ६।१।१६९   १४. वही, २।४।१०   १५. वही, २।४।१०
१६. वही, १२।७।३०७   १७. वही, १६।२।९४   १८. वही, १२।५।७   १९ वही, २।५।२९
२०. कौ० अ०, पृ० २८७-२८८

जाता था।"[1] कुंजर भी मदोन्मत्त हाथी को कहा जाता है। पर कुंजर और मातंग में अन्तर यह है कि उग्र और प्रचण्ड कार्य करने के लिए मातंगों का प्रयोग सर्व प्रथम होता है और कुंजरों का इसके बाद। कुंजर राजसवारी के लिए प्रयुक्त होते हैं, किन्तु मातंग का व्यवहार सैनिक करते हैं। कुंजर मदस्रावी होने पर भी वश्य है, पर मातंग अंकुश द्वारा भी वश्य नहीं होता। कुंजर का शुण्डादण्ड मातंग की अपेक्षा लम्बा होता है। कुंजर प्रायः श्वेत वर्ण के होते थे। मातंगों का वर्ण कृष्ण ही माना गया है, श्वेत नहीं, पर कुंजर श्वेत और कृष्ण दोनों ही वर्ण के पाये जाते हैं।[2], दन्ती सामान्यतः उस हाथी के लिए प्रयुक्त होता था, जिसकी अवस्था बीस वर्ष से अधिक होती थी। जब गज के दांत निकल आते हैं, तो बाहर से स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं, उस समय सामान्यतः किसी भी हाथी को दन्ती कहा जाता है। दन्ती की सवारी आखेट के अवसर पर राजा विशेष रूप से करते थे। करी उत्तम श्रेणी का हाथी है। पालतू हाथियों की श्रेणी में यह सबसे अधिक उपयोगी माना जाता है। इस श्रेणी का उन्नत और श्रेष्ठ हाथी करीन्द्र कहा जाता था। नाग जाति का हाथी तेज, समझदार और फुर्तीला होता है। जलक्रीड़ा इसे बहुत पसन्द है। यह सामान्यतः युद्ध के काम में लाया जाता है।[3] हाथियों से प्राप्त होने वाली गजमुक्ता बहुमूल्य मानी जाती है।[4]

शिविका—भारत की प्राचीन सवारियों में शिविका भी एक है। राजा महाराजा या विशिष्ट व्यक्ति इसका उपयोग करते थे। विवाहिता नव-वधू के लिए इस सवारी का विशेष प्रयोग किया जाता रहा है। इसे ढोने के लिए चार कहार होते हैं। कथासरित्सागर[5] में इसके कई उल्लेख मिलते हैं। यह क्षौम दुकूल आदि वस्त्रों से अच्छी तरह सजाया जाता था।

शकट—शकट जनसाधारण की सवारी है। यह बैलगाड़ी का पुराना संस्करण है। आजकल इसे सगड़ कहते हैं। सगड़ एक प्रकार का ठेला है, जिसे मनुष्य भी खींचते हैं और बैल भी। प्राचीन शकट में बैल ही जोते जाते थे।[6] कथासरित्सागर में इसे भारवोढ़ा कहा गया है।[7]

रथ—रथ का प्रयोग सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त परिवारों में ही होता था। रथ में घोड़े और बैल दोनों ही जोते जाते थे। मध्यम वित्त के व्यक्ति रथों में बैल ही जोतते थे। रथ की बनावट सुन्दर और शीत आतप से रक्षा करने वाली होती थी। ऊपर एक टपर रहता था और चारों ओर परदे लगे रहते थे। रथ का मध्य भाग चौकोर एवं गोल होता था। इसमें चार पहिये रहते थे। युद्ध में रथ सेना अलग ही रहती थी। कथासरित्सागर[8] में रथ के बहुत से प्रयोग उपलब्ध हैं। सबसे ऊपर राजा का झण्डा लगा रहता था।

वहन—इसे जलयान भी कहा जाता था। कथासरित्सागर के समय सामुद्रिक यात्रायें बहुत बढ़ गई थीं। साहसी नाविक एवं व्यापारी सुदूर देशों में जलयानों द्वारा जाकर अर्थोपार्जन किया करते

---

१. आ० भा०, पृ० २३४ २. आधु० भा०, पृ० २३५ ३. वही, पृ० २३६ ४. क० स० सा० ८।२।७६

५. वही, १३।१।१५९ आरोह्य शिविकां तैश्च नृत्यवाद्यमदाकुलैः', वही, १२।२१।४१

६. आ० प्र० भा०, पृ० २३७ ७. क० स० सा० भारवोढ़ा युगे कर्षन् भरेण युगभंगतः १०।४।१२

८. क० स० सा० ८।१०, २।३।४५

थे। अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी वे हिम्मत नहीं हारते थे। इन जलयानों का विस्तृत विवरण कथासरित्सागर[1] में उपलब्ध है। इन्हें पाल की सहायता से चलाया जाता था।[2] इन्हें जलयान[3], प्रवहण[4], वहन[5] आदि नामों से अभिहित किया गया है।

विमान—कई प्रकार के विमानों का उल्लेख कथासरित्सागर में उपलब्ध है। देवता, विद्याधर आदि की विमान यात्राओं का सविस्तार उल्लेख है।[6] यन्त्र निर्मित वायुयान द्वारा सोमप्रभा, कलिंग सेना को ले जाती है।[7] इन्हें वातयन्त्र का विमान कहा गया है।[8] एक विमान में एक हजार यात्री तक बैठ सकते थे। प्राणधर बढ़ई द्वारा विशाल यान हजार यात्री ढो सकता है।[9] उसका मायामय यन्त्रों वाला विमान एक बार चाभी देने पर बत्तीस कोस जाता है।[10] नरवाहन दत्त वायुयान द्वारा कर्पूरसम्भव द्वीप पहुँचता है।[11] भूतासन विमान[12], महापद्म विमान[13] आदि कई नाम से इन्हें अभिहित किया गया है। युद्ध में यान द्वारा हाथियों के ढोये जाने का भी उल्लेख है। आनाययन्गजानीकं एवं विमानाधिरोपितम्"[14]।

कर्णिरथ—यह बन्द डोली थी। रानियों के लिए बनाया गया यह विशेष प्रकार का रथ था, जो चारों तरफ से बन्द कर दिया जाता था। रघुवंश में भी इसका उल्लेख है।[15] कथासरित्सागर में भी इसके कई उल्लेख मिलते हैं।[16]

सुखवाहन—इसकी चर्चा सोमेश्वर के मानसोल्लास में भी है। हाथी दांत से बना हुआ, सुवर्ण तथा रत्नादि से विभूषित शार्दूलचर्म से आच्छादित दो दण्डिकाओं से युक्त हंसशय्या से समन्वित चार व्यक्तियों के चढ़ने योग्य आसन, सुखासन कहा जाता है।[17] कथासरित्सागर में भी इसकी चर्चा है।[18]



---

१. वही, ९।१।१२९, १८।२।१०४ २. वही, १२।३४।१७४ "ततो मुक्ते प्रवहणे चलवातपटध्वजे"।
३. वही, ९।१।१२९ ४. वही, १८।२।१०४ ५. वही, १२।१४।७०
६. क० स० सा० १।७।६१ ७. वही, ६।३।४९ ८. वही, ७।९।४४ ९. वही, ७।९।२२८
१०. वही, ७।९।३८ ११. वही, ७।९।२३६ १२. वही, ८।१।३६ १३. वही, ८।३।१२३
१४. वही, ८।४।३९ १५. रघु० १४।१३ कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
१६. क० स० सा० ६।१।१६८ वही, १८।१।११८ कर्णीरथावतीर्णा च तत्रोचितसरोरुहा।
१७. मानसोल्लासः एक अध्ययन, पृ० ३०३ १८. क० स० सा० ३।२।९१

षष्ठ परिच्छेद

क्रीड़ा-विनोद

जीवन में भोजन एवं वस्त्र के समान ही मनोरंजन भी आवश्यक है। निरन्तर विभिन्न दुश्चिंताओं से पीड़ित मनुष्य, मनोरंजन द्वारा कुछ देर उनसे मुक्ति पा लेता है। आकांक्षाओं की पूर्ति में यावज्जीवन लगा हुआ वह मानसिक तनावों से घिर जाता है। एकरसता से उसकी कार्यक्षमता एवं कुशलता घटती जाती है। विश्राम एवं मनोविनोद उसके इन तनावों को दूर कर नवीन उत्साह एवं शक्ति का संचार करते हैं। पुनः वह अपनी मानसिक शक्तियों को बटोर कर पूरी तन्मयता से जीवन संग्राम में प्रवृत्त होता है। भारतीय मनीषी इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे। अनादि काल से ही नृत्य, गीत, कथा आदि के द्वारा मनोरंजन की प्रथा रही है। मनोरंजन समाज की सुख समृद्धि का सूचक है। बौद्धिक उच्चता एवं आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार मनोरंजन में भी विविधता होती है। किन्तु हर वर्ग के लोग अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार इसमें प्रवृत्त रहे हैं। आमोद-प्रमोद में सभी की अभिरुचि होती है। कथासरित्सागर में उन्नत समाज के विभिन्न मनोरंजनों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। मनोरंजन की अधिकता विलासिता है, अल्पता जीवन की अनिवार्य आवश्यकता। कथासरित्सागर में राजाओं की संख्या अधिक होने से उन्हीं के मनोरंजन का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। राजा नृत्य, गीत, वाद्य, पान, कथावार्ता, मृगया, जलविहार आदि के द्वारा तथा विद्वान् शास्त्रार्थ एवं काव्यविनोद के द्वारा मनोरंजन करते थे।

किसी की रुचि मल्ल क्रिया में है तो कोई शस्त्र कला से ही मनोविनोद करता है। देवता से लेकर साधारण मनुष्य तक सभी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार मनोरंजन के साधन ढूंढ लेते हैं। रूपवती विलासिनी स्त्रियों के दिव्य रत्नाभूषण वस्त्र माल्य एवं चन्दन विलेपन हास्यव्यंग्य द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोरंजन का सृजन किया गया है। नृत्य, गीत, वाद्य द्वारा तो आनन्दानुभूति की ही जाती थी, विभिन्न प्रकार के खेलों द्वारा भी मनोरंजन किया जाता था। राजाओं के यहाँ मनोविनोद के लिए विदूषक रहा करता था। उसे नर्मसचिव कहा जाता था। राजा उदयन का नर्मसखा वसन्तक है तो नरवाहनदत्त का तपन्तक।[1] राजाओं के मनोरंजन में नृत्य, गीत, वाद्य आदि की प्रधानता रही है। बार-बार उनके मनोरंजन के लिए किये जाने वाले नृत्य गीतादि का उल्लेख कथासरित्सागर में है।[2] राजात्रिविक्रम सेन स्नान, पूजन, नृत्यगीत वाद्य आदि से सारा दिन मनोरंजन करता है। इसी प्रकार राजा वीरभट पान, गान आदि से मनोरंजन करता है।[3]

ऋतु के अनुरूप क्रीड़ा विनोद :

ऋतुओं के अनुसार मनोविनोद के साधनों में भी भिन्नता रहती थी। यदि ग्रीष्म में धारा यन्त्र गृहों में जलक्रीड़ा की जाती थी, उद्यानक्रीड़ा की जाती थी तो वर्षाकाल में अन्तःपुर में बैठकर संगीत का

---

१. क० स० सा० ६।८.११४ २. वही, १२।३२।४० ३ वही, ८।१।८१

आनन्द लिया जाता था। शरद ऋतु में चांदनी रात में ऊँचे राजभवन की खुली छत पर बैठकर पानादि द्वारा मनोरंजन होता था, तो हेमन्त ऋतु में कालागुरु से सुगन्धित कमरे में विश्राम किया जाता था।[1]

योषिद् भोग :

स्नान, विलेपन, मालाधारण किये हुए राजा बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण कर योषिद भोग किया करते थे। वात्स्यायन का नागरक भी वेश्याओं के यहाँ गोष्ठी समवाय में भाग लेता था। विद्या और कला में कुशल गणिकायें गोष्ठी समवाय में अनिवार्य रूप से भाग लिया करती थीं। पुरुषों की भाँति विविध प्रकार की काव्यसमस्याओं, मानसी, काव्यक्रिया, पुस्तक वाचन, दुर्वाचक भोग, देश भाषा विज्ञान, द्वन्द्व, नाटक आख्यान आदि बौद्धिक कलाओं में भाग लेती थीं। साथ ही नृत्य, गीत, रसालाप द्वारा सभ्यों का मनोविनोद किया करती थीं।[2] सोमेश्वर ने भी मानसोल्लास में योषिद्भोग की चर्चा की है। गुणों के अनुसार स्त्रियों की श्रेष्ठता का विचार किया गया है। सभी स्त्रियों में रूपवती स्त्री श्रेष्ठ है, रूपवती में यौवनपूर्ण, यौवनवती में गीतज्ञा और गीतज्ञा स्त्रियों में नर्तकी श्रेष्ठ है।[3] कथासरित्सागर में भी सुन्दरी स्त्री की प्रशंसा की गई है। "कान्ताचद्रोदयो वीणा पंचमोध्वनिरित्यमी"।[4]

युद्ध में अपने प्रियजनों की मृत्यु से दुखी राजा सूर्यप्रभा सो जाते हैं। उनकी रानियां आपस में बातें करती हुई कहती हैं। आज राजपुत्र अकेले कैसे सो गये ? दूसरी कहती हैं दुखी हैं इसलिए। तीसरी कहती है "यदि आज ही उन्हें नवीन सुन्दरी कन्या मिल जाती तो वे सारे स्वजनों का दुःख भूल जाते। उनमें से एक पूछती है राजा लोग भी लम्पट क्यों होते हैं ? दूसरी उत्तर देती है—देश, रूप, अवस्था चेष्टा विज्ञान आदि के भेद से अच्छी स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न गुणों वाली होती हैं। एक ही स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नहीं हुआ करती। कर्णाट, लाट, सौराष्ट्र, मध्यप्रदेश आदि की स्त्रियाँ अपनी-अपनी विशेषताओं से पति का मनोरंजन करती हैं।[5]

कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ शरत्कालीन चन्द्रमा के समान मुख से मनहरण करती हैं, कुछ सोने के घड़ों के समान उठे और घने स्तनों से चित्तरंजन करती हैं, कुछ स्त्रियाँ काम के सिंहासन के समान जघनस्थल से आकृष्ट करती हैं और कुछ दूसरे-दूसरे सौन्दर्य से तथा आकर्षक अंगों से मन हरण करती हैं।[6]

कुछ तपे हुए स्वर्ण के समान वर्णवाली होती हैं, कुछ प्रियंगु पुष्प के समान सांवले वर्ण की होती हैं और कुछ ललाई लिये हुए गौरवर्ण की होती हैं, जो देखते ही मन को मोहित कर लेती हैं। कुछ नई अवस्था के कारण सुन्दर होती हैं, तो कुछ यौवन के पूर्ण विकसित होने पर मनोरम हो जाती हैं। कुछ स्त्रियाँ प्रौढ़ता के कारण सरल होती हैं और कुछ अपने हावभाव विलास से अपने सौन्दर्य की छंटा दिखाती

---

१. क० स० सा० १८।२।१७–१९ २. कौ० अ० पृ० १२६

३. मानसोल्लास, ३।२०।१७।१६–१७ स्त्रीणां रूपवती श्रेष्ठा सुरूपासु सयौवना। सयौवनासु गीतज्ञा गीतज्ञास्वपि नर्तकी। उत्तरोत्तरमेतासु श्रेष्ठं पूर्वगुणै सह।

४. क० स० सा० ८।६।२१५ ५. वही, ८।४।१०५

६. वही, ८।४।१०६–१०८ कर्णाटलाटसौराष्ट्रमध्यदेशादि देशजा, योषादेशसमाचारै रंजयन्ति निजैः निजैः। काश्चित् हरन्ति मुदृशः शारदेन्दुनिभैर्मुखैः, अन्याः कनककुम्भाभैः स्तनै रुन्नतसंहतैः, स्मरसिंहासनप्रख्यैरपरा जघनस्थलैः, इतराश्चेतरंभैः स्वसौन्दर्यमनोरमैः।

हैं।[1] कोई हंसती हुई प्यारी लगती है, कोई क्रुद्ध होने पर मनोहर लगती है। कोई गजगामिनी होती है और कोई हंसगामिनी होने के कारण अच्छी लगती है। कोई नाचने में निपुण होती है, तो कोई गाने में कुशल होती है। कोई वाद्य कला में पारंगत होने के कारण संग्राह्य होती हैं। कोई स्त्री बाहरी रतिविलास में दक्ष होती है, तो कोई अन्तरंग रतिविलास में चतुर होती है। कोई श्रृंगार करने में निपुण होती है तो कोई बात करने में चतुर। कोई पति के चित्त को वश में करके सौभाग्य प्राप्त करती है। इस तरह भिन्न-भिन्न स्त्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। इन सब गुणों में से किसी में कोई और किसी में कोई अपना विशिष्ट गुण होता है। किन्तु तीनों लोकों में भी कोई स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नहीं मिलती। इसलिए भिन्न रसों के लोभी राजा सदा नई-नई स्त्रियों पर आसक्त होते हैं। रूपगुण के अनुसार स्त्रियों की भिन्नता का बड़ा ही यथार्थ वर्णन कथासरित्सागर में प्रस्तुत किया गया है। राजा नरवाहनदत्त के मनोरंजन के लिए राजा कर्पूरक ने पुत्री कर्पूरिका के साथ तीन सौ सुन्दरी दासियां दहेज में दीं।[2]

शस्त्र-विनोद :

शस्त्र संचालन कर विनोद करना भी प्राचीन कला है। राजा शस्त्र एवं शास्त्र दोनों विद्याओं में निपुण होता था। इसे करण प्रयोग कहा गया है। राजा महासेन के आक्रमण को गुणशर्मा करण प्रयोग से रोकता है। सभी दरबारी उस पर छुरे से प्रहार करते हैं, किन्तु गुणशर्मा अपनी विचित्र कला से उन सबकी छूरियां छीन कर उन्हें ही सिर के बालों से आपस में बांध दिया।[3] राजा गुणशर्मा से कहता है कि वह बिना शस्त्र हाथ में लिये ही मुझ शस्त्रधारी को पराजित कर दे। राजा प्रहार करता है किन्तु उसके सभी अस्त्रों को गुणशर्मा अपनी युक्ति से छीन लेता है। वह राजा के हाथ से अस्त्र छीन कर स्वयं अक्षत रहते हुए राजा के हाथ बांध देता है।[4]

कन्दुक क्रीड़ा—प्राचीन भारत की क्रीड़ाओं में कन्दुकक्रीड़ा भी प्रसिद्ध है। कथासरित्सागर[5] में इसका उल्लेख है। नर एवं नारी दोनों ही इसमें भाग लेते थे। भास के नाटकों में पद्मावती और वासवदत्ता की कन्दुक क्रीड़ा प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवत में कन्दुक क्रीड़ा का सरस प्रसंग है। बताया गया है

---

१. क० स० सा० ८।४।१०३-११७
काचित् कांचन गोरांगी प्रियङ्गु श्यामलापरा, अन्या रक्तावदाता च दृष्ट्वेव हरती क्षणे। काचित् प्रत्यग्र सुभगा काचित्सम्पूर्ण यौवना, काचित् प्रौढत्व सुरसा प्रसरत् विभ्रमोज्ज्वला। हसन्ती शोभते काचित्, काचिन् कोपेऽपि हारिणी, व्रजन्ती गजवत् कापि हंसवत् कापि राजते। आलपन्त्यमृ.तेव काचिदासिञ्चति श्रुतिम्। सभ्रूविलासं पश्यन्ती स्वभावात् भाति काचन। नृत्तेन रोचते काचित् काचिन् गीतेन राजते। वीणादिवादनज्ञानेनान्या कान्ता च रोचते। काचित् वाह्यरताभिज्ञा काचिदाभ्यन्तरप्रिया। प्रसाधनोज्ज्वला काचित्, काचित् वैदग्ध्यशोभिता। भर्तृ चित्तग्रहाभिज्ञा चान्या संभाग्यमश्नुते, कियत् वा वच्मि वहवोऽप्यन्येऽन्यासां पृथग् गुणाः। तदेवमिह कस्यादिचत् गुणः कोऽपि वरस्त्रियः, नतु सर्वगुणाः सर्वास्त्रिलोक्यामपि काश्चन। अतो नानारसास्वाद लब्ध कश्याः किलेश्वराः'''।

२. क० स० सा० ७.९।२१६ ३. वही, ८।६।१४६ ४. वही, ८।६।२६-२८

५. क० स० सा० ८।७।७ कृतान्त कन्दुकक्रीड़ासंनिभा समिदावभौ

कि विष्णु, शंकर की परीक्षा के लिए तिरोहित हो गये और मोहिनी रूप धारण कर एक सुन्दर उपवन में क्रीड़ा करने लगे। इस उपवन में एक सुन्दर स्त्री सलज्ज भाव से गेंद उछाल-उछाल कर खेल रही थी।[1]

जलक्रीड़ा—ग्रीष्म ऋतु में की जाने वाली जलक्रीड़ा राजाओं को प्रिय थी। जिस समय धरती और आकाश प्रचंड लू से धधकने लगते थे, उस समय प्राचीन भारत का श्रीमन्त नागरक सर्प निर्मोक के समान महीन वस्त्रों को धारण कर सुगन्धित कर्पूरचूर्ण चन्दन लेप और पाटल पुष्पों से सुसज्जित होकर धारागृह का उपयोग दिल खोल कर करता था। गृह वापिकाओं में जब विलासिनियाँ जलक्रीड़ा किया करती थी तो कान में खोंसे शिरीश-कुसुम पानी में छाजाते थे।[2]

कथासरित्सागर में जलक्रीड़ा का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध है। राजा सातवाहन जलक्रीड़ा के लिए रानियों के साथ बावली में उतरा। जल में वह रानियों को हाथ से फेंके हुए छीटों से भिगोने लगा और रानियाँ भी उसे इसी प्रकर भिगोने लगी, जैसे हथिनियाँ हाथी को भिगोती हैं। काजल के धुल जाने पर लाल नेत्रों से और पानी से वस्त्रों के अंगों में चिपक जाने के कारण स्पष्ट दीखते हुए शरीर के विभिन्न अवयवों से वे राजा का मनहरण करने लगीं।[3]

वायु के समान राजा ने उन प्रियतमाओं के वन में लताओं के समान कर दिया। वन में वायु जिस प्रकार लताओं के पत्ररूपी तिलक को हटा देता है और पुष्परूपी आभरणों से रहित कर देता है, उसी तरह राजा ने रानियों के पत्रावली रूपी तिलक को पानी के छीटों की बौछार से धो डाला और पुष्पों के समान शोभित उनके आभरणों को उतरवा डाला। जलक्रीड़ा करते-करते उस राजा की शिरीष-पुष्प के समान एक सुकुमार रानी रत्न भार से क्लान्त होकर खेलती-खेलती थक गई।[4]

एक अन्य प्रसंग में बताया गया है कि नायिकाओं के बालों में लगे हुए पुष्प निकल कर जल में चारो ओर बहने लगे। उनके शरीर के अंगराग से जल पीला हो गया। जल की धारा में शरीर के गोप्य अंग दिखाई दे रहे थे।[5] कामसूत्र में नागरक की जलक्रीड़ा का वर्णन है।[6] महाकवि कालिदास ने भी जलक्रीड़ा का वर्णन किया है। विलासिनी स्त्रियाँ मुक्ता के समान जलबिन्दुओं को उछालती हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके हृदय का हार टूट जाने के कारण उसकी मुक्तायें बिखर गई हों।[7] महाकवि भारवि ने जलक्रीड़ा का वर्णन करते हुए लिखा है कि ग्रीष्म के प्रकोप से पीड़ित होकर सुन्दरी स्त्रियां जलकेलि करने के लिए क्रीड़ा सरोवर में आकर कमल दलों को मलती हैं।[8]

महाकवि माघ के अनुसार जल के मध्य में कमल के सदृश मुखवाली स्त्रियों का मुख सुशोभित होता है।[9] इसी प्रकार अमरूशतक[10] एवं शारंगधर पद्धति[11] में जलक्रीड़ा का वर्णन है।

---

१ श्रीमद्भागवत १२।८। १८-२१ तथा २३ आ० पु० भा० पृ० २४० पर उधृत।

२. डॉ० हजारी प्र० द्वि० : प्राचीन भारत का कलाविलास, पृ० १४७ ३. क० स० सा० १।६।११०-११३

४. क० स० सा० १।६। ११३-१४ सा जलैरभिषिञ्चन्तं राजानमसह्यासती ५. वही, १३।१८६

६. कामसूत्र, पृ० १४० एतेन रचितोद्ग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीड़ागमनम्।

७. रघु—१६।३२ आसां जलस्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु।

८. किरात ८।३१

९. अमरूशतक, १३१ १०. शिशुपालवध ८।१८, ५० ११. शारंगधर पद्धति—३८.४९

उद्यान क्रीड़ा—उद्यान क्रीड़ा के कई प्रसंग कथासरित्सागर में मिलते हैं। राजा, वसन्त काल में भ्रमण किया करते थे। राजा सुषेण उद्यान क्रीड़ा करता हुआ घूमता है। रम्भा ने उद्यान में बैठे राजा को इस प्रकार देखा मानों प्रफुल्ल वन में मूर्तिमान वसन्त हो।[1] पुनः वह रम्भा के साथ उद्यान में क्रीड़ा करता रहा। मदिरावती उद्यान में पुष्पावचय करती हुई घूम रही है। फूल तोड़ने के लिए उसने अपनी बाँह ऊपर उठा रखी है। अतः पयोधर स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं।[2] इसी प्रकार राजा सातवाहन भी अपनी रानियों के साथ उद्यानक्रीड़ा करता है।[3]

दोलाक्रीड़ा—यह भी अत्यन्त प्राचीन क्रीड़ा है। कर्पूरमंजरी में इसका बड़ा ही सरस वर्णन है।[4] यह मुख्यतः नारियों की क्रीड़ा थी। दोला क्रीड़ा करनेवाली नारियाँ एक दूसरे को दोले का पेंग लगाकर आगे की ओर बढ़ाती थीं। इस अवसर पर मधुर गीत भी गाती थीं।

ऋतु क्रीड़ा—विभिन्न ऋतुओं में की जानेवाली विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन कथासरित्सागर में उपलब्ध है। ग्रीष्म में जल क्रीड़ा, शरद में चाँदनी रात में पान क्रीड़ा, वर्षा में गान क्रीड़ा आदि विशिष्ट ऋतु की विशेष क्रीड़ायें थीं।[5]

मल्लयुद्ध—इससे भी मनोरंजन किया जाता था। विभिन्न दाँवपेंच के द्वारा पहलवान एक दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न करते थे। कथासरित्सागर में मल्लयुद्ध के कई प्रसंग मिलते हैं। श्रीदत्त मल्ल युद्ध में बड़ा निपुण था।[6] इसी प्रकार अशोकदत्त, मल्लविद्या में निपुण था। इसका आयोजन किया जाता था, जिसमें दूर-दूर से पहलवान आकर भाग लेते थे।[7]

ऐन्द्रजालिक प्रयोग—इन्द्रजाल विद्या भी कम कौतुक पूर्ण विनोद नहीं। इन्द्रजाल शब्द का अर्थ ही इन्द्रियों पर जाल अथवा आवरण पड़ जाना है। इस विद्या द्वारा मनुष्य भ्रमित हो जाता है। कथासरित्सागर में मन्त्री यौगन्धरायण तन्त्रमन्त्र और ऐन्द्रजालिक प्रयोगों से रानी की इच्छा पूरी करता था।[8] भारतवर्ष में इन्द्रजाल विद्या अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। सम्बर या शवर नामक असुर तथा इन्द्र इस विद्या के आचार्य थे। कालिका पुराण में एक प्रकार के शावरोत्सव के मनाये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसे सभी नर्तकियाँ, वेश्यायें तथा रागवती स्त्रियाँ मिलकर मनाती थीं।[9] रत्नावली में भी इन्द्र तथा सम्बर इस विद्या के आचार्य माने गये हैं। राजा की आज्ञा से इन्होंने कमलासन ब्रह्मा, शंकर तथा विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा इन्द्र को साक्षात् दिखाया था। तन्त्र के ग्रन्थों में इन्द्रजाल की ऐसी विधियाँ बताई गई हैं जिनसे मनुष्य कबूतर मोर तथा पक्षी बनकर उड़ भी सकता है।[10] अनेक प्रकार के मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, सम्बन्धी सिद्धि तथा अपने को अदृष्ट कर अन्य सबको देखने के उपाय का भी वर्णन हुआ है।[11] हिंसक पशुओं को मारना, आग बाँधना आदि कार्यों की सिद्धि का वर्णन भी इन्द्रजाल विद्या के अन्तर्गत ही हुआ है।[12] ललितविस्तार में इन्द्रजाल विद्या को

---

१. क० स० सा० ६।२।५६ २. क० स० सा० १३।१।९४ ३. वही, ६।२।१०८ ४. कर्पूर—१।२१

५. क० स० सा०, १८।३।१७-१९ ६. वही २।२।१५ ७. वही, ५।२।१२१ ८. वही, ४।२ १२

९. कालिका पुराण, उत्तर तंत्र अध्याय ६०, मानसोल्लास एक अध्ययन, पृ० ४४५ पर उधृत।

१०. रत्नावली ४।७४ ११. दत्तात्रेय तंत्र पटल—११

१२. इन्द्रजाल तंत्र संग्रह, पृ० ३२ मानसोल्लास एक अ० ४४६ पर उधृत

माया कहा गया है। इसे असुर विद्या भी माना गया है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी "ऐन्द्रजालयोगाः" का प्रसंग प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रजाल विद्या का उस समय बड़ा प्रभाव था। इसी तरह का प्रसंग दशकुमार चरित[1] में भी प्राप्त होता है। कादम्बरी[2] में भी ऐन्द्रजालिक प्रयोग प्राप्त हैं।

गुलिका क्रीड़ा—कथासरित्सागर में गुलिका (गोली) क्रीड़ा की चर्चा भी है। हिरण्याक्ष गोली खेल रहा था। उसकी गोली एक तपस्विनी को लग जाती है।[3]

शुक, हिरण क्रीड़ा—शुक, हिरण आदि पालतू पशुओं के साथ खेलना भी राजाओं को प्रिय था। इन्हें क्रीड़ाशुक या क्रीड़ा हिरण कहते थे। मदिरावती वियोग की पीड़ा के कारण शुकादि के साथ नहीं खेलती—न क्रीड़ति शुकादिभिः[4]। इसी प्रकार हिरण के बच्चे के साथ खेलने की चर्चा है।[5]

मृगया विनोद—मृगया अत्यन्त प्राचीन काल से अधिकांशतः सभी राजाओं के विनोद का साधन रही है। दुर्गम पर्वत कण्टकाकीर्ण मार्ग, अन्धकाराच्छन्न वन सरोवर एवं सरिता तट समतल मैदान आदि प्रदेशों में मृगया खेलते हुए राजा मनोरंजन करते थे। प्राचीन धर्मशास्त्रों में यह राजाओं के दुर्व्यसनों में गिना गया है। मनुस्मृति के अनुसार मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, स्त्रीसंभोग एवं मृगया आदि व्यसन दोषपूर्ण होने से दुःख के कारण हैं।[6] कथासरित्सागर में भी मृगया राजाओं के दुर्व्यसनों में माना गया है। इसकी बार-बार निन्दा की गई है। राजा उदयन को "मृगया व्यसनी"[7] कहा गया है। यौगन्धरायण राजा के इस दुर्व्यसन से चिन्तित हैं।[8] नारद जी मृगया की निन्दा करते हुए उदयन से इसे छोड़ने का आग्रह करते हैं। राजा पाण्डु मृगया व्यसन के कारण ही मृत्यु को प्राप्त हुए।[9] यह शिकार खेलना राजाओं में प्रमाद करानेवाला बुरा व्यसन है। उसने और भी अनेक राजाओं का मृगों के समान नाश कर दिया है। यह शिकार राक्षसी के समान है। इससे किसका कल्याण हो सकता है? यह घोर शब्द के समान मांस निकालती है, रूखी है, धूमिल और उठे हुए बालों वाली है, भाले इसके दांत हैं अर्थात् शिकारी दौड़ते-दौड़ते धूल में रूखा हो जाता है। इसलिये व्यर्थ परिश्रम वाले शिकार का प्रेम छोड़ देना चाहिए। इसमें शिकार, शिकारी और वाहन तीनों के प्राणों का सन्देह साथ ही रहता है।[10]

कथासरित्सागर में शिकार प्रसंगों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। राजा उदयन इस विलास क्रीड़ा के बीच कभी-कभी बहेलियों के साथ हरे पत्तों का सा वेश धारण किये हुए और धनुष लिये हुए मृगवनों का भी सेवन करता था। इस क्रीड़ा में कीचड़ से सने हुए शूकरों के झुंडों को वह बाणों से वेधकर मार देता था। उसके पीछा करने पर भय से इधर-उधर भागे हुए कृष्णसार मृग ऐसे मालूम होते थे मानों पूर्वकाल में विजित दिशायें उस पर कटाक्ष पात कर रही हों। जंगली भैंसों को मारने के कारण उनके रक्त से रंजित वनभूमि ऐसी मालूम होती थी, मानो वन कमलिनी राजा की सेवा के लिए उपस्थित हो। मुंह फाड़े, अतएव भालों से बिंधे मुखों वाले सिंहों को देखकर राजा प्रसन्न होता था। अपने शस्त्र पर विश्वास रखने वाले उस राजा की मृगया क्रीड़ा में गड्ढों में छिपे हुए शिकारी कुत्ते और मार्ग में बिछे

---

१. दशकुमार चरित १।३१, २. कादम्बरी—६५ ३. क० स० सा० १०।३।२७२
४. क० स० सा० १३।१।५५ ५. वही १२।१।१०७, ६. मनु ७।५०, ७. क० स० सा० २।३।१०
८. क० स० सा० ३।१।८, ९. वही ४।१।२५, १०. वही ४।१।२८–२९

जाल[1] विद्यमान थे।[2] चिन्तित राजा मनोविनोद के लिए शिकार खेलने जाता है।[3] कथासरित्सागर में राजाओं के शस्त्राभ्यास के लिए मृगया, आवश्यक भी मानी गयी है। व्यायाम, लक्ष्यवेध और शस्त्रों के अभ्यास के लिए ही राजाओं के लिए शिकार का विधान किया गया है। बिना अभ्यास के राजा युद्ध में सफल नहीं होते।[4] महाकवि कालिदास ने भी इसकी प्रशंसा में कई तर्क दिये हैं।[5]

---

१. क० स० सा० ४।१।३०　२. वही ४।१।११-१६, ३. वही　३. वही १२।२७।८

४. वही ६।१।१४६　५. शकु० २।५

सप्तम परिच्छेद

गोष्ठियाँ

कथासरित्सागर में मनोविनोद के लिए विभिन्न प्रकार की गोष्ठियों का भी निर्देश है। संगीत, कथा, चित्र, नृत्य आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन हुआ करता था। ये गोष्ठियां अधिकतर बौद्धिक एवं साहित्यिक हुआ करती थीं। वात्स्यायन के अनुसार नागरक की गोष्ठी के सात प्रधान अंग होते थे।[1] विद्वान्, कवि, भाट, गायक, मसखरे इतिहासज्ञ और पुराणज्ञ ये सात अंग बौद्धिक और काव्यशास्त्र-विनोदों में भाग लिया करते थे। वात्स्यायन के अनुसार अच्छी और बुरी दो तरह की गोष्ठी जमती थी। एक तो मनचले लोगों की गोष्ठी—जिसमें जुआ, हिंसा आदि कुकर्म सम्मिलित थे (लोक विद्विष्टा परिहिंसात्मिका गोष्ठी) और दूसरी भले लोगों की गोष्ठी जिसमें खेल और विद्यायें प्रधान थीं[2] (लोकचित्तानुवर्त्तिनीक्रीडामात्रैक कार्या[2]) कथासरित्सागर में दोनों प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन देखने को मिलता है।

प्राचीन काल में पदगोष्ठी, काव्य गोष्ठी, जल्पगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्य गोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी आदि अनेक प्रकार की गोष्ठियों में प्रबुद्ध नागरक भाग लेते थे। नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि कलायें काव्य और कहानियाँ इन गोष्ठियों के विषय थे। पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी और जल्प गोष्ठी, अंगभूत गोष्ठियां थीं विद्यागोष्ठी उत्तम मानी जाती थी। बाण ने हर्षचरित में वीर गोष्ठियों का भी उल्लेख किया है, जिसमें मनोबल ऊँचा रखने के लिए योद्धाओं की कथायें कही सुनी जाती थीं।

वात्स्यायन ने पाँच प्रकार के सामूहिक विनोदों का वर्णन किया है। वे हैं घटानिबन्धन, गोष्ठी समवाय, समापानक, उद्यान गमन और समवयस्क मित्रों के साथ खेल खेलना। विभिन्न अवसरों पर किये जानेवाले, उत्सव घटानिबन्धन हैं। गोष्ठी समवाय में नृत्य, गीत, कथा, विनोदादि हैं। समापानक में नागरक हिलमिल कर मद्यपान करते थे। पाँचवाँ मनोविनोद समस्या क्रीड़ाओं का था। कथासरित्सागर में भी उपर्युक्त सभी सामूहिक मनोविनोदों का उल्लेख है।

गीत गोष्ठी—गीत गोष्ठी में गीत द्वारा मनोरंजन किया जाता था। योग्य गायक, गुणज्ञ, पक्षपात रहित, विसंवाद से विमुख, प्रौढ, प्रियंवद, वाग्मी, मेधावी, संगीतज्ञ, विवेकी, गीतवाद्य विशेषज्ञ, रसिक, रागद्वेषविवर्जित भावज्ञ, हृदयज्ञ, धर्मात्मा, प्रतिभावान् एवं सत्यवादी होता था।[3] कथासरित्सागर में इस प्रकार के आयोजनों का उल्लेख है। सायंकाल देव मन्दिर में नृत्यगीत का आयोजन किया गया था। चतुर्विध वाद्य बज रहे थे।[4] गान विद्या को गान्धर्व शिक्षा कहा गया है।[5] संगीतशाला को गान्धर्वशाला कहा गया है।[6] राजा सूर्यप्रभ के स्वागत में नृत्यगीत गोष्ठी का आयोजन किया गया

१. कामसूत्र, पृ० १२२ विद्वांसः कवयो भट्टाः गायकाः परिहासकाः। इतिहासपुराणज्ञः सभासप्ताङ्गसंयुता ॥

२. वही, पृ० १२२. ३. आ० पु० भा०, पृ० २४७ ४. क० स० सा० १८।४।१३२,

५. वही, २।४।२७ ६ वही २।४।३१

था।[1] नरवाहन दत्त गीतादि गोष्ठी में दिन भर मनोरंजन करता था।[2] इसी प्रकार रत्नप्रभा के महल में संगीत का आयोजन था।[3] वात्स्यायन ने भी गीत आदि का अभ्यास करने के लिए गोष्ठी का उल्लेख किया है।[4] ललित विस्तार में गीतों के गाने का निर्देश है।[5]

नृत्य गोष्ठी—गीत और वाद्य, नृत्य के बिना अपूर्ण हैं। तीनों का सहभाव पूर्ण आनन्द की सृष्टि में समर्थ होता है। इसीलिये तीनों का साथ ही उल्लेख कथासरित्सागर में किया गया है।[6] गुणशर्मा नृत्यविद्या में निपुण था। वह राजा महासेन के दरबार में नृत्य प्रदर्शन करने से हिचकता है। राजसभा में नाचना उचित नहीं। ऐसा नाच मूर्खों का होता है और वह हंसी का कारण है। शास्त्र से भी निन्दित है। किन्तु राजा उत्तर देता है, यह रंगमंच का नाच नहीं है कि पुरुष के लिए लज्जा का विषय हो। यह तो मित्रगोष्ठी है, यहाँ कोई संकोच नहीं होना चाहिए।[7] इसके बाद गुणशर्मा ने आंगिक नृत्य का प्रदर्शन किया।[8] इससे स्पष्ट है कि पुरुष भी इस कला में निपुण थे। नृत्त को ताल और लय पर आश्रित तथा नृत्य को भावप्रधान माना गया है।[9] कथासरित्सागर में दोनों समान रूप से प्राप्त हैं। मनोरंजन की दृष्टि से दोनों एक हैं।कथासरित्सागर में आंगिक नृत्य के कई उल्लेख हैं।[10] गोष्ठियों में सम्मिलित होने वाले नर्तक छह प्रकार के होते थे—नर्तकी, नट, नर्तक, वैत्रालिक, चारण तथा लाटिका। स्वरूपा, तरुणी, श्यामा, तन्वी तथा सुन्दर पयोधरवाली नर्तकी श्रेष्ठ मानी गई है।[11]

वाद्यगोष्ठी—नृत्य एवं गीत के साथ ही वाद्य भी गोष्ठी का अनिवार्य अंग था। गीत एवं नृत्य की शोभा वाद्य से ही है। वाद्यगोष्ठी में गीतानुगवाद्य, नृत्यानुगवाद्य, पात्रानुगवाद्य और गीतनृत्यानुगवाद्य का प्रयोग किया जाता था। गीन का अनुसरण करें उसके साथ बजने वाले वाद्य गीतानुग, नृत्य के समय उसके साथ बजने वाले वाद्य नृत्यानुग, गीत के साथ पात्र का अनुसरण करने वाले वाद्य पात्रानुग तथा गीत एवं नृत्य दोनों के साथ बजने वाले वाद्य गीतनृत्यानुग वाद्य कहे जाते थे।[12] कथासरित्सागर में नृत्यगीत के साथ ही वाद्य भी उल्लिखित हैं।[13] वाद्य गोष्ठी में वाद्यकला का विभिन्न प्रकार से प्रदर्शन किया जाता था।

कथागोष्ठी--कथा द्वारा मनोरंजन की प्राचीन परम्परा है। इस कथासरित्सागर की रचना ही महारानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए हुई।[14] राजाओं के यहाँ कहानी सुनाकर मनोरंजन करने वाले दास रहा करते थे। राजा सहस्रानीक को संगतक नामक "कथक" (कथा कहने वाला) कहानी सुनाकर मनोरंजन करता है।[15] कथावाचक राजसभाओं में या गोष्ठियों में मनोरंजन करते थे। मनोरंजक घटनाओं, ईर्ष्या, मद, मोह आदि भावों से सम्पृक्त मनोरम आख्यान एवं ओजस्वी चरित्रों से युक्त कथायें गोष्ठी में सुनाई जाती थी। कथागोष्ठीका महत्व इस दृष्टि से अत्यधिक है। नीति एवं धर्मकथाओं द्वारा

---

१. क० स० सा० ८।१।१८४ २. वही, १४।१।५ ३. वही, ७।८।२६ ४. कामसूत्र, पृ० ३२
५. ललित विस्तार, पृ० १७८ ६. क० स० सा० १२।३२।४० ७. वही, ८।६।१४ ८ वही, ८।६।१७
९ दशरूपक—अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तंताललयाश्रितम्। १०. क० स० सा० ८।२।२३८, ८।६।१८
११. अ० पु० भा० पृ० २५० १२. आ० पु० भा०, पृ० २४७ १३. क० स० सा० ८।१।१८१, १४।४।१३२
१४. वही, ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः श्लो० ११ १५. क० स० सा० २।२।२

श्रोताओं को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी जाती थी। वसन्तक पतिभक्ति बढ़ाने वाली कथा वासवदत्ता को सुनाता है।[1] इसी प्रकार महारानी वासवदत्ता के मनोरंजन के लिए एक ब्राह्मणी कथा कहती है।[2]

जल्पगोष्ठी—कल्पित कथाओं द्वारा मनोरंजन जल्प गोष्ठी थी। कथागोष्ठी और जल्पगोष्ठी में अन्तर यह है कि कथागोष्ठी की कथायें मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थीं, पर जल्पगोष्ठी के आख्यान केवल मनोरंजक ही होते थे।[3]

काव्यगोष्ठी—कवियों की रचनाओं द्वारा मनोरंजन काव्यगोष्ठी है। वात्स्यायन की कला सूची में काव्य क्रिया, क्रियाकल्प और मानसी जैसी काव्यकलाओं की नामावली है। अनेक प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मत से काव्य मनोरंजन का प्रमुख साधन है। कविता और वनिता का अभेद सम्बन्ध प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।[4] कथासरित्सागर में भी वाणी की उक्ति विचित्रता वर्णित है। एक छोटा-सा श्लिष्ट परिहास राजा सातवाहन को विद्वान बना देता है। जलक्रीड़ा के समय राजा से एक रानी कहती है—मोदकैः—अर्थात् मा—उदकैः—उदक अर्थात् जल से मत मारो। राजा मोदक का अर्थ लड्डू समझता है। वह लड्डू मंगाता है। इस पर रानी हँसती है।[5] रानियां व्यंगोक्तियों से सूर्यप्रभ का मनोरंजन करती हैं।[6]

पदगोष्ठी—गोष्ठियों में शास्त्रीय चर्चा भी की जाती थी। पदगोष्ठी में व्याकरण के तत्वों पर तर्क-वितर्क किया जाता था। राजा दैनिक क्रियाओं एवं राज्य कार्यों से निवृत्त होकर आस्थान मण्डप में विभिन्न शास्त्रों की गोष्ठियाँ आरम्भ करता था। शास्त्रार्थ की परम्परा का यही मूल है। मानसोल्लास के अनुसार राजा शास्त्रविनोद कर अपना समय प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करता था।[7] इन गोष्ठियों से विद्वानों का मनोरंजन भी होता था और ज्ञान की प्राप्ति भी। कामसूत्र में इस प्रकार की गोष्ठी की प्रशंसा की गई है।[8]

वीणागोष्ठी—वीणागोष्ठी में वीणा वादन द्वारा मनोरंजन किया जाता था। कथासरित्सागर में इसके कई उल्लेख हैं। उदयन कुशल वीणावादक है। उसका पुत्र नरवाहनदत्त भी वीणा बजाने में निपुण है। नरवाहनदत्त वीणा लेकर गन्धर्व लोक पहुँचता है। वहाँ सभी के हाथ में वीणा है। वह पूछता है कि यहाँ सभी वीणा क्यों साथ रखते हैं ? उसे पता चला कि गन्धर्वदत्ता नाम की राजकुमारी वीणा बजाने में निपुण है। जो उसे वीणा बजाने में जीत सकेगा वही उसका पति होगा। अतः सभी वीणा सीख रहे हैं।[9] गन्धर्वदत्ता एवं राजा नरवाहनदत्त के बीच वीणावादन की प्रतियोगिता होती है।[10] मृच्छकटिक नाटक में वीणा के सम्बन्ध में चारुदत्त कहता है वीणा उत्कण्ठित व्यक्ति की संगिनी है, व्याकुल व्यक्ति का विनोद है, विरही का धैर्य है और प्रेमीजन की रागवृद्धि का कारण है।[11] वीणा को व्यक्ति सदैव अपनी प्रिया की

---

१. वही, २।५।५३ २. वही, ४।१।५३ ३. आ० प्र० भा० २४८ ४. का० सू०, पृ० ९५
सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन स्पर्शनेन च कविहृदयं पतिहृदयं सरलं तरलं च सत्वरं भवति
५. क. स. सा. १।६।११५ ६. वही ८।८।१६२—"सनर्मवक्रमधुरस्निग्धमुग्धैर्वचःक्रमैः"
७. मानसोल्लास ४।२।२०३ ८. कामसूत्र, पृ० ५१-५२, ९. क. स. सा. १४।२।११-१२,
१०. वही १४।२।२६ ११. मृच्छकटिक ३।३

भाँति अंक में धारण करता है। कथासरित्सागर[1] में प्राप्त वीणावादन के प्रसंगों से स्पष्ट है कि उस समय यह लोगों के प्रमुख मनोरंजन का साधन था।

समापानक गोष्ठी—वात्स्यायन ने समापानक को तीसरा मनोरंजन माना है। खूब छक कर सामूहिक रूप से मदिरापान करना समापानाक है। समापानक विनोद में नागरक हिल मिल कर मद्यपान करते थे, गाना बजाना और नृत्य करते थे। कामसूत्र से विदित होता है कि उन दिनों राजभवनों में प्रायः आपानकोत्सव या पानगोष्ठी के आयोजन हुआ करते थे।[2] कथासरित्सागर में भी आपान गोष्ठियों का उल्लेख है। राजा मृगांक दत्त आपानगोष्ठी में भाग लेता है।[3] आपान गोष्ठियों में वेश्याओं की उपस्थिति अपेक्षित मानी जाती थी। वे रसिक नागरक को चपक भरकर मद्य पिलातीं और स्वयं पिया करती थीं। भारत का प्राचीन मद्यपान, बल, वीर्य, ओज और तेज बढ़ाने वाला था, साथ ही उत्तेजक भी। नरवाहनदत्त मद्यपान, संगीत, गोष्ठी और सुन्दर हासविलासों से मनोरंजन करता था।[4]

---

१. क० स० सा० ८।६।१९ २. काम सू० पृ० १२७

३ क० स० सा० १२।३६।२०० ४. वही, ९।२।२२

अष्टम परिच्छेद

उत्सव

वसन्तोत्सव—कथासरित्सागर में वर्णित उत्सवों में वसन्तोत्सव की चर्चा सर्वाधिक है। इसी से इसका महत्त्व स्पष्ट है। तत्कालीन लोकोत्सवों में यह सर्वप्रधान था इसमें सन्देह नहीं। उपकोशा, कुमार सचिव से कहती है कि वसन्तोत्सव की धूमधाम में नागरिकों के व्यस्त रहने पर तुम घर आना।[1] इससे पता चलता है कि यह समारोह बड़े धूमधाम से मनाया जाता था। उस अवसर पर उद्यान भ्रमण एवं जलक्रीड़ा का वर्णन है।[2] निश्चय ही यह आयोजन उद्यान में हुआ करता था। वसन्तोत्सव के अवसर पर श्रीदत्त अपने मित्रों के साथ उद्यान में मेला देखने जाता है।[3] इस अवसर पर नागरिक स्त्रियों द्वारा नृत्य गीतादि का आयोजन हुआ करता था।[4] इसी प्रकार वसन्तोत्सव के समय राजा त्रिविक्रम सेन उद्यान क्रीड़ा करता है।[5]

वसन्त ऋतु के प्रारम्भ होने पर उत्सव मनाया जाता था। आजकल भी यह उत्सव वसन्तपंचमी के दिन मनाया जाता है। सरस्वती कण्ठाभरण से ज्ञात होता है कि वसन्तपंचमी के दिन विलासिनियां कुवलय की माला एवं आम्रमंजरी पहन कर गाँव को जगमग कर देती थीं।[6] ऋतु संहार से विदित होता है कि वसन्तावतार होते ही विलासिनियां गर्म कपड़ा उतार फेंकती थीं। कुंकुम रंजित लाल साड़ी पहनती थीं। कोई दुकूल धारण करती थी। कोई कानों में नवीन कर्णिकार के फूल, नील अलकों में लाल अशोक के फूल और वक्षस्थल पर उत्फुल्ल नवमल्लिका की माला धारण करती थी।[7] भास रचित चारुदत्त नाटक में इस पर्व का नाम "काम देवानुयान" लिखा है। कामदेव का चित्र लेकर बाजे गाजे के साथ नागरिकों का विशाल जुलूस निकलता था।[8] गरुड पुराण के अनुसार अग्रहण की त्रयोदशी को यह उत्सव आरम्भ कर कार्तिक की मदन त्रयोदशी को समाप्त किया जाय। प्रतिमास शिव की मूर्त्तियों की पूजा की जाय। काम और रति के पूजन और हवन से उत्सव का उद्यापन किया जाय। नृत्य गान द्वारा रात्रिजागरण किया जाय।[9] दशकुमार चरित के अनुसार राजा मानसार की पुत्री अवन्ति सुन्दरी ने ग्रामवाटिका में जाकर एक किशोर आम की छाया में बालू का ढेर बनाकर मदन की पूजा की।[10] भविष्य पुराण में लिखा है कि वसन्तकाल की शुक्ल त्रयोदशी को सिंदूर से काम और रति की मूर्त्तियाँ चित्रित कर समारोह के साथ उनका पूजन करना चाहिए। दोपहर को गणभोज किया जाय। रात में कामदेव के आयतन में नृत्य, गीत, अभिनय आदि किये जाँय। इस उत्सव को चैत्रोत्सव कहा गया है।[11]

वर्षक्रिया कौमुदी में शैवागम का एक वचन उधृत करते हुए लिखा है कि चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को मदन महोत्सव मनाने के लिए प्रातः काल से दोपहर तक गाया बजाया जाय तथा अश्लील वाक्य कहे

---

१. क० स० सा० १।४।३५ २. वही, १।६।१०८ ३. वही, २।३।८७ ४. वही, ९।४।५८ ५. वही, १२।१८।६
६. सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ५७५ ७ चारुदत्त, अं० १ ८. ऋतुसंहार ६ ९. गरुड़पुराण १।११७।१–१५
१०. दशकुमार चरित १।५।४४ ११. भविष्यपुराण ४।१३५

जाय, रंग और कीचड़ फेंका जाय। तदनन्तर वस्त्रालङ्कार से शृङ्गार किया जाय।[1] अन्य ग्रन्थों में भी इस उत्सव के उल्लेख हैं।[2] कुछ विद्वान इसे वर्तमान होली का पूर्व रूप मानते हैं।[3] किन्तु कामसूत्र में दोनों उत्सवों को अलग-अलग माना गया है। एक को मदनोत्सव तथा दूसरे को उदक क्ष्वेदिका कहा गया है।[4] मदनोत्सव निश्चय ही वसन्तोत्सव है तथा उदक क्ष्वेदिका होली का प्राचीन रूप है, जिसमें लोग एक दूसरे पर रंग फेंका करते थे। सम्भव है कालान्तर में ये दोनों उत्सव एक में मिल गये। क० स० सा०[5] से ज्ञात होता है कि कामदेव के मन्दिर भी स्थापित थे जहाँ कन्यायें अपने विवाह के दिन पूजा किया करती थीं। इन उल्लेखों से पता चलता है कि वसन्तोत्सव मनाने की परम्परा बहुत प्राचीन है।

यात्रोत्सव—क० स० सा० में इस उत्सव का कई बार उलेख है। यह आज का प्रचलित "रथ यात्रोत्सव" है। पहले इसे यात्रोत्सव ही कहा जाता था। यह उत्सव आषाढ़ शुल्क चतुर्दशी को प्रति वर्ष हुआ करता था।[6] स्नान का महत्त्व वर्णित है।[7] इस अवसर पर किये गये आयोजनों में नरनारी भाग लिया करते थे।[8]

मेष संक्रान्ति—सूर्य के उत्तरायण होने पर मनाया जाने वाला यह धार्मिकोत्सव भी अत्यन्त प्राचीन है। इसे मकर संक्रान्ति कहते हैं। क० स० सा०[9] में प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस अवसर पर लोग पवित्र तीर्थों में स्नान किया करते थे। गङ्गा स्नान का विशेष महत्व है।[10] इन्द्रोत्सव[11] उदक दानोत्सव[12] का भी उल्लेख है।

जन्मोत्सव—पुत्र जन्मोत्सव बड़े धूमधाम से मनाये जाने की परम्परा रही है। नरवाहन दत्त का जन्मोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जा रहा है।[13] शहनाई का संगीत चारो ओर फैलने लगा। वाद्यों के शब्द घरों से निकलकर आकाश में फैलने लगे, मानों समस्त विद्याधरों को नवीन राजा के जन्म लेने की सूचना दे रहे हैं। ऊँचे-ऊँचे महलों पर फहराती हुई लाल रंग की पताकायें मानों प्रसन्नता से आपस में गुलाल उड़ा रही हों—ऐसी प्रतीत होती थीं। घर-घर में प्रसन्नता से वेश्याओं के नाच-गान चल रहे थे। ऐसा लगता था मानों स्वर्ग की सुन्दरियाँ प्रसन्नता से भूमि पर उतर आई हों। उत्सव के उपलक्ष्य में राजा द्वारा बाँटे गये समान वस्त्रों और आभूषणों से सारी नगरी वैभवशाली मालूम होती थी। जब राजा ने उत्सव के उपलक्ष्य में अपने सेवकों को धन लुटाना प्रारम्भ किया तब खजाने के सिवा कोई खाली न रहा। पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी मंगल गान करती हुई रीति रिवाजों को जानने वाली, नाचती गाती विविध प्रकार के उपहार लेकर अपने रक्षकों के साथ-साथ रनिवास में एकत्र हुई। मानों स्वर्ग की स्त्रियाँ राजभवन में उतर आई हों। उस समय सबकी चेष्टायें नृत्यमयी, सभी के वचन, पूर्ण पात्रमय सभी का व्यवहार त्यागमय और सभी का स्वर वाद्यमय हो रहा था। आनन्दमयी उस

---

१. वर्ष क्रिया कौमुदी पृ० ५३१ २. रघु ९।४६, माल० ३, शाकु० ६
३. A. L. Basham. Wonder that was India P. 207. ४. कामसूत्र ४।२७–२८
५. क० स० सा० ११।१।१६, १३।१।१२८ ६. क० स० सा० १२।१३।६ ७. वही, १३।१।८६
८. वही, १२ २३।६ ९. वही, १३।१।१५२ १०. वही, १३।१।२१५ ११. वही, १।४।३
१२. वही, १६।२।२५ १३. वही, ४।३।७६

नगरी में सारी भूमि अबीर गुलालमय थी[1]। इसी प्रकार राजा कनकवर्ष[2] तथा अलंकार प्रभा[3] भी पुत्रोत्सव मनाते हैं।

विवाहोत्सव—विवाह संस्कार जीवन का प्रमुख उत्सव माना जाता रहा है। इस अवसर पर हर्षोल्लास से सारा वातावरण मादक हो उठता है। राजा उदयन एवं वासवदत्ता के विवाह के मांगलिक अवसर पर नगर की स्त्रियों ने मंगलगान गाना प्रारम्भ किया। नागरिक प्रसन्न हो इस प्रकार नाचने लगे जैसे बिजली युक्त मेघ को देखकर मयूर नाचने लगते हैं। नगरी के ऊँचे भवनों पर राजदर्शनार्थ खड़ी रमणियों ने आकाशगंगा में खिले कमलों के समान अपने मुख कमलों से सारे आकाश को घेर लिया।[4] इसी तरह पद्मावती के विवाहोत्सव के समय भी राजा पुर में प्रवेश करता है। राजमहल में जाकर सौभाग्यवती स्त्रियों से भरे हुए कौतुकागार में पहुँचता है।[5] नरवाहनदत्त एवं मदनमंचुका के विवाहोत्सव में कन्या की माता कलिंगसेना मदनमंचुका को वस्त्रालंकारों से सजाती है। विवाह की तैयारी से नगरी में ही नहीं सम्पूर्ण पृथ्वी में हलचल मच गई। शरत्कालीन चन्द्रमा के समान वह शोभित हो रही थी। स्त्रियाँ मंगलगान कर रही थीं। नरवाहनदत्त वाद्यों से मुखरित विवाह मण्डप में पहुँचता है।[6] इससे स्पष्ट है कि राजाओं का विवाह वैयक्तिक नहीं अपितु सामाजिक उत्सव के रूप में बदल जाता था। सम्पूर्ण प्रजा सोल्लास इसमें भाग लिया करती थी। दुर्गापूजा का उल्लेख भी कथासरित्सागर में है।

---

१. क० स० सा० ४।३।७७–८५ २. क० स० सा० ९।५।१८४–८५ ३. वही, ७।२।१२०
४. वही, २।६।२०–२१ ५. वही, ३।२।७५ ६. क० स० सा० ६।८।२५०–५४
७. क० स० सा० १२।१३।२० "तातेन प्रेषितो यस्मात् देवीपूजोत्सवोऽस्ति नः।

नवम परिच्छेद

शुभाशुभ शकुन विचार

भारत में शकुनशास्त्र भी था जिसके आधार पर शुभाशुभ कर्मफलों की सम्भावना की जाती थी। भविष्य में आनेवाले शुभाशुभ कार्यों की सूचना इन शकुनों से मिल जाया करती थी। कथासरित्सागर में भी इसके कई प्रसंग उपलब्ध हैं। कीर्तिसेना के जंगल से जाते समय यमराज की दूती के समान शृगाली भयंकर रूप से रोने लगी।[1] सात मित्रों के साथ जाते हुए विष्णुदत्त को मार्ग में अपशकुन होता है।[2] वह मित्रों से लौट चलने का आग्रह करता है। वे उसका उपहास करते हैं। किन्तु उन्हें भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार काम में लगे हुए लोगों को आनेवाले अपशकुन कार्यों में व्यवधान उत्पन्न करते हैं।[3] इसी तरह गुणशर्मा भी मार्ग में अनेक अपशकुन देखता है। उसकी बाईं ओर कौआ उड़ रहा था और कुत्ता बाईं ओर से दाईं ओर गया। साँप दाईं से बाईं ओर गया और कन्धे के साथ उसकी बाईं भुजा भी फड़कने लगी।[4] ये सारे अशुभ शकुन माने गये हैं। युद्ध में जाते हुए विद्याधरों को अशुभ शकुन होते हैं। ध्वजा पर बिजली गिरती है, गिद्ध ऊपर मंडराने लगते हैं। महाछत्र टूट जाता है। सियार बोलने लगते हैं।[5] इन अशुभ सूचनाओं के बाद निश्चय ही अशुभ होता हुआ देखा जाता है। छींकना अशुभ है। छींकने पर जीव कहना चाहिए। गूढ़सेन राजा का पुत्र आधी कहानी कह सो जाता है। दिव्यांगनायें शाप देती हैं।[6] यदि छींकने पर कोई जीव न कहेगा तो यह मर जायेगा।[6] आज भी छींक आने पर शतं जीव कहने की प्रथा है।

जन्म लेते ही यदि बच्चा बोलना या चलना प्रारम्भ कर दे, तो वह अशुभ सूचक है।[7] स्त्रियों की दाहिनी आँख फड़कने पर अनिष्ट ही होता है।[7] अग्निशर्मा को ससुराल जाने के मार्ग में अशुभ होता है। टिट्टिभ दाहिनी ओर जाता है, सियारिन बोलती है। किन्तु वह इन अशुभ लक्षणों को समझ नहीं पाता। शकुन देवता उसकी इस मूर्खता पर हंसते हैं। दुबारा पुनः अशुभ शकुन होते हैं, किन्तु वह समझ नहीं पाता। इसके भोलेपन पर शकुन देवता प्रसन्न हो जाते हैं।[8] भारतीय परम्परा के अनुसार विधवा, बिजली की चमक, जलावन, धुंआवाली आग, तेलपात्र, चमड़ा, कुत्ते का रोना, खरहा एवं कौआ का दक्षिण से बाईं ओर जाना, सर्प, नया पात्र, अन्धा, लंगड़ा एवं रुग्ण व्यक्ति, नमक व्याघ्र, दण्ड का गट्ठर, मक्खन, दूध, रिक्त पात्र, कलह, बिखरे बालों वाला आदमी, तेली, कुष्ठरोगी और औघड़ अशुभ सूचक माने गये हैं।[9] अशुभ के समान ही शुभ सूचक शकुन भी होते हैं। पुरुष की दाहिनी आंख फड़कना शुभ माना जाता है।[10] फल, फूल शुभसूचक शकुन हैं।[11] इस प्रकार शुभाशुभ शकुन का विचार प्राचीन समय से ही किया जा रहा है।

---

१. क० स० सा० ६।३।१०६ २. वही, ६।६।४७ ३ वही, ६।६।९१ ४. वही, ८।६।१२९
५. क० स० सा० १७।३।१२–३ ६. वही, ३।३।६६ ७. वही, १७।४।१४१ ८. वही, १८।५।१०९–११०
९. O. S. vol. III p 86 १०. क. स. सा. ९।१।४ ११. वही ९।३।५०

स्वप्नविचार—शुभाशुभ शकुनों के समान ही स्वप्न भी भवितव्यता की सूचना देते हैं। प्राचीन शास्त्रों में इस पर भी विचार हुआ है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अवचेतन में स्थित मनुष्य की अपूर्ण एवं अतृप्त इच्छायें स्वप्न में पूर्ण हो जाती हैं। वह अपनी अपूर्ण अभिलाषाओं को स्वप्न में प्राप्त कर लेता है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार भी अतृप्त अभिलाषाओं का स्वप्न में पूर्ण होना बताया गया है। कथासरित्सागर में इस विषय पर सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया गया है। स्वप्न के कई प्रकार बताये गये हैं। जैसे अन्यार्थ; यथार्थ और अपार्थ। जिसका फल शीघ्र होता है वह अन्यार्थ है। प्रसन्न हुए देवता आदि का आदेश यथार्थ है। गम्भीर अनुभव और चिन्ता आदि से होनेवाला स्वप्न अपार्थ है।[1]

रजोगुण प्रधान और बाह्य विषयों से विमूढ़ प्राणी निद्रा के वश में उन उन कारणों से स्वप्न देखता है। स्वप्नों का विलम्ब से अथवा शीघ्र फल मिल जाना समय भेद से होता है। रात्रि के अन्त में देखा हुआ स्वप्न शीघ्र फल देनेवाला होता है।[2] कथासरित्सागर में स्वप्न के अन्यार्थ यथार्थ एवं अपार्थ आदि तीनों भेद के उदाहरण उपलब्ध हैं। देवस्वामी एवं करम्भक को स्वामी कार्तिकेय का स्वप्न विद्या-प्राप्ति के लिए होता है।[3] शिव ने पुत्रक की माताओं को स्वप्न दिया कि इस बालक के सोकर उठने पर प्रतिदिन एक लाख स्वर्णमुद्रा मिला करेगी।[4] ये दोनों यथार्थ स्वप्न के उदाहरण हैं। इसी प्रकार राजा सातवाहन भी स्वप्न में पुत्रलाभ का वरदान पाता है।[5] राजा सातवाहन का मन्त्री शर्ववर्मा राजा को शास्त्रज्ञान कराने के लिए "स्वप्नमाणवक" बनाकर रात में खाकर सो जाता है। यह कोई ऐसा विधान था जिससे किसी गूढ़ समस्या का निदान स्वप्न में पालिया जाता था। शर्ववर्मा इसका प्रयोग करता है। इस स्वप्न माणवक के कारण उसे समस्या का निदान स्वप्न में मिल गया। उसने आकाश में स्वप्न में एक कमल गिरता हुआ देखा। उसे किसी दिव्यकुमार ने विकसित किया और उसमें से श्वेतवस्त्रधारिणी एक स्त्री निकली, जो राजा के मुंह में चली जाती है। इसका अर्थ लगाया गया कि वह सरस्वती देवी थी जो मुख में प्रविष्ट हुई।[6] इस प्रकार अभिप्रेत स्वप्न प्राप्त करने के उपाय से भी लोग परिचित थे।

वासवदत्ता स्वप्न में पुत्र-लाभ का स्वप्न देखती है।[7] वाणासुर की पुत्री उषा को स्वप्न हुआ था कि "स्वप्न में जिसका संग प्राप्त करोगी वही पति होगा।"[8] भुक्ताफल स्वप्न देखता है कि सभी लोग प्रवल जलधारा में बहे जा रहे हैं। किन्तु सभी वहते हुए भी नाच रहे हैं, डूबते नहीं। कुछ समय बाद वह जल प्रवाह वदल जाता है। किसी जाज्वल्यमान व्यक्ति ने उन्हें उठाकर अग्नि में फेंक दिया। किन्तु वहाँ भी जले नहीं। इसके बाद रक्त की वर्षा हुई। पुनः उसकी नींद खुल जाती है। इसका अर्थ कठिन परिश्रम द्वारा अभ्युदय की प्राप्ति है। जो पानी का प्रवाह था, वह संग्राम का सूचक था। नहीं डूबना धैर्य का सूचक है। नाचते हुए बहते हुए निकल जाना किसी के द्वारा रक्षा करने की सूचना देता है। जो ऊर्ध्वरेता तेज से जलते हुए पुरुष थे, वह साक्षात् शंकर भगवान थे। उन्होंने अग्नि में अर्थात्

---

१. वही ८।३।१४७-४८ २. क. स. सा. ८।३।१४९-१५० ३. वही १।१।४५
४. वही १।३।२१ ५. वही १।६।९१ ६. क. स. सा. १।६।१३७-१३९
७. वही, ४।१।१४५ ८. वही, ६।५।१२

महासंग्राम में फेंका। मेघों का उमड़ना भय का सूचक था और रक्त की वृष्टि भय के विनाश का सूचक था। इस प्रकार दिशाओं का लाल हो जाना अभ्युदय का सूचक था।[१] इस तरह स्वप्न विज्ञान द्वारा स्वप्नों के गूढ़ रहस्यों को समझा जाता था।

स्वप्न अशुभ की सूचना भी देते हैं। राजा कनकवर्ष स्वप्न देखता है कि एक कुरूप स्त्री ने उसके गले से मोतियों की माला और मुकुट के रत्न निकाल लिये। इसके बाद उसने विविध प्राणियों के अङ्ग वाले दो वेतालों को देखा। उनके साथ बाहुयुद्ध में राजा ने उन्हें भूमिपर पटक दिया, और वह उनकी पीठ पर चढ़ बैठा। वेताल ने पीठ पर बैठे राजा को पक्षी के समान उड़ाकर समुद्र में फेंक दिया। पुनः समुद्र से निकलने पर राजा ने गले में और रत्नजटित मुकुट पहले के ही समान देखा।[२] राजा इस स्वप्न का फल एक बौद्ध सन्यासी से पूछता है। सन्यासी बताता है कि मोतियों की माला एवं मणि का अपहरण पुत्र एवं रानी के भावी वियोग का सूचक है। समुद्र से निकलने पर माला और रत्नजटित मुकुट की प्राप्ति, उन दोनों के पुनर्मिलन का सूचक है।[३] स्वप्न में प्रिय दर्शन तो सहज स्वाभाविक है। राजा विक्रमशक्ति चित्र फलक में देखी गई सुन्दरी को स्वप्न में देखता है।[४] इस प्रकार प्राचीन भारत के स्वप्न विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं की पुष्टि कथासरित्सागर से होती है।

रोग एवं उपचार—कथासरित्सागर में रोग सम्बन्धी विशेष उल्लेख नहीं है। कुछ रोगों की चर्चा है। गुल्म,[५] जीर्णज्वर,[६] शीतज्वर,[७] नाड़ी व्रण[८] आदि प्रमुख रोग वर्णित हैं।

नाड़ीव्रण—एक ब्राह्मण के पैर में लकड़ी गड़ने से नाड़ीव्रण उत्पन्न हो जाता है।

शल्य चिकित्सा—एक राजा के कान में गोजर घुस जाता है। उसे किसी तरह निकाला जाता है। पहले उसके सिर को गर्म घी से चुपड़ कर दोपहर की कड़ी गर्मी में देर तक सुलाया गया। फिर कान में बाँस की पतली नली लगाकर और दूसरा शिरा जल से भरे घड़े के ऊपर रखे हुए मिट्टी के पात्र में लगायी गयी। तब पसीना और धूप की गर्मी से व्याकुल, अतः ठंढक चाहते हुए कीड़े कान के मार्ग से बाँस की नली में होकर ठंडे घड़े में गिरे। इस प्रकार वह राजा अच्छा हो गया।[९]

· **मुहूर्त्त विचार**—समाज में ज्योतिषियों की प्रतिष्ठा थी। मुहूर्त्त विचार कर ही शुभ कार्य प्रारम्भ किये जाते थे। शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा की जाती थी। यौगन्धरायण राजा उदयन का विवाहमुहूर्त्त निकलवाता है।[१०] इसी तरह नरवाहन दत्त एवं मदनमंचुका का विवाहमुहूर्त्त देखा जाता है। उदयन ज्योतिषियों को बुलाकर शुभ फल देने वाला विवाह-लग्न पूछता है। दक्षिणा आदि से पुरस्कृत ज्योतिषी ने कुछ दिनों के भीतर विवाहलग्न निश्चित किया।[११] उन ज्योतिषियों ने गणना कर पहले ही बता दिया कि आपका यह पुत्र कुछ दिनों तक वियोग का कष्ट झेलेगा। हमलोग शास्त्र की दृष्टि जानते

१. वही, ८।३।१३७-१४६ २. क. स. सा. ९।५।१३३-१३६ ३. वही, ९।५।१३९-४०
४. वही, १८।३।३७ ५. क० स० सा० ३।१।११
६. वही, ३।३।३६ कदाचित्तस्य राज्ञश्च जज्ञे जीर्णज्वरामयः
७. वही, ५।२।८९ सूनोर्विजयदत्तस्य महान् शीतज्वरोऽजनि ८. वही, ५।२।९१ ९. वही, ६।३।४४-४७
१०. वही, ३।२।६२ ११. वही, ६।८।२४७

हैं।[1] ज्योतिषियों द्वारा उन्मादिनी को कुलक्षणी कह दिये जाने से राजा देवसेन विवाह नहीं करता।[2] राजा उदयन कलिंगसेना से विवाह करना चाहता है। ज्योतिषी बुलाये जाते हैं। उन लोगों ने छ महीने बाद लग्न बताया।[3] राजा रत्नाधिप शीलवती की बहन से विवाह करना चाहता है। ज्योतिषी तीन महीने बाद उचित लग्न बताते हैं। उन लोगों ने कहा—यदि आज विवाह किया जायगा तो कन्या दुराचारिणी हो जायगी। राजा न माना। परिणामतः वह सचमुच दुराचारिणी सिद्ध हुई। इसी प्रकार राजा महासेन भी ज्योतिषियों से विवाह मुहूर्त्त पूछता है।[4] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि समाज में गणकों का बड़ा आदर था। उनकी गणना भी सटीक होती थी।[5]



---

१. वही, ६।८।२४८ २. वही, ६।७।६२ ३. वही, ६।६।५

४. क० स० सा० ७।२।५३ ५. वही, १२।३४।११८

अध्याय ६

प्रथम परिच्छेद

शिक्षा

पृष्ठभूमि—प्राचीन भारतीय शिक्षापद्धति, सुनियोजित, परिष्कृत एवं सुसंगठित थी। आध्यात्मिकता के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों एवं आवश्यकताओं का उसमें उचित सन्निवेश था। समाज के एक प्रबुद्ध वर्ग का यावज्जीवन कर्त्तव्य एकमात्र अध्ययनाध्यापन ही था। गुरुकुल शिक्षा एवं संस्कृति के केन्द्र थे, जहाँ सम्पन्न एवं निर्धन समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। आचार्यों का निस्पृह जीवन छात्रों के लिए आदर्श था। भावी सन्तति के पथप्रदर्शक, सांस्कृतिक विरासत के रक्षक[1] एवं नवीन ज्ञानविज्ञान के स्रष्टा ऋषियों की अनवरत साधना के बलपर ज्ञान का प्रकाश सतत देदीप्यमान था। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाला व्यक्ति सुरुचि सम्पन्न धर्मप्रवण एवं भारतीय संस्कृति का प्रतीक होता था। शिक्षा पद्धति आदर्शोन्मुख होती हुई भी यथार्थ से असम्पृक्त नहीं थी। शस्त्र एवं शास्त्र, दर्शन एवं कला सभी विषयों का समान महत्त्व था।

कथासरित्सागर कालीन शिक्षा पद्धति भी इसी पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित थी। कथासरित्सागर में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर तत्कालीन शिक्षा के स्वरूप विकास एवं विशेषताओं का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गुरुकुल—गुरु के निकट रहकर छात्र प्राचीन काल से ही विद्याध्ययन करते थे। मध्यकाल में भी यही व्यवस्था थीं दूर देशों से छात्र विद्याध्ययन के लिए गुरुगृहों में आते थे। कथासरित्सागर में इसके अनेक उदाहरण हैं[2] एक ब्राह्मण शोभावती नगरी से विशाला नगरी आकर ब्रह्मचारियों के बीच निवास कर अध्ययन करता है।[3] इसी प्रकार देवदत्त विद्याध्ययन के लिए पाटलिपुत्र नगर में आता है, एवं वेदकुम्भ नामक अध्यापक से अध्ययन करता है।[4] नामस्वामी नामक ब्राह्मण भी पाटलिपुत्र के जयदत्त नामक उपाध्याय के यहाँ विद्याध्ययन करता है।[5] अग्निदत्त नामक उपाध्याय एक ग्राम में वटवृक्ष के नीचे शिष्यों को पढ़ा रहे हैं।[6]

इन गुरुकुलों के कई रूप देखने में आते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय किसी प्रमुख नगर या ग्राम में रहते थे, जहाँ दूर-दूर से छात्र आकर पढ़ते थे। ये उपाध्याय पूर्ण गृहस्थ जीवन बिताते थे। वृत्ती

---

१. Education in ancient India, A. S. Altekar, Page 340.

"Friends and foes alike have admitted that the Hindu system of Education has been eminently successful in its aim of preservation of the ancient literary heritage."

२. क० स० सा० ३।६।११६ ३. क० स० सा० १३।१।२४ ४. वही, १।७।५६

५. वही, १४।४ २१ ··· गत्वापाटलिपुत्रकम्। जयदत्तमुपाध्यायं विद्याहेतोरुपासदम्॥ ६. वही, ८।६।१५३–५४

अध्यापन थी। अग्निदत्त नामक उपाध्याय का घर पूर्ण सम्पन्न है। गाय, भैंस, घोड़े सभी उनके पास हैं। उस गांव का नाम भी उन्हीं के नाम से है।[1]

अग्रहार—दूसरी कोटि में अग्रहार आते हैं। राजा के द्वारा किसी प्रसिद्ध विद्वान् के सम्मान में गांव दान किये जाते थे। इस प्रकार दान में प्राप्त गांव को अग्रहार कहा जाता था। ये अग्रहार उस युग के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे।

राज्य की ओर से शिक्षा को पूर्ण प्रश्रय मिलता था। उपाध्याय के सम्मान में दिये गये अग्रहारों का विशद उल्लेख क० स० सा० में मिलता है। गंगा तट पर बहुसुवर्ण नाम का अग्रहार था जिसका प्रधान विविध शास्त्रज्ञ गोविन्द दत्त था।[2] इसी प्रकार यमुना तट पर स्थित अग्रहार में वेदज्ञ अग्निस्वामी[3] एवं वृक्षघट नामक अग्रहार में विष्णु स्वामी[4] उपाध्याय पद पर थे। सुघोष नामक प्रसिद्ध अग्रहार में वेदज्ञ ब्राह्मण पद्मशर्मा आसीन थे।[5] इसी तरह कई अन्य अग्रहारों[6] का उल्लेख है जहाँ कोई वेदज्ञ विद्वान् अवश्य रहा करता था।

वीर मित्रोदय के अनुसार जिसमें केवल शुद्र रहते थे वह खेट, शूद्र या द्विज श्रेष्ठ रहते हों ग्राम एवं जहाँ केवल ब्राह्मण रहते हों वह अग्रहार कहा जाता था।[7]

इस तरह के भूमिदान का वर्णन राजतरंगिणी[8] में भी पूर्णतः उपलब्ध है। इन अग्रहारों में विविध शास्त्रों की निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। विविध ताम्रपत्रों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि प्रसिद्ध विद्वानों को भरणपोषण के लिए दिये गये गाँव अग्रहार कहे जाते थे। इन विद्वानों का कार्य अध्यापन था। इस तरह ये गाँव वेदादि अध्ययन के प्रमुख केन्द्र बन गये।

अल्तेकर ने इन अग्रहारों का महत्व बताते हुए लिखा है कि "ये उस समय के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र थे जहाँ छात्र निःशुल्क विविध शास्त्रों का अध्ययन करते थे। अपर्णा चट्टोपाध्याय ने भी इस पर प्रकाश डाला है।[9] स्मृति के टीकाकार लक्ष्मीधर ने स्वयं कितने ही ग्राम विद्वानों को दान में दिये थे,[10] जिसमें श्रोत्रिय, सुख पूर्वक निवास करते थे।[11] गढ़वाल में प्राप्त विवरण के अनुसार पाँच सौ श्रोत्रियों को ग्राम

---

१. वही, ८।६।२०१ २. क० स० सा० १।७।४१–४२ ३. वही, १२।१०।५–६ ४. वही, १२।१६।३

५. वही, १२।६।२००–२०१ ६. वही, ५।२।१५६, ३।६।७

७. वीर० (लक्षण प्र०) "शूद्रैरधिष्ठितं खेटं, ग्रामः शूद्रै द्विजोत्तमैः वा विप्रैरेवाग्रहारः स्यात् कुब्जं सीमान्त वासतः"

८. राज० ६।८९, १।८८, ९०, ९६, ९८, १००, १२१, १७४, २००, ३११, ३१६, ३४०, ३४१, ४१९, ५।४७३, ६।३३६, ७।१८२, १८४, २१४, ६१८, ७५६

९. Education in Ancient India, Page 294.
"Such villages were known as Agrahar villages. Most of these villages were centres of higher education.

१०. J. I. H. Kerala Univ. Vol. XLIV Part 3, Page 763.
The great importanee attached to education by individuals and the state is proved by the existence of numerouns Agrahar villages which wero centres of learning.

११. कृत्यकल्पतरु, भाग २, पृ० ७१

दान दिया गया था।[1]

राजा आदित्यसेन एक ब्राह्मण मठ में प्रवेश करता है।[2] ऐसे अनेक मठों का उल्लेख कथासरित्सागर में है।[3] राजतरंगिणी में भी ऐसे अनेक बौद्ध एवं ब्राह्मण मठों का उल्लेख है, जो शिक्षा के केन्द्र थे।[4] कलचूरी एवं चालुक्य राजाओं ने भी शिक्षा के लिए ऐसे अनेक मठों की स्थापना की थी।[5] क्षेमेन्द्र रचित "देशोपदेश" में काश्मीर के एक ऐसे हिन्दू मठ की चर्चा है, जहाँ गौड़ (बंगाल) देश से भी छात्र अध्ययन के लिए आये हैं।[6] अपर्णा चट्टोपाध्याय के अनुसार कथासरित्सागर में वर्णित हिन्दू मठ, मध्यकाल की देन हैं, जो शिक्षा-केन्द्र थे।[7] इस तरह कथासरित्सागर कालीन शिक्षा-स्थानों में अग्रहार, ब्राह्मणमठ एवं गुरु-गृहों का प्रमुख स्थान है।

प्रमुख विद्याकेन्द्र—पूर्व मध्य काल में वलभी एवं काश्मीर प्रमुख विद्या-केन्द्र थे। कथासरित्सागर में प्राप्त विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है। यद्यपि कथासरित्सागर में वाराणसी[8] एवं तक्षशिला[9] का उल्लेख है, किन्तु उनकी ख्याति शिक्षा के लिए नहीं बताई गई है।

वलभी—वलभी, काश्मीर एवं पटलिपुत्र को प्रमुख शिक्षा केन्द्र बताया गया है। विष्णुदत्त विद्या प्राप्ति के लिए वलभी नगर[10] जाता है। ह्वेनसांग ने वलभी के शिक्षा केन्द्र के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। इत्सिंग ने नालन्दा एवं वलभी को प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र माना है।[11] ह्वेनसांग ने वलभी में बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है। समस्त भारत के विद्वान वलभी के विद्वानों की सम्मति लेने आया करते थे।

काश्मीर—कथासरित्सागर में वलभी के बाद कश्मीर को प्रमुख विद्याकेन्द्र बताया गया है।[12] कश्मीर को धर्म एवं विद्या का प्रमुख स्थान माना गया है। एक विद्वान् पाटलिपुत्र से काश्मीर के विद्वानों को जीतने के लिए जाता है। उसकी भेंट एक ऐसे श्रमण से होती है जो काश्मीर से पाटलिपुत्र के विद्वान् को जीतने आ रहा है।[13] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काश्मीर उस समय का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। काव्य-मीमांसा में भी काश्मीर के कवियों की प्रशंसा की गई है।[14]

---

१. Chandravati Plates, dated Samvat 1150 and 1156.
"Catalouge of Archaeological Exhibits in the Museum at Lucknow". 1915, Page 90-91.

२. क० स० सा० ३।४।१०५, ३. वही, ३.४।३१८ मठमार्यैरधिष्ठितम् ॥, ३।६।६३ द्विजो विप्रमठं ययौ ॥

४. राजत० ७।२१४, ८।२४३, २४०१, ३३२०–२१ ५. B. I. Voll. II PP. 7–17

६. देशोपदेश—पाठ ६ ७. J. I. H. Kerela Univ. Vol. XLIV—Vol. III, P. 764
"Monesteries for Brahamans as centre of learning noticeable in Kathasaritsagar were medieval institutions". ८. क० स० सा० ३।५।५४, ९. वही, ६।१।१०, ६।२।१, ६।३

१०. क० स० सा० ६।६।४३ ११. Education in Ancient India. A. S. Alteker—P. P. 272–23
"From him we learn that Nalanda and Valabhi were the two most famous centres of education in the 7 th century A. D." १२. क० स० सा० १०।९।२१४

१३. वही, १०।१०।५–६ १४. का० मी०, पृ० ८३

पाटलिपुत्र—कथासरित्सागर के समय तीसरा प्रमुख शिक्षा केन्द्र पाटलिपुत्र था।[1] इसी तरह वेदकुम्भ नामक उपाध्याय से अध्ययन करने छात्र पाटलिपुत्र आते हैं।[2] इस प्रकार के और भी उल्लेख कथासरित्सागर में हैं, जो पाटलिपुत्र[3] को प्रसिद्ध विद्या केन्द्र बताते हैं। काव्यमीमांसा से भी इस मत की पुष्टि होती है। काव्यमीमांसा के अनुसार पाटलिपुत्र में पाणिनि, पतंजलि आदि की परीक्षा हुई थी। "श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार परीक्षा"।[4]

शिष्य—गुरुगृह में रहकर शिष्य अपनी शुश्रूषा से उपाध्याय को प्रसन्न करते थे। गुरू की अनवरत सेवा करना छात्र का परम कर्त्तव्य था। गुरू के प्रति अटूट निष्ठा एवं श्रद्धा के बल पर ही विनीत छात्र ज्ञानार्जन करता था। गुरु का गौरव एवं गुरु शुश्रूषा का महत्व भारतीय वाङ्मय[5] में भरा पड़ा है। कथासरित्सागर कालीन शिष्य में भी गुरु के प्रति अटूट आस्था थी। वह गुरुसेवा करता हुआ अध्ययन करता था।[6] दो शिष्य गुरु के चरणों को दबाते हुए परस्पर झगड़ पड़ते हैं।[7] शिष्य ब्राह्मण या क्षत्रिय ही होते थे। कथासरित्सागर में इन्हीं का वर्णन मिलता है। वैश्य का केवल एक उदाहरण मिलता है जब कि उसे केवल लिखना एवं थोड़ा गणित सीखने का अवसर मिलता है। वणिक् कुमारदत्त के पुत्र ने गुरु से लिखना और कुछ गणित सीखा।[8] अलबेरुनी का कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि मध्यकाल में वैश्य को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था।[9]

अवस्था—विद्यारम्भ पांच वर्ष की अवस्था में होता था। मध्ययुगीन लेखक अपरार्क[10] और स्मृतिचन्द्रिका[11] ने मार्कण्डेय पुराण को उधृत करते हुए सन्तान के विद्यारम्भ की अवस्था पांच वर्ष निर्धारित की है। उपनयन संस्कार के बाद ही छात्र गुरुकुल में जाने के अधिकारी होते थे। कथासरित्सागर में उपनयन संस्कार के बाद ही छात्र के गुरुकुल में भेजे जाने का उल्लेख है। वररुचि, उपनयन संस्कार के बाद ही अध्ययन के योग्य माने गये।[12] विष्णुदत्त सोलह वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के लिए गया।[13] विक्रमादित्य ने उपनयन के बाद ही विद्याध्ययन किया।[14] क्षत्रियोचित संस्कार के बाद ही उदयन ने विद्या एवं धनुर्वेद का अध्ययन किया।[15] इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी कथासरित्सागर में हैं।[16] समाज के धनी एवं निर्धन सभी वर्ग के लोगों में अध्ययन की समान प्रवृत्ति थी। सम्पन्न घर के छात्र भी कठिनाइयाँ झेलते हुए दूर शिक्षा केन्द्रों में अध्ययन करने जाते थे। कथासरित्सागर में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। मालवं निवासी श्रीधर ब्राह्मण ने अपने पुत्रों को विद्याध्ययन के लिए देशान्तर भेज दिया।[17] कोई कुण्डिनपुर से पाटलिपुत्र

१. क० स० सा० २।२।८ २. वही, १।७।५६ ३ वही, १।४।२, १।२।३३–६५
४. का० मी०, पृ० १३५ ५. मनु २।२३३ गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
मनु २।२१८ यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥
६. क० स० सा० १।७।५६ ७. वही, १०।७।६३ ८. वही, १।६।३२
९. Alberunies India Chap XII p 125 १०. अपरार्क, पृ० ३०–३१ ११. स्मृति चन्द्रिका, १, पृ० २६
१२. क० स० सा० १।२।७४ १३. वही, ६।६।४३ १४. वही, १८।१।५६
१५. वही, २।१।७२ १६. वही, १२।७।११६
नीलकण्ठाभिधः पित्रा कृतसंस्कार पद्धतिः ॥ सोऽहं गुरुकुलाधीतविद्यो बाल्ये निजं गृहम्।
१७. वही, १०।७।७–८

विद्याध्ययन करने गया।[1] इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जब सम्पन्न परिवार से छात्र गुरुगृहों में अध्ययन करने जाते हैं।[2] भिक्षाटन ब्रह्मचारी का दैनिक कर्तव्य था।[3]

गुरु—कथासरित्सागर में अधिकांशतः अध्यापक को उपाध्याय ही कहा गया है।[4] इसके अनेक उदाहरण हैं।[5] मनुस्मृति के अनुसार वेद, वेदांगादि का जीविका के लिए अध्यापन करने वाला व्यक्ति उपाध्याय कहा जाता है।[6] उपाध्याय की सामान्य योग्यता, वेदज्ञता है। कथासरित्सागर में वर्णित उपाध्याय, वेद विद्या विशारद[7] हैं। अकेले गुणशर्मा ने बारह शाखाओं का अध्ययन किया। उसने दो सामवेद से, दो ऋग्वेद से, सात यजुर्वेद से ओर एक अथर्ववेद से शाखाओं का अध्ययन किया।[8] वेदविद्या में पारंगत उपाध्याय ही अध्यापन के अधिकारी थे। गुरु, शिष्य को पुत्रवत् स्नेह देते थे, उसकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करते थे।[9] विद्या अध्यापक की सम्पत्ति नहीं धरोहर थी।[10]

पाठ्य विषय—पूर्वमध्यकाल में भी पाठय विषयों में वेद का महत्त्व पूर्ववत् विद्यमान था। देश के अध्येता, वेद का अध्ययन कर वैदिक यज्ञ करते थे।[11] मध्यकालीन लेखकों के अनुसार, छात्र, गुरु के संरक्षण में वेद का अध्ययन करते थे। स्मृतिकालीन[12] वेद का महत्व इस युग में भी यथावत् था। कथासरित्सागर में वर्णित पाठय विषयों में वेद अपरिहार्य है। आदित्य शर्मा ने पहले वेद का अध्ययन किया फिर अन्य विद्याओं एवं कलाओं का।[13] करभक नामक ब्राह्मण वेद विद्याविद् था।[14] गुणशर्मा समस्त वेदविद्याओं का ज्ञाता था।[15] मध्यकालीन लेखकों ने वेद के महत्व पर पूर्ण प्रकाश डाला है। राजशेखर ने कवियों के लिए भी वेदशास्त्र का ज्ञान आवश्यक माना है।[16] मेधातिथि ने मनुस्मृति का उद्धरण प्रस्तुत किया है।[17] लक्ष्मीधर वृहस्पति को उधृत करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मणों का पहला कर्तव्य वेद पढ़ना है, तदनन्तर स्मृति और सदाचार।[18] अलबरुनी का कहना है कि केवल ब्राह्मण ही नहीं, अपितु क्षत्रिय भी वेदाध्ययन करते थे।[19] चौहान कालीन चण्डेल शिलालेखों में वेदपाठी ब्राह्मणों की प्रशंसा की गई है।[20] कथासरित्सागर में वेदाध्ययन के महत्व पर बार-बार प्रकाश डाला गया है।[21]

---

१. क० स० सा० १४।४।२१ २. वही, १४।४।२१, ६।६।४३, १।६।४२४-२५ ३. वही, १४।४।२४
४. वही, १२।२६।३२ ५. वही, १।६।३२, ८।६।१५३, १३।१।८४, १।७।५६, १४।४।२१
६. मनु० २।१४१ ७. क० स० सा० "शिष्यानध्यापयामास वेदविद्याविशारदः। ३।६।११६
८. वही, ८।६।१५६ ९. कृत्यकल्पतरु—ब्रह्मचारी काण्ड, पृ० १९९-२०१, २१०-२७
१०. मनु २।११ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्षणम्। असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमः॥
११. E. I. Vol 1. P 41
१२. मनु ३।२ वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥
१३. क० स० सा० ८।६।१६१ १४. वहीं, ६।१।१६४ १५. वही, ८।६।८...वेदविद्यान्तगो युवा।
१६. का० मी० पृ० ६ १७. मेधा० मनु ४।१
१८ कृत्यकल्पतरु—ब्रह्मचारी काण्ड, पृ० २६६-६७
१९. Sachan, Vol II P. 126, E. I. Vol 20 P 126–128
२०. D. Sharma. Chouhan Dynesty P. 287 २१. वही, १२।७।१५५, १२।६।६९

शस्त्र विद्या—वेद के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण पाठ्य विषय शस्त्र विद्या है।[1] छात्र वेदाध्ययन के साथ-साथ शस्त्र विद्या का अभ्यास किया करते थे। शस्त्रविद्या भी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों के लिए थी। कथासरित्सागर में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शस्त्रविद्या में भी निपुणता प्राप्त करते हुए चित्रित हैं। वसुदत्त ब्राह्मण शस्त्रविद्या एवं वेदविद्या का अध्ययन करता है। श्री दर्शन ब्राह्मण भी वेद के साथ-साथ शस्त्र-विद्या में निपुणता प्राप्त करता है।[2] गुणशर्मा ब्राह्मण भी शस्त्र विद्या में निपुण है।[3] श्रीदत्त ब्राह्मण अस्त्रविद्या एवं बाहु युद्ध में कुशल है।[4] इसी प्रकार अशोक दत्त ब्राह्मण भी निपुण है।[5] ब्राह्मण महीपाल अस्त्रशस्त्रविद्या का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करता है।[6] तत्कालीन शिक्षित ब्राह्मण सैनिक भी हैं एवं राजा भी। वीरवर[7] एवं अशोक दत्त[8] ब्राह्मण सैनिक हैं। दाक्षिणात्य युवा ब्राह्मण[9] नरवाहनदत्त का रक्षक नियुक्त है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि शस्त्रविद्या को पाठ्यविषयों में प्रमुखता थी जिसकी शिक्षा ब्राह्मण भी ग्रहण करते थे। राजतरंगिणी[10], कलचूरी एवं चालुक्य वंश के शिलालेख[11] तथा मध्यकालीन शिलालेखों से भी[12] इस मत की पुष्टि होती है।

विद्या—वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, तर्क आदि विद्या के अन्तर्गत गिने गये हैं। समय-समय पर इनकी संख्या बदलती रही है। प्रारम्भ में केवल चारों वेद ही विद्या माने गये। पुनः इनकी संख्या चौदह हो गई। चतुर्दश विद्या में चारों वेद, छ वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा एवं तर्क माने गये हैं।[13] राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में चौदह विद्याओं को माना है।[14] वेद एवं वेदांग के अतिरिक्त पुराण, आन्विक्षिकी, मीमांसा और धर्मशास्त्र मिलाकर चौदह विद्या कही गई है। राजशेखर ने काव्य को पन्द्रहवां शास्त्र माना है।[15] कुछ विद्वानों ने कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति को जोड़कर अष्टादश विद्या माना है। विष्णुपुराण के अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व एवं अर्थशास्त्र भी अष्टादश विद्याओं में हैं।[16] इस प्रकार शास्त्रविस्तार के साथ-साथ विद्याओं की संख्या भी क्रमशः बढ़ती गई है। कथासरित्सागर में वेद के साथ विद्याओं का भी उल्लेख है।[17] उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के लिए साक्षात् विद्यायें आती हैं।[18] शिव सभी विद्याओं की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं।[19] इन समस्त विद्याओं में व्याकरण का महत्त्व

---

१. क० स० सा० १२।७।१५५ २. क० स० सा० १२।६।५९ ३. वही, ८।६।८ ४. वही; २।२।१५
५. वही, ५।२।११९ ६. वही, ९।६।९ ७. वही, १२।११।८-१२ ८. वही, ५।२।१२६-२७
९. वही, ९।३।८० १०. राज० ८।३०१८, १०७१, १३४५ ११ इ० आइ०, ४-१५८
१२. P. V. Kane—Histri of Dharm, Vol. II. Chcp. 1, P. 489
१३. सं० कोष, पृ० ३६९ आप्टे—षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश॥
१४. का० मी०, पृ० ९ तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि, युदुत वेदाश्चत्वारः षडाङ्गानि चत्वारि शास्त्राणि।
१५. का० मी०, पृ० ९, पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्।
१६. वि० पु० शब्दकल्पद्रुम में उधृत—
अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्याह्यष्टादशैव ताः॥
१७. क० स० सा० ८।६।१६१ "आदित्य शर्माधीयानो वेदान् विद्याः कलास्तथा" १८. वही, ६।८।१५५
१९. वही, ३।५।७

पूर्व मध्यकाल में अधिक था। कथासरित्सागर में प्राप्त अध्ययनीय विषयों में व्याकरण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। चतुर्दश विद्याओं में व्याकरण भी परिगणित है। इत्सिंग के अनुसार काशिकावृत्ति एवं पातंजल महाभाष्य का आद्योपान्त अध्ययन किया जाता था।[1] कथासरित्सागर में प्राप्त वररुचि की जीवनी के अनुसार वे वर्ष से पढ़ते हैं। श्रुतधर बालक वर्ष से विद्याध्ययन कर संसार में व्याकरण को प्रतिष्ठित करेगा, ऐसा सरस्वती का वरदान है। श्रुतधर वररुचि उनसे अध्ययन कर व्याकरण शास्त्र प्रतिष्ठापित करते हैं।[2] आचार्य पाणिनि के सम्बन्ध की कथा भी कथासरित्सागर में उपलब्ध है जिसके अनुसार शिव की कृपा से उन्हें व्याकरण का ज्ञान मिला। कथासरित्सागर में व्याकरण को सभी विद्याओं का मुख बताया गया है।[3] व्याकरण वेद-पुरुष का मुख माना गया है।[4] मुख होने से ही वेदांगों में व्याकरण की मुख्यता है।

मध्ययुग में व्याकरण सर्वाधिक प्रचलित विषय था।[5] राजा सातवाहन व्याकरण न जानने से एक विदेशी से अपमानित होते हैं। गुणाढ्य ने बताया कि सब विद्याओं का मुख नवीन व्याकरण बारह वर्षों में आता है।[6] इससे प्रतीत होता है कि साधारणतः व्याकरणशास्त्र के अध्ययन में बारह वर्षों का समय लगता था। अल्तेकर ने दस वर्षों का समय माना है।[6]

उस समय पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त अन्य व्याकरण भी रचे जा चुके थे। कातन्त्र अथवा कलापक व्याकरण का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है। राजा सातवाहन को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाने में गुणाढ्य बारह वर्षों का समय माँगते हैं। उनका प्रतिद्वन्द्वी शर्ववर्मा छह वर्ष में ही व्याकरण सिखाने की प्रतिज्ञा करता है। स्वामी कार्त्तिकेय की कृपा से वह कातन्त्र व्याकरण बनाने में सफल हो जाता है। उन्होंने प्रथम सूत्र "सिन्धो वर्ण समाम्नायः" का उच्चारण किया।[7] आगे का सूत्र शर्ववर्मा बोल उठता है। इस पर स्वामी कार्तिकेय ने कहा कि 'यदि तुम मानव सुलभ चंचलता से आगे का सूत्र स्वयं न बोल बैठते तो यह व्याकरण पाणिनीय व्याकरण को नीचा दिखा देता।[8] उन्होंने बताया कि स्वल्प विस्तार के कारण यह कातन्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगा। मेरे वाहन मयूर के पंख के नाम पर इसका दूसरा नाम "कलापक या कलाप भी होगा।[9] इस कातन्त्र व्याकरण का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। शूद्रक कवि विरचित पद्म प्राभृतिक भाग में कातन्त्र का उल्लेख मिलता है।[10] महाभाष्य[11] में भी उल्लेख है। पाणिनि, वररुचि के अतिरिक्त वैयाकरण व्याडि का उल्लेख भी कथासरित्सागर में है जिन्होंने पहले तो शास्त्रार्थ में पाणिनि को हराया, किन्तु आठवें दिन शिव के हुंकार से हार गये। व्याडि

१. Education in Ancient India, p. 137 ६—क० स० सा० ११६।१४४
२. क० स० सा० १।३।३९ ३. वही, १।४।२२ ४. वैदिक साहित्य, पृ० ३०२—मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
५. B. A. I, Page 138. "From Alberuni we learn that grammar held its Position as the most popular subject in the IIth century also."
६. B. A. I, Page 158. "The entire grammar course must hsve covered a Period of ten years." ७. क० स० सा० १।७।१० ८. वही, १।७।१२ ९. वही, १।७।१३
१०. प० प्रा० पृ० १८ संस्कृत व्या० शा० इति०, मु० मीमांसक, पृ० ४०० पर उधृत।
११. महाभा० ४।२।६५—इह माभूत् महावार्तिककारः कलापकः।

अपने को ऐन्द्र व्याकरण का ज्ञाता बताते हैं। पाणिनी से हार जाने के कारण ऐन्द्र व्याकरण पृथ्वी से नष्ट हो गया।[१] इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व ऐन्द्र व्याकरण का ही अध्ययन किया जाता था। प्रातिशाख्य का अध्यन भी वेदाध्ययन का अंग है। उसका उल्लेख भी कथासरित्सागर में है।[२]

कला—चतुर्दश विद्या के साथ-साथ कलायें भी पाठय विषय में संकलित थीं। कथासरित्सागर में वेदविद्या एवं कला का एक साथ उल्लेख किया गया है। आदित्य शर्मा वेद, विद्या एवं कला का अध्ययन करता है।[३] राजा विक्रमादित्य विद्या एवं कला का अध्ययन करता है।[४] इसी प्रकार नरवाहन दत्त के लिए सभी कलायें स्वयं उपस्थित होती हैं।[५] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेद एवं व्याकरणादि शास्त्रों के साथ कला का अध्ययन भी अपेक्षित था।

सामान्यत: विभिन्न कलाओं की शिक्षा, छात्र गुरुगृहों में रहकर सीखा करते थे।[६] नारद-स्मृति से भी इसकी पुष्टि होती है।[७] शिल्प की कोई अवधि निश्चित नहीं थी। कुशलता प्राप्त होने तक की अवधि बताई गई है।[८] ज्यादातर यह विद्या वंश परम्परा के आधार पर विकसित होती रही।

ज्योतिष—कथासरित्सागर में ग्रह लग्नादि विचार करने वाले ऐसे ज्योतिषियों की कमी नहीं जिनकी जीविका ही ज्योतिषविद्या है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन पाठ्यविषयों में ज्योतिष विद्या भी अवश्य ही सम्मिलित थी। राजा महासेन, ज्योतिषी से विवाह लग्न पूछता है।[९] यत्रतत्र ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी उल्लेख है।[१०] कथासरित्सागर में ऐसे ज्योतिषियों के अनेक उदाहरण हैं।[११] अलबरुनी ने तत्कालीन पाठ्याविषयों में ज्योतिषविद्या के महत्व का वर्णन किया है।[१२] ज्योतिष-विद्या के अध्ययन के लिए अलग व्यवस्था थी।[१३] राजमार्तण्ड, भीमपराक्रम, भुजवलनिबन्ध, तथा सोमेश्वर लिखित मानसोल्लास आदि पूर्व मध्यकाल के प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ हैं।[१४]

आयुर्वेद—ज्योतिष विद्या के समान ही आयुर्वेद भी उस समय के लोकप्रिय विषयों में से एक था। कथासरित्सागर में अनेक वैद्यों का उल्लेख है।[१५] राजशेखर ने कवियों के लिए आयुर्वेद का ज्ञान भी आवश्यक बताया है।[१६] मध्यकाल में औषधि विज्ञान का पूर्ण विकास हो चुका था। अरबों के सिन्ध विजय के बाद हिन्दू वैद्य बगदाद ले जाये गये थे। तथा प्रसिद्ध आयुर्वेद के ग्रन्थों का उनसे अरबी भाषा में अनुवाद कराया गया था।[१७] इस प्रकार कथासरित्सागर कालीन अध्ययनीय विषयों में वेद, व्याकरण, कला,

---

१. क० स० सा० ११४।२५ २ वही, ११२।३८ ३. वही, ८।६।१६१ ४. वही, १८।१।५६

५. क० स० सा० ६।८।१५५ ६. बृहस्पति—विवादरत्नाकर, पृ० १४१

विज्ञानमुच्यते शिल्पं हेमकुप्यादि संस्थितिः। नृत्यादिकं च तच्छिक्षान् कुर्यात् कर्म गुरोर्गृहे ॥

७. ना० स्मृ० शुश्रूषाम्युपगम प्रकरण—१७—२२

८. Edu in Anc. Ind. P. 186 ९. क० स० सा० १२।३४।११८

१०. वही, १४।२।४१ ११. वही, १२।३६।१८८, ८।७।१२९, ९।६।९६, १२।४।१२६, ९।१।१८०, १२।४।१६९, ३।५।५२–११६, २।४।१३, ४।१।७०–७९, ६।७।१७०–१७३ १२. Sachau–Vol 1 P. 152–53

१३. हेमचन्द्र-द्वाश्रयकाव्य सर्ग १५, J.R.A.S. Vol XLIV. P.414 १४. Socio Eco Hist of N.India P.151

१५. क० स० सा० ७।५।९०, ७।८।११, ७।७।४६, ३।१।१५, १२।१८।१४

१६. का० मी०, पृ० ६ १७. A short Hist of Muslim rule in India Ishwari Pd. P. 31

ज्योतिष एवं आयुर्वेद प्रमुख हैं।

साहित्य का अध्ययन भी शास्त्र के रूप में किया जाने लगा था। राजशेखर ने साहित्य विद्या को पाँचवीं विद्या माना है, जो विद्याओं का सारतत्त्व है।[1] कथासरित्सागर में प्राप्त उल्लेखों से काव्य सम्बन्धी मान्यता की पुष्टि होती है। 'मृगाङ्कदत्त कहता है—"एकः सत् काव्यशब्दानामिव शब्दो निरर्थकः' राजा लक्षदत्त, कार्णाटिक को सुभाषित सुनाने के लिए कहता है।[2] कार्णाटिक सुन्दर काव्यमय शैली में सुभाषित सुनाता है।[3]

बौद्धशिक्षा—वैदिक शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ बौद्ध मठों में भी बौद्धशिक्षा की व्यवस्था थी। केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही वैदिक शिक्षा के अधिकारी रह गये थे। वैश्य भी वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित हो चुके थे।[4] अतः बौद्ध विहारों में वैदिक शिक्षा के अनधिकारी छात्र, बौद्धधर्म में दीक्षित हो अध्ययन करते थे।

शास्त्रार्थ—विद्वत्ता की परीक्षा, शास्त्रार्थ विधि के द्वारा की जाने की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है। विद्वान् एक स्थान से दूसरे शिक्षास्थानों में जाकर शास्त्रार्थ के लिये चुनौती देते थे। जितने विद्वानों को जो शास्त्रार्थ में पराजित करता था वह उतना ही[5] बड़ा विद्वान् माना जाता था। शास्त्रार्थ का उपनिषत्[6] एवं काव्यमीमांसा[7] आदि ग्रन्थों में उल्लेख है।

कथासरित्सागर में शास्त्रार्थ के कई प्रसंग उपलब्ध हैं। व्याडि एवं पाणिनि के बीच हुए शास्त्रार्थ में पहले पाणिनि पराजित होते हैं। पुनः शिव की कृपा से व्याडि को पराजित करने में सफल हो जाते हैं।[8] पाटलिपुत्र के सिंहाक्ष राजा के दरबार में कश्मीर से एक विद्वान् आकर शास्त्रार्थ के लिए ललकारता है।[9] काश्मीर से पाटलिपुत्र[10] एवं पाटलिपुत्र से काश्मीर[11] शास्त्रार्थ के लिए जानेवाले विद्वान् का उल्लेख है। जयानक लिखित पृथ्वीराज विजय के अनुसार चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय के समस्त राजदरबार के पण्डितों के द्वारा विद्वानों की परीक्षा ली जाती थी।[12] मध्यकाल में शास्त्रार्थ ही एकमात्र विद्वत्ता की कसौटी थी।

स्त्री शिक्षा—स्त्री शिक्षा का प्रचार मध्यकाल की विशेषता है। यद्यपि लड़कियों के लिए उपनयन संस्कार वर्जित था, फिर भी सम्पन्न परिवारों में उनकी सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध था। ललित विस्तार के अनुसार शिक्षित परिवारों में स्त्रियाँ कविता एवं शास्त्राध्ययन करती थीं।[13] हाल के गाथा

---

१. का० मी०, पृ० १० "पञ्चमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि क्रियाणां निष्यन्दः।
२ क० स० सा० १२।६।३४ ३. क० स० सा० ९।३।३१
४. E. A-I. A. S, Altckar, Page "Vaishyas were excluded from tho vedic studies in direct opposition to the Smrities ५. क० स० सा० १०।९।१३३ ६. बृहदारण्यकोपनिषत् ३।६–८
७. का० मी० पृ० १३४–१३५ "महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्"
८. क० स० सा० १।४।२५ ९. क० स० सा० १०।१०।६३-६४ १०. वही. १०।१०।१०
११. वही, १०।१०६ १२. पृथ्वीराजविजय–जयानक, सम्पादक, ओझा श्लोक ६-३०
१३. Edu in Ancint India, P. 235–36

सप्तशती में सात कवयित्रियों का उल्लेख है।[१] राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी स्वयं विदुषी थी। विजयांका प्रसिद्ध कवयित्री थी।[२]

कथासरित्सागर कालीन स्त्रियाँ प्रबुद्ध, एवं कलाकौशल में प्रवीण थीं इसमें संदेह नहीं। अन्तर पाठ्य विषयों का अवश्य था। शब्द शास्त्र, काव्यशास्त्र के अतिरिक्त नृत्य गीत, वाद्य, चित्रकला आदि उनके प्रिय विषय थे। इन कलाओं का ज्ञान उनके लिए अपेक्षित था।

राजा सातवाहन के रनिवास की एक रानी अपने शब्दशास्त्र के ज्ञान का अच्छा परिचय देती है। जलक्रीड़ा के समय "मोदकैः" (मा + उदकैः) का श्लिष्ट प्रयोग करती है।[३] अलङ्कारवती ने अपने पिता से ही विद्या सीखी।[४] रत्नप्रभा ने विद्याओं का अध्ययन किया।[५] प्रभावती को विद्याबल था।[६] नृत्यगीतादि में प्रवीणता के अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं। मृगावती नृत्यगीतादि कलाओं में निपुण थी।[७] मदनमञ्जुका ने भी नृत्यगीतादि की शिक्षा ग्रहण की।[८] राजा हरिवर ने लब्धवर नाट्याचार्य की अन्तःपुर की रानियों को नाट्यशिक्षा देने के लिए नियुक्त किया।[९] वीणावादन में वे विशेष कुशल थी। चित्र रचना उनका प्रिय विषय था।[१०] इस प्रकार क० स० सा० में विभिन्न कलाओं में निपुण स्त्रियों की संख्या अधिक है।[११] मदनसुन्दरी ने अपने प्रिय का चित्र बनाया।[१२] कामसूत्र में स्त्रियों के लिए चौंसठ कलाओं का ज्ञान आवश्यक माना है।[१३] इसकी उपयोगिता में बताया गया है कि वियुक्त होने पर, विपत्ति में, अपरिचित स्थान में अपनी कलाओं द्वारा स्त्रियाँ सुखपूर्वक रह सकती हैं।[१४] कथासरित्सागर में भी मनोविनोद के लिए स्त्रियाँ इन कलाओं का अभ्यास करती थीं।[१५] स्त्रियों की ललित कला सम्बन्धी कुशलता का ज्ञान मध्यकालीन अन्य कृतियों से भी होता है। हर्षचरित[१६], प्रियदर्शिका[१७], पृथ्वीराज-विजय[१८] एवं राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी में[१९] कलाकौशल में निपुण स्त्रियों का वर्णन मिलता है।

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार इस युग में भी शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन ही था। ज्ञान की पिपासा से ही छात्र भीषण कठिनाइयाँ सह कर भी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाते थे। सुखी सम्पन्न व्यक्ति भी ज्ञानार्जन की अभिलाषा से सुदूर गुरुकुलों में रहकर वर्षों ज्ञानविज्ञान का अध्ययन करते थे। कथासरित्सागर में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।[२०] यह परम्परा प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुसार ही है।[२१]

---

१. गाथासप्तशती—श्लोक १।८७, ९०, ६३, ९१   २. राजशेखर—सूक्तिमुक्तावली

३. क० स० सा० १।७।११६–११८,   ४. वही, ९।१।२३,   ५. वही, ७।२।१२६,

६. वही, १४।२।१११   ७. वही, २।१।४०   ८. वही, ६।८।१७०   ९. वही, ६।२।२६६

१०. वही, ९।१।६   ११. वही, ९।५।९२, ८।२।२३४

१२. क० स० सा० ९।५।६८   १३. कामसूत्र ३।१३, चातुःषष्टिकान् योगान् कन्या रहस्येकाकिन्यभ्यसेत्।

१४. कामसूत्र ३।२०—तथा पतिवियोगे च व्यसनं दारुणं गता। देशान्तरेऽपि विद्याभिः सा सुखेनैव जीवति॥

१५. क० स० सा० १७।४।२६   १६. हर्षचरित—अंग्रेजी अनु० थोमस, पृ० १२१

१७. प्रियदर्शिका—प्रथम अंक   १८. पृथ्वीराज विजय श्लो० २८   १९. कर्पूरमंजरी ३।१४–३४

२०. क० स० सा० १०।७।८, १४।४।२१, ६।६।४३   २१. J. I. H. Keral Univ. Vol 94, Part. III, P. 763

शिक्षा का महत्त्व :—मध्यकालीन समाज, शिक्षा के महत्त्व से पूर्ण परिचित था। कथासरित्सागर में शिक्षा के महत्त्व पर बार-बार प्रकाश डाला गया है। गोविन्ददत्त ब्राह्मण के घर विश्वानर नामक ब्राह्मण अतिथि आता है। गोविन्द दत्त के पुत्र मूर्ख थे। वे अतिथि का सम्मान नहीं करते थे। मूर्ख पुत्रों के कारण विश्वानर, गोविन्द दत्त का भोजन भी ग्रहण नहीं करता। वह कहता है "मूर्ख पुत्रों के कारण तुम भी पतित हो गये हो। अतः तुम्हारे यहाँ भोजन करने से प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।[1] सम्पत्तिशाली होने पर भी व्याडि एवं इन्द्र दत्त विद्याध्ययन के लिए गये।[2] तपोदत्त ब्राह्मण बाल्यावस्था में विद्याध्ययन न करने से दुखी था। समाज में उसकी निन्दा होती थी।[3] विद्याध्ययन के लिए श्रम अपेक्षित था। बिना लिखे पढ़े विद्या नहीं आती। तपोदत्त ब्राह्मण ने तप से विद्या प्राप्त की। मनुष्य रूप में इन्द्र वहाँ आकर बालू से पुल बाँधने का यत्न कर रहे थे। तपोदत्त ब्राह्मण उनकी इस मूर्खता पर हंसने लगा। इस पर इन्द्र ने प्रगट होकर कहा कि बिना पढ़े लिखे विद्या प्राप्ति का यत्न, बालू से पुल बनाने के समान ही है।[4]

---

१. क० स० सा०, १।७।४८ २. वही, १।३।४४ ३. वही, ७।६।१३–१४

४. वही, ७।६।२०–२४ यद्येवं वेत्सि तद् विद्यां विना पाठं विना श्रुतम्। कस्मात् व्रतोपवासाद्यैः स्वं साधयितुमुद्यतः ॥ अनक्षरो लिपिन्यासो यद् विद्याध्ययनं विना, एवं यदि भवेत् एतन्नह्यधीयीत कश्चन।

द्वितीय परिच्छेद

विज्ञान

यद्यपि पाठ्य विषयों में विज्ञान सम्बन्धी किसी विषय का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु प्राप्त विवरणों से तत्कालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों का पता चलता है। यह वैज्ञानिक प्रगति निश्चय ही बौद्धिक चिन्तन एवं प्रयोग का परिणाम है। कुछ तो विभिन्न जातियों द्वारा अपनाये गये शिल्पगत व्यवसाय में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कुशलता का परिणाभ है तथा कुछ मनुष्य की गवेषणात्मक प्रतिभा का।

कथासरित्सागर में प्राप्त कुछ वैज्ञानिक उपलब्धियाँ बहुत ही चौंका देने वाली हैं। उनकी तुलना अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रगति से की जा सकती है। ये वैज्ञानिक तथ्य काल्पनिक ही नहीं, कुछ बहुत ही विश्वसनीय हैं। कहा गया है कि "अधिक जल-संघर्ष से जैसे अधिक बिजली उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भीषण और गम्भीर संकट के समय जिसकी बुद्धि का स्फुरण होता है, वही धीर है।[1] वे औषधि घृतादि के लेप से मृत शरीर को रखने की कला से परिचित थे।[2] काष्ठशिल्प[3] के अद्भुत नमूने देखने को मिलते हैं। यन्त्र द्वार वापिका[4] धारायन्त्र[5] आदि के निर्माण में कुशल थे।

कूटयंत्र के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें पंचभूतों के समुदाय से बना हुआ एक जगत् यन्त्र है।[6] एक यन्त्र पृथ्वी-तत्त्व प्रधान है, जो द्वार आदि को बन्द कर देता है। इस यन्त्र द्वारा बन्द किये गये द्वार किसी से भी नहीं खुलते। दूसरा इस जल-तत्त्व प्रधान यन्त्र का आकार सजीव सा प्रतीत होता है। तीसरा तेजस्तत्त्व प्रधान यन्त्र ज्वाला फेंकता है। चौथा वाततत्त्व प्रधान यन्त्र, आने-जाने, चलने-फिरने आदि की क्रिया करता है। पाँचवां आकाश तत्त्व प्रधान यन्त्र, आकाश में होने वाला वार्तालाप करता है।[7] एक चक्रयन्त्र भी था।[8] इनके विश्लेषण से वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पता चलता है। वैज्ञानिक प्रगति की ओर भी वे उन्मुख थे, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. क० स० सा० २।४।४१ २. वही, ८।२।५० ३. वहीं, ७।९।२६ ४. वही, १२।१३।१५०

५. वही, १८।३।१७ ६. क० स० सा० ६।३।४३-४६

पृथ्वीप्रधानं यन्त्रं यद्द्वारादि विदधाति तत्। पिहितं तेन शक्नोति न चोद्घाटयितुं परः ॥
आकारस्तोयतन्त्रोत्थः सजीव इव दृश्यते। तेजोमयं तु यत् यन्त्रं तज्ज्वाला परिमुञ्चति ॥

७. वातयन्त्रं च कुरुते चेष्टागत्यागमादिकाः। व्यक्तीकरोति चालापं यन्त्रमाकाशसम्भवम् ॥

८. वही, ६।३।४७

तृतीय परिच्छेद

ललित कला

कामसूत्र में चौंसठ कलाओं की गणना की गई है।[1] कला की प्रशंसा में कहा गया है कि कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने मात्र से ही सौभाग्य जाग उठता है।[2] भौतिक पदार्थों में कला ही सौन्दर्य का प्रतीक है। लालित्य प्रधान होने के कारण ही इन्हें ललित कहा गया है। ललित कलायें मुख्यत: पाँच हैं—काव्य, संगीत, चित्र, मूर्त्ति और वास्तुकला। कथासरित्सागर में इन सभी का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

संगीत कला—संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। नृत्य, गीत एवं वाद्य कला अधिकतर उच्चवर्गीय परिवारों में विकसित हुईं। बाण ने आभिजात्य वर्ग के लिए नृत्यगीतादि कलाओं का ज्ञान सांस्कृतिक दृष्टि से आवश्यक माना है।[4] राजतरंगिणी के अनुसार राजा जयापीड़, व्याकरण के साथ-साथ नृत्यगीतादि कलाओं में भी निपुण था।[5] राजा हर्ष भी कुशल गायक थे एवं नृत्य, गीत के प्रेमी थे।[6]

कथासरित्सागर में नृत्य, गीत एवं वाद्य के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। ऐसे अनेक राजा एवं ब्राह्मणों का वर्णन है जो विभिन्न विद्या के साथ-साथ नृत्य गीतादि में भी निपुण थे।[6] इसे गान्धर्व विद्या माना गया है, क्योंकि गन्धर्वों में यह विद्या विशेष प्रचलित थी। राजा महासेन ने वासवदत्ता को गान्धर्व विद्या सिखाने के लिए उदयन को नियुक्त किया।[7] राजकुमारियाँ इन विद्याओं में विशेष निपुण थीं।[8]

नृत्य—नृत्य कला उस युग की प्रधान कला थी, जिसे सामाजिक सम्मान प्राप्त था। यह केवल वेश्याओं का पेशा नहीं था, अपितु आभिजात्य वर्ग में इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी। राजकुमारियाँ इस कला में निपुण हुआ करती थीं। कथासरित्सागर में अनेक राजकुमारियों ने पिता के सम्मुख निस्संकोच अपनी इस कला का प्रदर्शन किया। हंसावली ने पिता के सम्मुख अपनी इस कला का प्रदर्शन किया।[9] इसी प्रकार मदनमंचुका ने पिता के सम्मुख नृत्य का प्रदर्शन किया।[10] राजा देवशक्ति ने राजा कनकवर्ष के द्वारा वैवाहिक सम्बन्ध के लिए भेजे गये दूत को अपनी पुत्री मदन सुन्दरी का नृत्य दिखाया।[11] इससे स्पष्ट है कि उस समय नृत्यकला का पूर्ण प्रचार एवं सम्मान था।

---

१. का० सू० २।१२ २. वही, २।२२ "कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते"

३. Edn in Anc. India—Altekar P. 186

४. कादम्बरी : अंग्रेजी अनुवाद—काले, पृ० १०४-१०५। ५. राजत० ४।४२३-४९१

६. वही, ७।६१३-६२७

७. क० स० सा० ८।१।१८१, ८।६।९, १८।४।१२४, ९।१।१७७१, १२।३२।४०, १४।१।५

८. वही, २।४।२७ "गान्धर्वशिक्षाहेतोः समर्पयत्" ९. वही, ६।८।१७० १०. वही, २।१।४०

११. वही, ९।५।९२

नृत्य कला की शिक्षा देने वाले नाटचाचार्य कहे गये हैं। राजदरबारों में नृत्य शिक्षा के लिए नियुक्त अनेक नाटचाचार्यों का उल्लेख कथासरित्सागर में है।[१] राजाओं के महलों में नाटचशालायें थीं, जहाँ स्त्री पुरुष इसकी शिक्षा ग्रहण करते थे।[२] अल्तेकर ने भी इसका उल्लेख किया है।[३] नृत्यकला को आंगिक अभिनय[४] भी कहा गया है। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही इस कला को सीखा करते थे। राजा के आग्रह पर गुणशर्मा ने नृत्यकला का प्रदर्शन किया है।[५]

नृत्य के दो भेद माने गये हैं। वे हैं नृत्य और नृत्त। भावों पर आश्रित अंग संचालन को नृत्य एवं ताल और लय के अनुरूप गात्र विक्षेपण को नृत्त कहा गया है। कथासरित्सागर में दोनों प्रकार के नृत्यभेद का वर्णन है।[६] चलिताभिनय[७] नृत्य विशेष का उल्लेख है। मालविकाग्निमित्र में भी इसका वर्णन है।[८] वृषपर्व नामक असुर की पुत्री शर्मिष्ठा द्वारा इस विशेष प्रकार के नृत्य का प्रयोग किया गया।[९] तुम्बुरू को नाटचदेवता माना गया है।[१०]

गीत—नृत्य के समान गीत भी समाज में पूर्णतः प्रचलित थे। कथासरित्सागर में नृत्य गीत, वाद्य का साथ ही उल्लेख है।[११] तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इस विद्या के शिक्षक को गान्धर्वाचार्य कहा गया है।[१२] गीत के लिए गान[१३], गीत[१४] एवं संगीत[१५] शब्द का प्रयोग है। गाने वाले गायक[१६] कहे जाते थे। विवाहादि मांगलिक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगलगान[१७] गाये जाने के कई उल्लेख हैं। मन्दिरों में देवदासियाँ नृत्य गीतादि द्वारा अनुरंजन करती थीं। मृगांकवती का भव्यार्थ युक्त ललित गीत सुनकर राजा मोहित हो उठता है।[१८] गेयात्मक पदों की रचना अलग ही होती थी। इस प्रकार मन्दिरों से लेकर राजप्रसाद तक गीतों की व्यापकता थी।

वाद्य—वाद्य नृत्य गीत का अभिन्न अंग है। बिना वाद्य के गीतों में संगीतात्मकता नहीं आती। अतः लय के अनुसार वाद्य भी स्वर का अनुगमन करते हैं।[१९] कथासरित्सागर में गीत एवं वाद्य का साथ ही साथ उल्लेख है।[२०] मानसोल्लास में भी वाद्य के चार भेद बताये गये हैं।[२१] गीत का अनुसरण कर उसके साथ बजने वाले वाद्य गीतानुग, नृत्य के समय उसके अनुसार बजने वाले वाद्य नृत्यानुग, गीत के साथ ही साथ पात्र का अनुसरण करने वाले वाद्य पात्रानुग तथा गीत और नृत्य दोनों के साथ बजने वाले वाद्य

---

१. क० स० सा० ९।१।२७१ २. वही, ९।१।२७१

३. Altekar-B.A.I. Page 186 "Princes and rich persons used to maintain a music hall."

४. क० स० सा० ७।२।२३८, ८।६।१८ ५. वही, ८।६।१७

५. क—दशरूपकं—१९ + १०, भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रितम्"

६. क० स० सा० १२।४।७६, ९।६।९२ ७. वही, ३।३।२० ८. मालवि०—अंक १

९ वही, टीका, पृ० ९ १०. क० स० सा० ३।३।२३

११. वही, ८।१।८१, १८।४।१३४, १४।२।१२, ८।७।१५ १२. वही, १४।२।१८ १३. वही, ८।१।८१

१४. वही, १४।१।१५ १५. वही, ७।४।३३ १६. क० स० सा० १८।४।१३४ १७. वही, २।६।१७

१८. वही, १२।१९।७९ १९. वही, ८।१।८१, १२।३६।४०, १४।२।१२ आदि

२०. वही, १८।४।१३२ २१. मानसोल्लास ४।१७।२४६८-६९

गीतनृत्यानुग कहे जाते हैं ।[1] चतुर्विध वाद्य से यही समझा जाता था । वाद्य युक्त नृत्य तथा संगीत प्रभावोत्पादक होते हैं । अतः नृत्य तथा संगीत में वाद्य की प्रधानता है ।[2] इन वाद्यों का प्रयोग युद्ध, उत्सव, गीत, नृत्य तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर होता था ।

विभिन्न वाद्य :—कथासरित्सागर में प्राप्त विविध वाद्यों से विदित होता है कि इनका व्यापक प्रयोग किया जाता था । प्राप्त वाद्यों में वल्लकी[3], वीणा[4], पिंजरक[5], ग्रन्थि[6] (घंटा) भेरी[7], डमरूका[8], कांस्यताल[9] (झांझ) मृदंग[10], मुरज[11], दुन्दुभीः[12], तूर्य[13], डिण्डिम[14], घण्टा[15], वेणु[16], आदि प्रमुख हैं ।

वास्तुकला :—वास्तु का शाब्दिक अर्थ "रहने का स्थान"[17] है । वात्स्यायन के अनुसार "गृह-निर्माण कला" को वास्तु-विद्या कहते हैं । अर्थशास्त्र की परिभाषा व्यापक है । अर्थशास्त्र के अनुसार घर, खेत, बाग, बगीचे, सीमाबंध, तालाब ओर बांध आदि वास्तु कहे जाते हैं ।[18] कथासरित्सागर में वास्तुकला का पर्याप्त चित्रण है । नगर, राजपथ, राजप्रसाद, भवन, सौध, हर्म्य, चतुष्क, वापी, उद्यान, वन, क्रीडाशैल आदि का विस्तृत वर्णन है । नगरों के विस्तृत वर्णन से पता चलता है कि वे सुनियोजित ढंग से बसाये जाते थे ।

प्राकार :—नगर चारों तरफ से प्राकार से परिवेष्टित रहते थे । सुरक्षा की दृष्टि से इनका निर्माण आवश्यक था । पत्थर या ईंटों की ऊँची दीवार उठाकर प्राकार बनाये जाते थे । सबसे ऊपर कंगूरा रहता था । कथासरित्सागर में नगर के प्राकार का वर्णन है ।[19] इनमें चारों दिशाओं में चार दरवाजे बने रहते थे ।[20] मुख्य द्वार को गोपुर[21] कहा जाता था । अमरकोष के अनुसार पुर द्वार को गोपुर कहा जाता था ।[22] प्रशस्त राजमार्ग से मिली हुई गलियाँ थीं जिसे प्रतोली[23] कहा गया है । जगह-जगह नगरोद्यान बने थे ।[24] वापिका उद्यान की प्रचुरता है ।[25] शुभ्र पुते हुए उँचे भवनों से नगर सुशोभित थे ।[26]

हर्म्य[27] :—अमरकोष[28] के अनुसार धनिकों के भवन को हर्म्य कहा गया है । विशाल ऊँचे भवन हर्म्य कहे जाते थे । ऐसे ही भवनों को कथासरित्सागर में हर्म्य कहा गया है ।

सौध[29] :—सौध भी धनी वर्ग के लोगों के भवनों को कहा जाता था । यह चूने को सफेदी वाला विशाल मकान होता था ।[30] राजभवन को ही सौध कहते थे ।[31]

---

१. वही, ४।१७।२४८१   २. वही, ४।१७।२४७० वाद्येन राजते गीतं न नृत्यं वाद्यवर्जितम् । तस्मात् वाद् प्रधानं स्याद् गीतनृत्त क्रियाविधी ॥   ३. क० स० सा० ८।६।३४   ४. वही, ८।६।१९
५. वही, १०।९।७५   ६. वही, १०।९।१३५   ७. वही, १४।३।१०७   ८. वही, १८।५।८
९. वही, १६।१।१०   १०. वही, ३।६।२२८   ११. वही, १८।४।१२९   १२. वही, ४।३।७५
१३. वही, ९।४।८३   १४. वही, २।२।१७२   १५. वही, २।१।१८९   १६. वही, ३।३।१०६
१७. अमर—२।२।१९   १८. कौ० अ० शा० "गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तटाकमाधारो वा वास्तुः" ६४।८।२
१९. क० स० सा० १५।२।२, १२।२१।१५   २०. वही, १२।३५।२३   २१. वही, ७।९।८
२२. अ० को० २।२।१६ "पुरद्वारं तु गोपुरम्"   २३. क० स० सा० १८।५।७२   २४. वही, १८।४।२६२
२५. वही, १२।१४।४४   २६. वही, ६।१।१२६   २७. वही, १४।१।१५
२८. अ० को० "हर्म्यादि धनिनां वासः"   २९. वही, (क० स० सा०)—४।३।७८
३०. A Dict of Arch P. 642   ३१. अ० को० २।२।१०

भवन[1] :—आंगन युक्त गृह भवन है। गृह[2] शब्द का अधिकतर प्रयोग साधारण भवनों के लिए किया जाता था।

वेश्म[3] :—गृह अर्थ में वेश्म शब्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है।

प्रासाद[4] :—देवताओं अथवा राजाओं के निवास स्थान को प्रासाद कहा जाता था।[5] यह उन्नत एवं विशाल प्रासाद सात कक्षाओं में विभक्त रहता था।[6] किसी कक्ष में घोड़े, किसी में हाथी, किसी में अस्त्र-शस्त्र, किसी में रत्न-खजाना, किसी में संगीत किसी में अनुचर वृन्द एवं वन्दी आदि थे।[7] इन्हें राजमन्दिर भी कहा गया है।[8] इनमें अपानभूमि[9], भोजन भूमि[10] आदि की व्यवस्था रहती थी। मणिमय स्तम्भ[11], शुभ्रभित्ति[12] इनकी विशेषता है। इसमें हवा एवं प्रकाश के लिए वातायन[13] तथा गवाक्ष[14] बने रहते थे। शयनकक्ष को शय्यागृह[15] कहा गया है। प्रसाद की उन्नत अट्टालिका[16] पर राजा विहार किया करते थे।

धारायन्त्र गृह :—"धारा यन्त्र गृह प्राचीन भारत का ऐसा जलाशय था, जिसमें कई स्थानों पर फव्वारे के रूप में जल की धारायें निकलती थीं।[17] यह यन्त्र चालित होता था। भोज ने "समरांगण सूत्रधार" में पाँच प्रकार के धारायन्त्र गृहों का उल्लेख किया।[18] राजाओं की जलक्रीड़ा के लिए इनका निर्माण किया जाता था।

वापी[19] :—जलक्रीड़ा के लिए राजभवनों में वापी का निर्माण किया जाता था। एक प्रकार की लम्बी नहर होती थी जो राजप्रसादों में एक ओर से दूसरी ओर प्रवाहित होती थी। इसी के बीच में बड़ा जलाशय सा बनाया जाता था, जिसमें अन्तःपुर की रानियाँ एवं राजा जलक्रीड़ा करते थे। इसमें रत्न निर्मित सीढ़ियाँ होती थीं। लता गृह[20] एवं उद्यान[21] राजभवन की शोभा थे। इस प्रकार वास्तुकला की दृष्टि से कथासरित्सागर कालीन भारत अत्यधिक उन्नत था।

चित्रकला :—ललित कला में चित्रकला का अपना अलग महत्त्व रहा है। कथासरित्सागर में चित्रकार एवं चित्रकला के अनेक उल्लेख हैं। राजमहलों में मनोविनोद के लिए चित्रशालायें थीं। राजा चिरदाता मनोविनोद के लिए चित्रशाला में गया।[22] अजन्ता एवं एलोरा के समान भित्ति चित्रों के उदाहरण उपलब्ध हैं। मनोरथ सिद्धि, कमलाकार का चित्र, हंसावली की पर्णशाला की भित्ति पर बनाता है।[23] स्त्रियाँ फलक[24] पर चित्र रचना किया करती थीं। कपड़े पर भी चित्र रचना का अभ्यास

---

१. क० स० सा० २।४।१५६ २. वही, १।३।५५ ३. वही, ३।४।२३
४. वही, १२।१९।९१, २।३।३१ ५. अ० को० २।२।९ "प्रासादो देवभूभुजाम्"
६. क० स० सा० ७।४।२७ ७. वही, ७।४।२३-२६ ८. वही, ७।९।९ ९. वही, १२।२।१२४
१०. वही, १५।२।१३१ ११. वही, १२।१९।९१ १२. वही, १।३।६१ १३. वही, १२।१९।८२
१४. वही, १५।२।१३३ १५. वही, ७।९।८ १६. वही, १८।३।१७
१७. आ० पु० भा० पृ० ३०८ १८. स० सू० ३१।११७ १९. क० स० सा० ६।२।५४
२०. वही, १७।४।२८ २१. वही, १२।१६।९१ २२. वही, ९।५।३४
२३. वही, १२।४।८३ २४. वही, १७।४।२६

किया जाता था।[1] चित्र रखने की थैली को वलगुलिका[2] कहते थे, जिसे आज का अलबम कहा जा सकता है। चित्रकार[3] द्वारा बनाये चित्रों को देख प्रेमी एवं प्रेमिका एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए हैं।

मूर्तिकला—मध्यकालीन मन्दिर मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं। खजुराहो अथवा दक्षिण के प्रसिद्ध मन्दिरों को देखने के बाद स्थापत्य कला की कुशलता पर मुग्ध रह जाना पड़ता है। कथासरित्सागर में पत्थर की मूर्त्तियों का वर्णन है।[4] इस प्रकार विविध ललित कला में मध्यकालीन भारतीय अत्यधिक निपुण थे।



१. वही, १२।३४।७४ २. वही, ९।५।७९ ३. वही, ९।१:१२४, ७।३।८
४. क० स० सा० ७।३।९

चतुर्थ परिच्छेद

धर्म

पृष्ठभूमि :—कथासरित्सागर कालीन धर्म का विवेचन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी। बौद्ध धर्म भी निम्न-वर्ग के लोगों में जनप्रिय बना हुआ था। पुलिन्द, शवर, किरात आदि मूल निवासियों की भी अपनी अलग संस्कृति थी। उनके धार्मिक विश्वास अलग थे। किन्तु आर्यावर्त की सांस्कृतिक एकता के लिए इन विभिन्न सम्प्रदायों का परस्पर धार्मिक आदान-प्रदान आवश्यक था। वैदिक धर्मावलम्बियों ने अपने धार्मिक विधि विधानों को सुरक्षित रखने के साथ साथ इसकी व्यापकता के लिए आर्येतर निवासियों के धार्मिक विश्वासों को भी अपनाया। उनके देवता भी वैदिक देवताओं की पंक्ति में आ बैठे। ग्यारहवीं सदी तक आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियाँ आपस में कुछ इस तरह घुलमिल गई थीं कि दोनों के अलग-अलग स्वरूप को पहचान पाना कठिन है।[1] फिर भी कुछ उदाहरणों से दोनों की भिन्नता का आभास मिलता हैं।

आर्येतर धर्म का स्वरूप—प्रायः यह सिद्धान्त मान्य है कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। उत्तर पश्चिम की ओर से वे क्रमशः दक्षिण एवं पूरब की ओर बढ़ते गये। द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी माने गये हैं। उनकी अपनी संस्कृति थी, अपने अलग धार्मिक विश्वास थे। इस आर्य एवं द्रविड़ सभ्यता के परस्पर मिलन से दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए। इसका विशेष प्रभाव धर्म पर पड़ा।

कथासरित्सागर में द्रविड़ सभ्यता के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। गुणाढ्य ने बृहत् कथा की रचना पैशाची भाषा में की। यह पिशाच भाषा या तो पश्चिमोत्तर पंजाब की भाषा थी अथवा मध्यभारत के विन्ध्य प्रदेश की। निश्चय ही पैशाची संस्कृत से बिलकुल भिन्न भाषा थी। इस भाषा के बोलनेवाले प्राचीन भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त के निवासी पिशाच जाति के लोग थे। कथासरित्सागर में प्राप्त गान्धर्व विवाह के विवरणों से प्रतीत होता है कि आर्य एवं अनार्य जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध को मान्यता देने के लिए भी इस विवाह प्रकार को स्वीकार किया गया। कथासरित्सागर में ऐसे अनेक गान्धर्व विवाह आर्य एवं अनार्यों के बीच हुए। नागराजकुमार कीर्तिसेन, ब्राह्मण पुत्री श्रुतार्था से गान्धर्व विवाह करता है, जिससे गुणाढ्य उत्पन्न हुए जो ब्राह्मण कहलाये।[2] पाटलिपुत्र निवासी ब्राह्मण श्रीदत्त, शवर पुत्री सुन्दरी से विवाह करता है।[3] इस तरह के अन्य उदाहरणों से भी इसकी पुष्टि होती है।[4]

---

१. O. S. Vol. I, Page 15, "It is not an easy line to follow, as the period is so late and the whole matter by that time already so complicated."

२. क० स० सा० १।६।१४   ३. वही, २।२।१४६

४. O. S. Vol. I, Page 16. "In the earlier Aryan days in India illicit unions between Aryans...were recognised as regular."

गान्धर्व विवाह को स्वीकार तो कर लिया गया[१], किन्तु यह सम्मानजनक नहीं माना गया है।[२]

पुत्रक एवं पाटलि के सम्बन्ध का, महावर लगाकर पता लगाया जाना आर्येतर संस्कृति का प्रतीक हैं। अंडमन में आज भी इसी प्रथा के द्वारा वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित किये जाते हैं। पेन्जर ने तो शिव को भी हिमालयीय प्रदेशों में निवास करनेवाली जाति का देवता माना है।[३] उनके अनुसार शिव के गण का स्वरूप, व्यवहार आदि भी आदिम असभ्य जाति के समान है तथा कथासरित्सागर में प्राप्त, संकेत भाषा, जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र, भूत-पिशाच, वैताल आदि का प्रचुर उल्लेख आदिम अनार्य संस्कृति का प्रतीक है।[४]

भारत में प्राचीन समय से ही धर्म का स्वरूप बदलता रहा है। आर्य वैदिक देवता पौराणिक युग में अपना महत्व खो बैठे। इन्द्र, अग्नि, मरुत आदि वैदिक देवताओं की जगह शिव, गणेश, कार्तिकेय आदि पौराणिक देवताओं की पूजा होने लगी। टॉनी ने ठीक ही कहा है कि "भारत का धर्म, आचार, दर्शन हमेशा बदलता रहा है।"[५] विभिन्न मत मतान्तर एवं सम्प्रदाय बनते मिटते रहे। किन्तु इन परिवर्तनों के बीच भी वैदिक धर्म के कुछ मूलभूत तत्त्व ने नवीन प्राचीन विचारधाराओं को पूर्णतः एक दूसरे से असम्पृक्त नहीं होने दिया। कथासरित्सागर कालीन समाज में विभिन्न धर्मों का अद्भुत मिश्रण देखने को मिलता है। हिन्दू, बौद्ध एवं जंगली जातियों के तन्त्र-मन्त्र प्रधान धर्म का सम्मिश्रण इस युग की प्रमुख धार्मिक विशेषता है।[६]

हिन्दू धर्म—कथासरित्सागर कालीन भारत में बौद्धधर्म के स्थान पर हिन्दू धर्म पुनर्प्रतिष्ठित हो चुका था। इस धर्म के प्रधान ब्राह्मण थे। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद बौद्धधर्म का पतन और हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था। इस पुनरुत्थान में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य (८वीं ई०) का मुख्य हाथ था[७], जिन्होंने बौद्ध धर्म की कटु आलोचना की। अपने प्रबल तर्कों से उनके दर्शन का खण्डन किया। हिन्दू धर्म पुनः समस्त भारत में व्याप्त होगया। प्रतिहार, गढ़वाल, परमार चंदेल, चालुक्य आदि राजाओं के युग में हिन्दू धर्म पुनः अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया। एक बार पुनः

१. मनु० ३।२५

२. O. S. Val. I Page 19. "The Gandharva marriage was undoubtebly recognised, but it was seemingly never considered reputable."

३. O. S. Vol. I Page XIX." This would assume that he was a non-Aryan diety."

४. Ibid. "It is Possible that Gunas refer back to an actual savage non-Aryan tribe of very ancient India."

५. Ibid. Page 12. "We must also remember that the religion, Ethics aad Philosophy of India have been ever changing."

६. O. S. Val. IX Page IX. "The synthesis of the philosophic tenets of Hinduism and Buddhism and the animistic rites and practices of the forest tribes had produceda mixture.

७. R. C. Majumdar—Anci Ind. P. 457

हिन्दू देवदेवियों के मन्दिरों का निर्माण तीव्रता से होने लगा। राजा से लेकर गरीब जनता तक नवीन उत्साह से हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार में लग गई। इस युग में भी वैदिक धर्म का स्वरूप वही था जो प्राचीन समय से चला आ रहा था। यज्ञ का महत्त्व सर्वाधिक था। कथासरित्सागर में यज्ञ के महत्त्व पर बार-बार प्रकाश डाला गया है। ऐसा विश्वास था कि ब्राह्मण वैदिक कर्मों से सभी दुष्कर कार्यों को सुकर बना सकते हैं।[1] "यज्ञ करनेवाले और यज्ञ में भाग लेने वालों के अभाव में संसार की स्थिति (मर्यादा) भंग हो जायगी।"[2] गृहस्थ ब्राह्मण के लिए होमकर्म आवश्यक था। कथासरित्सागर में गृहस्थ ब्राह्मणों के घर में नित्य हवन किये जाने के कई प्रसंग हैं। होमकर्म ब्राह्मणों का आवश्यक कर्त्तव्य था। अग्निस्वामी को अग्निहोत्री कहा गया है।[3] इसी तरह विष्णुस्वामी महान् याजक है।[4] देवदर्शन ब्राह्मण को पंचाग्नि कहा गया है।[5] एक पतिव्रता गृहणी अग्नि कार्य सम्पन्न करती है।[6] अलबरूनी ने भी इस ब्राह्मण धर्म पर प्रकाश डाला है। यावज्जीवन यज्ञ करना एवं उस अग्नि को प्रज्वलित रखना ब्राह्मणों का आवश्यक कर्म था, जिससे मृत्यु के बाद इसी अग्नि से वह जलाया जा सके।[7] चौहान शासन के समय राजा भिल्ल मल्ल के राज्य में ४५ हजार विद्वान् ब्राह्मण थे जिनके घरों में अपनी यज्ञशालायें थीं। वे वैदिक देवताओं को आहुति देते थे।[8] मध्यकालीन स्मृतिग्रन्थ कृत्यकल्पतरु में यज्ञ, नैष्ठिक ब्राह्मण का आवश्यक कर्म बताया गया है।[9]

हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय—कथासरित्सागर कालीन समाज में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। इसके लेखक सोमदेव ब्राह्मण हैं। उनकी कृति, आर्य एवं ब्राह्मण विशेषताओं से समन्वित है। वररुचि के जन्म एवं प्रारम्भिक जीवन की कथा विशिष्ट ब्राह्मण धर्म का स्वरूप प्रस्तुत करती है। उनकी विलक्षण स्मरण शक्ति ब्राह्मणों की विशिष्ट प्रतिभा द्योतित करती है। इस ब्राह्मण धर्म में शैव, वैष्णव आदि विशिष्ट सम्प्रदाय बन चुके थे।

शैव—कथासरित्सागर के प्रत्येक लम्बक के प्रारम्भ में शिव अथवा गणेश की ही स्तुति की गई है। अन्यत्र भी शिवोपासना की अधिक प्रशंसा की गई है। शिव के प्रति कवि का विशेष आकर्षण है। काश्मीर में शैव दर्शन का प्रचार सोमदेव से बहुत पहले ही हो चुका था। इस दर्शन का प्रभाव इन पर भी अवश्य पड़ा होगा। कश्मीर में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञा स्पन्द या त्रिक दर्शन कहते हैं। त्रिक दर्शन के मूल प्रवर्तक वसुगुप्त ने सोमदेव से ढाई सौ वर्ष पहले इस दर्शन का प्रचार किया। इस दर्शन के विशिष्ट प्रचारक अभिनवगुप्त, क्षेमराज, योगराज, उत्पल वैष्णव एवं रामकण्ठ, सोमदेव के समकालीन थे। सोमदेव इस दर्शन से अवश्य प्रभावित हुए। लम्बकों के प्रारम्भ में शिव की ही स्तुति की गई है। सोमदेव की आश्रयदातृ रानी सूर्यमती विधिवत् शिवोपासना करती हैं।[10] राजा कलश को कवि ने शिवावतार

---

१. क० स० सा०, २।५।५६, "सर्वं हि साधयन्तीह द्विजः श्रौतेन कर्मणा"

२. वही, ७।७।१८, "यष्टृव्ययाजकाभावाद् भज्यते च जगत्स्थितिः"

३. क० स० सा० १८।५।९१, ४ वही, १२।१५।३, ५. वही, १२।६।५६, ६. वही, ९।६।१७७

७. Sachau Vol I P 102, Vol 11. P. 131-133

८. D. Sharma—Early Chouhan Dynesty P. 289

९. कृत्यकल्पतरु–गृहस्थकाण्ड–ब्राह्मण कर्म धर्म वृत्ती–   १०. क० स० सा० ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः—श्लो० ११

माना है।[1] वत्सराज उदयन विजय की कामना से शिव की आराधना करते हैं।[2] राजा हेमप्रभ पुत्र प्राप्ति के लिए शिव की उपासना करता है।[3] शिव आशुतोष हैं। वे उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण माने गये हैं। वे आकाशादि अष्टमूर्त्तियों को धारण करने वाले हैं।[4]

हेमप्रभ स्तुति करता हुआ कहता है "हे दिव्य प्रकाशधारी निर्मल जल स्वरूप, हे निर्दोष व्यक्तियों से देखे जाने वाले अत्यन्त आश्चर्यमय शिव तुम्हें प्रणाम है। हे अर्द्धनारीश्वर, विक्षुब्ध ब्रह्मचारी, संकल्पमात्र से विश्व की रचना करने वाले और स्वयं विश्वरूप तुम्हें प्रणाम है।"[5] पुराणों में वर्णित शिव का चरित्र कथासरित्सागर में भी उपलब्ध है। "त्रिपुरासुर का नाश करने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाते हुए और बाण के साथ व्याकुल होते हुए शिव के नेत्रों में अधिक चमकीला तीसरा नेत्र आपकी रक्षा करे"[6] इस प्रकार की अनेक स्तुतियों में पौराणिक आख्यान का उल्लेख किया गया है। काम दहन की घटना बार-बार वर्णित है।[7] वसुगुप्त शिव की आराधना से उत्पन्न हुआ।[8] "ओं नमः शिवाय" का जप कर सुप्रभ स्वर्ग से भी ऊपर पहुँच गया।[9] प्रभास ने शिव के अष्टोत्तर शतनाम के जप से उन्हें प्रसन्न किया। स्वयं शिव को ही कथासरित्सागर की कथाओं का प्रवक्ता मानकर कवि ने इन कथाओं का आध्यात्मिक महत्त्व सिद्ध किया है। शिव की स्तुति करता हुआ कवि कहता है "नगेन्द्रनन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय-मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुखरूपी समुद्र से निकले हुए इस कथारूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रहपूर्वक पान करते हैं वे शिव की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर दिव्य पद लाभ करते हैं।"[10] शिव का महाकाल मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्य तीर्थों के साथ-साथ महाकाल तीर्थ का स्मरण कवि ने बड़ी श्रद्धा से किया है।[11] महाकवि कालिदास ने भी महाकाल तीर्थ का उल्लेख किया है।[12] यह स्थान उज्जैन के समीप है। यह शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में एक है। कथासरित्सागर में भी उज्जैन के समीप स्थित इस महाकाल तीर्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।[13] इससे स्पष्ट है कि शिव का महाकाल तीर्थ मध्यकाल में विशेष प्रसिद्ध था।

वैष्णव धर्म—गुप्त साम्राज्य में वैष्णव धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ था। गुप्त सम्राट् स्वयं भी वैष्णव धर्मावलम्बी होकर "परम भागवत्" "परम वैष्णव" आदि उपाधियों से विभूषित थे।[14] हर्ष के काल में बौद्धधर्म के कारण वैष्णव धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया था, किन्तु अलबीरुनी के समय के भारतीय समाज में वैष्णव धर्म उन्नति के शिखर पर था। साधारण जनता से लेकर सम्राट् तक वैष्णव धर्मानुयायी थे। अलबीरुनी के पूर्व ९वीं सदी के कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा परम वैष्णव थे।[15] काश्मीरी महाकवि क्षेमेन्द्र ने १०६६ ई० में विष्णु के विभिन्न अवतारों को आधार बनाकर "दशावतारचरित"

---

१. वही, श्लो० ९ २. वही (क० स० सा०)—३।५।४ ३. वही, ८।१।९५
४. वही, ७।१।९८-९९ ५. क० स० सा० ६।१।१००-१०२ ६. वही, १०।१।२
७. वही, २।१।१ ८. वही, ४।२।११७ ९. वही, ९।३।१२२
१०. वही, ८।१।१ ११. क० स० सा० १८।२।१०९
१२. मेघदूत—पूर्वमेघ श्लो० ३६ 'अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले" १३. क० स० सा० २।३।३१-३२
१४. ग्यारहवीं सदी का भारत—ज० मिश्र, पृ० १२५ १५. वही, पृ० १८५

की रचना की।[1] इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी में शैवमत के समान ही वैष्णव धर्म का भी प्रचार अधिक था। कथासरित्सागर के अध्ययन से प्रतीत होता है कि शिव के समान ही विष्णु भी समाज में पूर्ण प्रतिष्ठित थे। इनके प्रति भी लोगों की समान श्रद्धा थी। शिव मन्दिरों के समान ही विष्णु मन्दिर भी थे।[2] नरवाहनदत्त श्वेत द्वीप में जाकर भगवान् विष्णु की स्तुति करता है।[3] उपर्युक्त स्तुति में विष्णु की विशेताओं का उल्लेख है। लक्ष्मी का साथ, क्षीर सागर में निवास आदि पौराणिक स्वरूप के साथ-साथ वैदिक विष्णु की विशेषता भी समन्वित है। विष्णु परमपुरुष हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं। इन्द्र आदि समस्त लोकपाल इन्हीं से उत्पन्न हैं। इस प्रकार वैदिक विष्णु का विराट रूप इन पंक्तियों में अभिव्यक्त है। मध्यकालीन अभिलेखों से तत्कालीन समाज की विष्णु के प्रति आस्था का पता चलता है।[4]

सूर्योपासना—समाज में कुछ लोग सूर्योपासक भी थे। उनके अनुसार सूर्य की सत्ता सर्वोपरि और असीम थी। सूर्यपूजा भी प्राचीन समय से प्रचलित है। बाण[5] के अनुसार उज्जैन के लोग सूर्योपासक थे। कथासरित्सागर में भी सूर्योपासना का उल्लेख है। सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का ही स्वरूप माना गया है।[6] चन्द्रस्वामी सूर्य की स्तुति करता है।[7]

गणेश—शिव एवं विष्णु के समान ही गणेश भी उस समय के प्रधान देवताओं में से थे। महाकवि सोमदेव ने शिव के साथ-साथ गणेश की स्तुति भी प्रत्येक लम्बक के प्रारम्भ में की है। परम्परागत विश्वास के अनुसार गणेश, विघ्नेश एवं विघ्ननाशक माने गये हैं। कथासरित्सागर में प्राप्त गणेशस्तुतियों में भी इन्हें विघ्न नाशक कहा गया है। तत्कालीन समाज में इनकी पूजा विघ्न दूर करने के निमित्त पहले की जाती थी। बताया गया है कि जगत् के निर्माण की निर्विघ्न सिद्धि के लिए ब्रह्मा ने भी गणेश पूजन किया है।[8] गणेश पूजन के विना देवताओं को भी सिद्धि नहीं मिलती।[9] कथासरित्सागर में प्राप्त कथा के अनुसार स्वामी कार्तिकेय की उत्पत्ति के लिए शिव भी गणेश पूजन करते हैं।[10] तारकासुर के वध के लिए इन्द्र भी गणेश पूजन करते हैं।[11] राजा कनकवर्ष गणेश पूजन कर उन्हें प्रसन्न करता है। प्रसन्न होकर गणेश जी स्वयं कहते हैं "मैं तुम पर प्रसन्न हूँ"। अतः मैं विघ्न उत्पन्न नहीं करूँगा।[12] गणेश को विघ्ननाशक मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गणेश को विघ्नेश क्यों माना गया? इसमें मतभेद है। डॉ० सम्पूर्णानन्द गणपति को अनार्यों का देवता मानते हैं जिसे आर्यों ने अपना लिया। उनके अनुसार नाग, शीतला, भैरव भी अनार्यों की देन हैं। उनका तर्क है कि आर्यों के उपास्य स्वभाव से मनुष्य हितैषी थे। अनार्यों के उपास्य सब अपदेवता हैं, एवं स्वभावतः दुष्ट, क्रूर, एवं मनुष्य के शत्रु थे।[13] कथासरित्सागर कालीन समाज में इनकी गणना पूर्णतः आर्यदेवों में की जा चुकी थी। लोगों का ऐसा विश्वास था कि गणेश की स्तुति करने वाले को संग्राम, राजकुल, जुआ, चोर अग्नि और हिंस्र जन्तुओं का भय नहीं रहता।[14] इनके अड़सठ नाम गिनाये गये हैं। घटोदर, शूर्पकर्ण, गणाध्यक्ष, मदोत्कट, पाशहस्त, अम्बरीप, जम्बक, त्रिशिखा-

---

१. Kith—Hist. Sans. L. L. P. 136. २. क० स० सा० ७।२।११५ ३. वही, ७।४।२९-३७
४. इ० आइ० आइ०, पृ० १६८, १७३-७९ ५. कादम्बरी पृ० ८८ "दिवसेनेव मित्रानुवर्तिना"
६. क० स० सा० ९।६।३० ७. क० स० सा० ९।६।२८ ८. वही, ३।१।१ ९. वही, ३।६।१००
१०. वही, ३।६।८३, ११. वही, ३।६।९८ १२. वही, ९।५।१६९
१३. गणेश—सम्पूर्णानन्द पृ० २९ १४ वही, ९।५।१६७

युक्त आदि प्रसिद्ध नाम हैं।[1] इनके स्वरूप के बारे में बताया गया है कि गणेश बारह सूर्यों के समान चमकते हुए, एक दाँत वाले, लम्बे पेट वाले और त्रिनेत्र हैं।[2] ये सर्प का यज्ञोपवीत धारण करते हैं।[3] विघ्ननाश के साथ-साथ सुन्दर पति की प्राप्ति के लिए भी गणेश पूजन आवश्यक माना जाता है। पति प्राप्ति के लिए गणपति पूजन की प्रथा आज भी है। कथासरित्सागर कालीन समाज में भी स्त्रियाँ पति प्राप्ति के लिए गणेश पूजन करती थीं। कुवलयावली को सखियाँ पति की प्राप्ति के लिए गणेश पूजन करने को कहती हैं।[4]

कार्तिकेय—स्वामी कार्तिकेय भी मध्ययुगीन देवताओं में प्रधान थे। इनकी स्तुति भी बार-बार की गई है। अग्निदत्त, गुणशर्मा को स्वामि कार्तिकेय का जप करने को कहता है।[5] इनके स्वरूप के बारे में बताया गया है कि महेश्वर से, अग्नि कुण्ड से, अग्नि से, शर के वन से और कृतिकाओं से, स्वामी कार्तिकेय का जन्म हुआ है। राजा कनकवर्ष स्वामी कार्तिकेय की स्तुति करते हैं।[6] विद्या प्राप्ति के लिए भी व्याड़ि कार्तिकेय की पूजा करते हैं।[7] ये मयूर वाहन हैं, एवं इनकी उत्पत्ति तारकासुर के वध के लिए हुई है।[8] सरस्वती, स्कन्द, एवं कार्तिकेय की एक साथ प्रशंसा की गई है।[9]

देवियाँ—देवता के समान देवियों की मूर्तिपूजा भी प्राचीन समय से की जाती रही है। कथासरित्सागर कालीन भारत में विन्ध्यवासिनी देवी की प्रसिद्धि सर्वाधिक थी। दूर-दूर से यात्री इनके दर्शन के लिए आते हैं। राजा इन्दीवर सेन विन्ध्यवासिनी देवी की आराधना करता है।[10] राजा कनकवर्ष विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन से पत्नी एवं पुत्र प्राप्त करता है।[11] राजा जीवदत्त विन्ध्यवासिनी को प्रसन्न कर सिद्धियाँ प्राप्त करता है।[12]

वररुचि[13] और पुत्रक विन्ध्यवासिनी के दर्शन के लिए गये।[14] अन्य उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि विन्ध्यवासिनी देवी का महत्त्व तत्कालीन समाज में अधिक था। स्थान-स्थान पर चण्डिका के मन्दिर बने थे, जहाँ निरन्तर पूजा होती रहती थी। गोविन्दस्वामी वाराणसी के समीप चण्डिका मन्दिर में ठहरा, जहाँ दूर-दूर से यात्री दर्शनार्थ आये थे।[15] देवी को बलि दिये जाने की प्रथा भी प्राचीन है। इसे नरबलि कहा जाता था। धीवर के पुत्र शक्तिदेव को बलि देने के लिए चण्डिका मन्दिर में ले जाया गया। वह चण्डिका मन्दिर, निरन्तर प्राणियों को निगलनेवाला, विशाल उदरवाला और लटकते हुए घंटारूपी दाँतोंवाला मानों मौत का प्रत्यक्ष मुँह था।[16] वीरवर चण्डिका की स्तुति करता हुआ कहता है "तू समस्त प्राणियों की प्राणशक्ति है। तेरे ही कारण यह संसार जीवित है। सृष्टि के प्रारम्भ में तू ही पहले उत्पन्न हुई थी। तुझे शिव ने स्वयं देखा। तू विश्व को उत्पन्न करके अपने प्रचण्ड तेज से उग्र और असमय में उत्पन्न नवीन करोड़ों सूर्यों की पंक्ति के समान प्रादुर्भूत हुई। तूने खंग, खेटक, धनुष और शूल आदि धारण करनेवाले भुजमंडल से आकाश को छा लिया। इस प्रकार स्वयं शिव ने तेरी स्तुति की है। हे चंडि, हे चामुंडे, हे मंगले, हे त्रिपुरे, हे जये तू एक अंशरहित शिवा, दुर्गा, नारायणी, सरस्वती, भद्रकाली,

१. वही, ९।५।१६५ २. वही, ८।७।१७४ ३. वही, ९।५।१६२ ४. वही, ३।६।५६
५. क० स० सा० ८।६।२३७ ६. वही, ९।५।१७३ ७. वही, १।२।४४ ८. वही, ८।६।१३७
९. वही, ९।१।२०५ १०. वही, ७।८।११७ ११. वही, ९।५।२१३ १२. वही, ९।२।१६८
१३. क० स० सा० १।३।१२७ १४ वही, १।३।३८ १५. वही, ५।२।८६ १६. वही, ५।३।१४४

महालक्ष्मी, सिद्धा और रुद्रदानव का नाश करनेवाली है।[1] तू ही गायत्री, महारानी, रेवती, विंन्ध्य-वासिनी, उमा, कात्यायनी, और शर्व पर्वत की निवासिनी है।"[2] इसमें भगवती देवी की पौराणिक व्याख्या के साथ-साथ उन्हें शक्ति का स्वरूप माना गया है।[3] विभिन्न नामों से अभिहित होने पर भी शक्ति स्वरूपा यह देवी एक ही है। भिल्ल, पुलिन्द, शवर आदि जंगली जातियों का मुख्य निवास स्थान विन्ध्य का जंगल था। सम्भव है यह उनकी भी आराध्य देवी रही हों।[4] उस समय विन्ध्यवासिनी देवी के प्रति समाज में अत्यधिक श्रद्धा थी, इसमें संदेह नही है। विद्या की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती[5] के प्रति भी लोगों की निष्ठा थी। गायत्री देवी[6] की पूजा का भी उल्लेख मिलता है।

विशिष्ट धार्मिक प्रथा—विश्वास के अनुसार धार्मिक अनुष्ठानों में भिन्नता हुआ करती है। धार्मिक रीति-रिवाज और विश्वास परम्परा से प्राप्त होते हैं। कथासरित्सागर में मध्यकालीन समाज की कुछ विशिष्ट धार्मिक प्रथा वर्णित है। मन्दिर, श्रद्धा एवं विश्वास के केन्द्र समझे जाते रहे हैं। मानव अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए दिव्यशक्तियों की कृपा की अभिलाषा करता है। कभी-कभी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जप-तप उपवास आदि किये जाते थे। ऐसी अभिलाषाओं में सन्तान प्राप्ति की कामना प्रमुख थी। कभी-कभी कार्य सिद्धि के लिए मनौती भी माँगी जाती थी।[7]

एक नगर में मणिभद्र नामक महायक्ष की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। नगर निवासी अपनी-अपनी कार्यसिद्धि के लिए उसमें जाकर मन्नतें मानते थे, और अपने-अपने कार्य के अनुसार वहाँ उपहार चढ़ाते थे।[8] विशिष्ट धार्मिक पर्व के दिन मन्दिर में इकट्ठे होकर रात्रि जागरण करने की प्रथा थी।[9] विशेष अवसरों पर ब्राह्मण भोजन प्रचलित था।[10] धार्मिक कृत्यों में प्रदक्षिणा की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है। देवताओं की अथवा विवाह के अवसर पर अग्नि की प्रदक्षिणा आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है। राजा उदयन एवं पद्मावती ने विवाह के समय अग्नि की प्रदक्षिणा की।[11] वृक्ष की प्रदक्षिणा भी प्राचीन विश्वास का द्योतक है। वृक्ष की प्रदक्षिणा का उल्लेख भी कथासरित्सागर में है।[12] देवी पूजा में मुख्यतः बकरे की बलि दी जाती थी। यज्ञों में भी बलि दिये जाने का उल्लेख है।[13]

तीर्थयात्रा—विभिन्न तीर्थों की यात्रा एवं देव दर्शन प्रमुख धार्मिक कृत्य थे। तीर्थ यात्रा कर पुण्य लाभ की प्रवृत्ति लोगों में देखने को मिलती है। कभी-कभी तीर्थयात्रा से अधिक महत्त्व वैदिक कर्म को दिया जाता था। "विद्वानों के अनुसार तीर्थयात्रा उसके लिए उचित है जिसके पास वैदिक कर्म करने

---

१. वही, ९।३।१६४–१७१ २. वही ९।३।१७२ ३. क० स० सा० ९।३।१७२

४. O. S. Vol. IX Foreword, Page viii—"The very frequent references to the famous temple of Durga are probably accounted for by the proximity of the regions peopled by forest tribes."

५. क० स० सा० २।३।६९ ६. वही, १४।१।३० ७. वही, २।५।१६६

८. क० स० सा० २।५।१६६ ९. वही, २।५।१७७ १०. वही, १।४।४३

११. वही, ३।२।८१ "अग्निप्रदक्षिणे तात्रं तदा पद्मावती मुखम्"

१२. क० स० सा० १२।३३।५४ "तत् वासवृक्षं तं यावत् कुरुते स प्रदक्षिणम्" १३. वही, १७।१।१०१

के लिए प्रचुर सम्पत्ति नहीं है।[1] किन्तु दानादि के द्वारा अर्थशुद्धि होती है, नित्य शुद्धि के लिए तीर्थयात्रा आवश्यक है[2]—फिर भी बड़ी संख्या में तीर्थयात्री विभिन्न तीर्थों की यात्रा कर पुण्य लाभ किया करते थे।

प्रमुख तीर्थ—हिन्दू तीर्थ समस्त आर्यावर्त में फैले हुए थे। हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों से लेकर दक्षिण तक एवं कामरूप से काश्मीर तक अनेक पवित्र तीर्थस्थान प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध हैं। काशी, प्रयाग, मथुरा, अयोध्या आदि प्रसिद्ध स्थानों के अतिरिक्त अन्य बहुत से स्थलों का वर्णन कथासरित्सागर में है। कश्मीर उस समय के प्रमुख तीर्थ स्थलों में से एक था। काश्मीर को पापों का नाश करनेवाला प्रमुख तीर्थ बताया गया है। वहाँ पवित्र विजय क्षेत्र एवं नन्दि क्षेत्र हैं।[3] काश्मीर में बहुत से स्वयंभू तीर्थ बताये गये हैं।[4] उज्जैन का महाकाल तीर्थ विशेष प्रसिद्ध था।[5] कनखल[6] एवं बदरिकाश्रम[7] प्रसिद्ध तीर्थ थे। पौण्ड्रवर्द्धन[8] भी तीर्थों में था। पुष्कर[9], टिट्टिभि[10] आदि तीर्थों की चर्चा भी है।

विद्याधर—इनकी गणना देवयोनि में की गई है।[11] कथासरित्सागर में अधिकांश कथायें विद्याधरों से सम्बद्ध हैं। राजकुमार नरवाहनदत्त के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी होती है कि वह समस्त विद्याधरों का राजा होगा।[12] यौगन्धरायण कहता है "नरवाहनदत्त को भगवान् शिव ने होनेवाले विद्याधरों के चक्रवर्ती के रूप में तुम्हारे घर में उत्पन्न किया है।"[13] शिवजी ने अपने गण स्तम्भक को भी उसकी रक्षा के लिए नियुक्त किया है। राजा के यह पूछने पर कि विद्याधरत्व की प्राप्ति कैसे होती है? शक्तिवेग कहता है—"शिव जी की आराधना से विद्याधर पद प्राप्त होता है।[14] यह विद्याधर पद कई प्रकार का होता है।[15] उपर्युक्त विवेचन से कई बातें सामने आती हैं। विद्याधर मनुष्य से उच्च एवं देवताओं से हीन एक योनि विशेष थी। जिस प्रकार यक्षों के अधिपति कुबेर माने गये हैं, उसी प्रकार विद्याधरों के अधिपति शिव हैं। क्योंकि उन्हीं की कृपा से विद्याधरत्व की प्राप्ति होती है।

विद्या अर्थात् मन्त्रादि धारण करने के कारण भी इन्हें विद्याधर कहा गया है।[16] इनका विस्तृत साम्राज्य था, जिसे उत्तरवेदी एवं दक्षिणवेदी कहा गया है।[17] नरवाहनदत्त मनुष्य होने पर भी विद्याधरों की दोनों वेदियों का एक दिव्य कल्प तक शिवजी के द्वारा आधा चक्रवर्ती बनाया गया है। आर्य धर्मशास्त्रों में दक्षिणी ध्रुव के देवस्थान को पितृयान मार्ग और उत्तरी ध्रुव के देवस्थान को देवयान मार्ग कहा गया है। इन दोनों स्थानों पर विद्याधरों का निवास और राज्य था। दोनों वेदियों का शासक चक्रवर्ती कहा जाता था।"[18] विद्याधरों के राजा होते थे। इनकी स्त्रियाँ विद्याधरी कही जाती थी।[19] ये तन्त्र-मन्त्र विद्या में

---

१. वही (क० स० सा०)–८।६।२२४ २. वही, १२।१९।२१ ३. वही, ७।५।३६
४. वही, ९।१।४५ ५. क० स० सा० १८।२।१०९ ६. वही, १।३।४
७. वही, १५।१३२ ८. वही, १२।१९।२७ ९. वही, ८।२।८३
१०. वही, ९।१।७५ ११. अमरकोष–१।१।११ १२. क० स० सा० २।१।६९
१३ वही, ५।१।५ "सर्वविद्याधराधीशचक्रवर्ती विनिर्मितः" १४. वही, ५।१।१६ १५. वही, ५।१।१७
१६. शब्दकल्पद्रुम–चतुर्थ भाग, पृ० ३९२ १७. क० स० सा० ८।१।१०
१८. वही, भाग २, पृ० २३१ पाद टिप्पणी। १९. वही, ५।२।२६३

निपुण होते थे। विद्याधरों के प्रति लोगों का विशेष आकर्षण प्रतीत नहीं होता। यक्ष एवं यक्षिणियाँ इनसे अधिक लोकप्रिय थीं। ऐसे किसी पवित्र स्थल का उल्लेख नहीं, जहाँ किसी विद्याधर की पूजा अर्चना की जाती हो। हाँ, इनकी कहानियाँ लोककथा के रूप में प्रचलित थीं।

यक्ष—देव एवं मनुष्य के बीच की यक्ष योनि की कल्पना भी प्राचीन है। ये भी देवयोनि में गिने गये हैं। "वेदों में यक्ष नहीं हैं। रामायण में भी यक्षों का कोई स्थान नहीं। महाभारत में यक्षों का उल्लेख है।"[1] कथासरित्सागर यक्षों के उद्धरणों से भरा पड़ा है। काणभूति कुबेर द्वारा अभिशप्त यक्ष था। कुबेर का अनुचर सातवाहन भी यक्ष था। राक्षस, यक्ष और पिशाच एक साथ गिने गये हैं। राक्षसों के समान यक्ष की शक्ति भी दिन में क्षीण हो जाती है।[2] पेन्जर के अनुसार ये भी पहले राक्षस ही कहे जाते थे। बाद में राक्षसों से विभेद के लिए इन्हें यक्ष कहा जाने लगा। यक्षों का मनुष्य के साथ मित्रवत् व्यवहार था, किन्तु राक्षस मनुष्य के शत्रु थे।[3] एक व्यक्ति, व्रत खंडित होने से देवत्व तो प्राप्त न कर सका किन्तु यक्ष बन जाता है।[4] यक्ष के किन्नर, गुह्यक, गन्धर्व आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। ये सभी कुबेर के अनुचर माने गये हैं। किन्नर एवं गन्धर्व कुबेर के गायक हैं।

यक्षों की सिद्धि से लोगों को धन-धान्य की प्राप्ति होती थी। मणिभद्र नामक यक्ष का मन्दिर प्रसिद्ध था, जहाँ लोग पूजा कर मनौती मांगते थे।[5] इनकी स्त्रियाँ यक्षिणी कहीं जाती थीं। यक्षिणी की सिद्धि से भी सुख समृद्धि की प्राप्ति होती थी।[6] इनके लिए बलि देने की प्रथा थी।[7] यक्ष अथवा यक्षिणियों के साथ मानव सम्बन्ध की चर्चा अधिक है। विशेष कर तन्त्रमन्त्र की सिद्धि के लिए इनकी पूजा की जाती थी। यक्ष अथवा यक्षिणी की सिद्धि से तन्त्रमन्त्र प्रयोगों में सफलता मिलती थी।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में ईसा से बहुत पहले ही हो चुका था। सम्राट् अशोक के राज्यकाल में यह धर्म विशेष फैला। स्वयं अशोक ने इस धर्म के प्रचार के लिए दूर देशों में धर्मदूत भेजे थे।[8] गुप्तकाल में हिन्दू-धर्म पुनर्प्रतिष्ठित हो गया। हर्ष के काल में एक बार पुनः बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। पुनः बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म पर हावी होता जान पड़ा। किन्तु इस उत्थान का प्रभाव अशोक काल की तरह व्यापक न बन सका। परिणामस्वरूप हर्ष के बाद बौद्ध धर्म का तेजी से पतन प्रारम्भ हो गया। कोई ऐसा शासक न हुआ जो इस धर्म को अपना कर देश में बौद्ध संगठन स्थापित करता।

कथासरित्सागरकालीन भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण हो चुका था। शैव प्रधान हिन्दू धर्म की व्यापकता बढ़ गई थी। बौद्ध धर्म नितान्त उपेक्षित हो गया। किन्तु समाज के उपेक्षित वर्ग में इसका प्रभाव अभी भी बना हुआ था। बुद्ध के धर्मोपदेश, श्रद्धापूर्वक कहे सुने जाते थे। बौद्ध जातकों की कथायें लोक कथा के रूप में घर-घर व्याप्त थीं। ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने भी बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की। उन्हें भी अवतार मान लिया गया। उनके क्षमा, दया, दानादि उपदेश का ब्राह्मण धर्म से कोई विरोध

१. जातककालीन भारतीय संस्कृति पृ० २२८
२. क० स० सा० १।७।३५ ३. O. S. Vol. Page 203 "It appeers that both Yakshas and Rakshasas come under the heading of Rokshas." ४. क० स० सा० १०।९।७६
५. वही, २।५।१६६ ६. वही, ७।३।७३ ७. वही, १४।१।५७, १२।१५।५
८. R. C. Majumdar O. A. H. C. Page. 208

नहीं था। अतः अपनी सीमा में बौद्ध धर्म भी समाज में प्रतिष्ठित था। इतना निश्चित है कि बौद्ध धर्म का प्रभाव हिन्दू धर्म की तुलना में कम था। जहाँ तहां बौद्ध विहार भी स्थापित थे, किन्तु हिन्दू मठों एवं मन्दिरों की तुलना में उनकी संख्या अत्यधिक अल्प थी।

बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म के सैद्धान्तिक मतभेद उभर कर सामने आने लगे थे। वितस्ता दत्त नामक वैश्य बौद्धधर्म का अनुयायी था, किन्तु उसका पुत्र रत्नदत्त ब्राह्मण-धर्म पालन करता था। रत्नदत्त अपने पिता के बौद्ध धर्मानुयायी होने से चिढ़ता था। वह पिता से कहता है "तुम वैदिक धर्म छोड़कर अधर्म का सेवन करते हो। ब्राह्मणों को छोड़कर भिक्षुओं की पूजा करते हो। स्नान शौच आदि से हीन और अपने समय पर भोजन के लोभी, शिखा और केशों को मुड़वा कर केवल कौपीन पहनते हो। विहारों (मठों) में स्थान मिलने के लोभ से सभी नीच जाति के व्यक्ति जिस बौद्ध धर्म को ग्रहण करते हैं, उससे हमारा क्या प्रयोजन ?[1] इस आलोचना में अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु सत्यांश भी कम नहीं। बौद्ध विहारों की मर्यादा नष्ट हो चुकी थी। अधिकांश नीच जाति के लोग अपनी सामाजिक हीन स्थिति से बचने के लिए बौद्ध कहलाना श्रेयस्कर मानते थे। बौद्ध बन जाने पर जातिपाँति का भेद मिट जाता था। अतः बौद्ध धर्म के तत्वतः ज्ञाता न होने पर भी रहन-सहन के अच्छे स्तर के लोभ से इस ओर आकृष्ट थे। ब्राह्मण धर्मावलम्वी जनता इन्हीं शब्दों में इनकी आलोचना करती थी। जैसे जीविका के लोभ से बहुत से लोग सन्यासी बन जाते हैं, वैसे ही लोग, बौद्ध धर्म स्वीकार कर रहे थे। दोनों धर्मों के मूलभूत सिद्धान्त में मतभेद न होने से, उच्च वर्ग के लोगों की भी सहानुभूति थी। वितस्तादत्त कहता है कि "ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म में भेद कहाँ है ? ब्राह्मण धर्म भी यही कहता है रागद्वेष हीनता, सत्य, प्राणिमात्र पर दया करना और जाति पाति के झूठे झगड़ों से वह रहित हो। सभी जीवों पर अभय प्रदान करने वाले इस बौद्ध सिद्धान्त को कुछ लोगों के दोष से दूपित नहीं माना जाना चाहिए। उपकार करना धर्म है, इसमें किसी का मतभेद नहीं है। प्राणियों को अभय प्रदान के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपकार नहीं। इसलिए अहिंसा-प्रधान मोक्षदायक इस सिद्धान्त में मेरा प्रेम है तो यह कौन सा अधर्म है ?"[2]

बुद्ध के प्रति सभी का समान आदरभाव था। स्वयं कवि सोमदेव ने बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया है। "संसार में सरस्वती, स्कन्द और जिन (बुद्ध) ही धन्य हैं।"[3] बुद्ध मोक्ष के प्रतीक माने जाने लगे थे। वीतराग हेमप्रभ को ऊर्ध्वरेता बुद्ध के समान बताया गया है।[4] नागार्जुन बुद्ध के समान गति को प्राप्त हुआ, ऐसा बताया गया है।[5] बौद्ध विहारों में बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित थी जिसकी पूजा की जाती थी। सोमप्रभा ने बुद्ध की पूजा का सामान लाने की आज्ञा दी।[6] जातक कथायें आदरपूर्वक कही सुनी जाती थीं।[7] बौद्ध विहार बौद्ध दर्शन के प्रचार केन्द्र थे। कथासरित्सागर में अनेक बौद्ध विहारों की चर्चा है। इनका निर्माण बौद्ध मतावलम्वी राजाओं द्वारा किया जाता था।[8] इसी प्रकार राजा कलिंगदत्त बुद्ध की अनेक मूर्तियों वाले विहार में आया। तक्षशिला के अनेक बौद्ध-विहार का वर्णन मिलता है। तक्षशिला

१. क० स० सा० ६।१।१८-२० २. क० स० सा० ६।१।२२-२५

३. वही, ९।१।२०५ "धन्याः सरस्वतीस्कन्दो जिनश्च जगतित्रयः"

४. वही, १२।५।२५९ ५. वही ७।७।५३ "नागार्जुनोऽपुनर्जन्मा गतो बुद्धसमां गतिम्"

६. वही, ६।३।३८ ७. वही, १२।५।१२० ८. क० स० सा० ६।३।३७

नगरी, ऊँचे ऊँचे अनेक विहारों से ऐसी प्रतीत होती थी, मानो ऊँचे शृंगों से यह घोषणा कर रही हो कि मेरे समान दूसरी नगरी संसार में नहीं।[1] समाज में बौद्ध भिक्षुओं की पूजा होती थी।[2] राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि कश्मीर में अनेक विहार थे। वितस्ता नदी के निकट के विहार अधिक प्रसिद्ध थे।[3] महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने "दशावतार" ग्रन्थ में महात्मा बुद्ध को एक अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया है।[4] बौद्ध दर्शन के प्रचार के लिए बहुत सी नीति-विषयक कथाओं का प्रचार था। किसी में क्षमा की शंसा की गई है तो किसी में दान की। बौद्ध धर्म की छह पारमिताओं का अलग-अलग निर्देश कर प्रत्येक से सम्बद्ध कथा दी गई है। दानपारमिता, शीलपारमिता[5] क्षमा पारमिता,[6] धैर्यपारमिता,[7] ध्यान-पारमिता[8] एवं प्रज्ञापारमिता[9] का अलग-अलग वर्णन है।

बताया गया है कि बुद्धोक्त इन छह पारमितारूपी नौका के द्वारा भवसागर पार किया जा सकता है।[10] इस प्रकार कथासरित्सागर कालीन समाज में बौद्ध धर्म भी जीवन्त प्रेरणाश्रोत था, इसमें सन्देह नहीं।

जैनधर्म—यह भी भारत का प्राचीन धर्म है। चौबीस तीर्थंकारों ने समय-समय पर जैन धर्म की शिक्षा का प्रचार किया। किन्तु हिन्दू धर्म के सामने इनका प्रभाव नहीं के बराबर रहा। मध्यकाल में बहुत सीमित समाज में यह मान्य था। चालुक्य दुर्लभ राज के पुत्र भीम के दण्डनायक विमल ने वर्द्धमान सूरि की प्रेरणा से १३१ ई० में आबू पर नेमिनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया।[11] कथासरित्सागर में इस धर्म के अत्यल्प उल्लेख मिलते हैं।[12]

---

१. वही, ६।२।७ २. वही, ६।१।१५....."भिक्षू पूजैकतत्परः"

३. राजतरङ्गिणी ७।१२१, ८।२४६,५८, ११७१-७२, २४०२,२४१० आदि

४. Keith. Hist Skt. Lt. page 159 ५. क० स० सा १२।१५।२३६ ६. वही, १२।५।२७७

७. वही, १२।५।२७७ ८. वही, १२।५।२८३ ९. वही, १२।५।३१८

१०. क० स० सा० १२।५।३६२ ११. ग्या० स० भा०, पृ० २३२ १२. क० स० सा० ६।१।११८

पञ्चम परिच्छेद

दर्शन

धर्म के कुछ जीवन दर्शन से भारतीय समाज हमेशा प्रभावित होता रहा है। विभिन्न धर्मों से ही उत्पन्न ये दर्शन धार्मिक विश्वासों के अभिन्न अंग रहे हैं। आचार सम्बन्धी मान्यतायें लगभग सभी धर्मों में समान रही हैं। इस आचार एवं नीति के पालन पर विशेष बल दिया जाता था। कथा द्वारा इन सिद्धान्तों के प्रचार में अत्यधिक सहायता मिलती थी। यह संसार अनित्य है। मानवजीवन दुखपूर्ण है आदि धारणायें प्राचीन हैं। कथासरित्सागर में जीवन के शाश्वत मूल्यों को उद्घाटित करने वाली अनेक कथायें संकलित हैं। बताया गया है कि मनुष्य नित्य दुखी रहते है।[1] यह शरीर क्षणभंगुर है। अतः कौन बुद्धिमान् इस अनित्य सुखभोग में डूबता है।[2] लक्ष्मी की मृगतृष्णा से बचना चाहिए।[3] अनिवार्य दुःखों से भरा यह संसार अनित्य है।[4] इस प्रकार संसार की अनित्यता बताकर असत् कर्मों से विरत करने का प्रयास किया जाता था। पूर्वजन्म की धारणा भी भारतीय जीवन दर्शन का प्रमुख अंग है। पूर्वजन्म में किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल मनुष्य इस लोक में भी पाता है।[5] इस जन्म या पूर्व जन्म के किये हुए अपने ही अच्छे बुरे कर्मों के प्रभाव से सुरों और असुरों सहित समस्त संसार कर्मानुसार भोग करता है।[6] शुद्धाशुद्ध मानसिक संकल्प के अनुसार मनुष्य फल भोगता है।[7] पुण्यात्माओं का शुद्ध संकल्प अच्छा फल देता है। दुष्ट भावना से दूषित होने पर अनिष्ट फल देता है।[8] कृतघ्न का कल्याण नहीं होता।[9] निन्दित जीवन से मृत्यु श्रेयस्कर है।[10] सम्पत्ति तप के अधीन है।[11] धर्म की कमाई स्थायी है।[12] इस प्रकार के नीति उपदेशों के द्वारा वैयक्तिक चरित्र-निर्माण में सहायता मिलती हैं। इसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। अधिकांश व्यक्ति अधार्मिक कार्यों से बचते हैं। पाप का भय एवं पुण्य का लोभ उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त करता है।

मध्यकाल सांस्कृतिक प्रगति का संधिकाल है। एक ओर आदिम सभ्यता की देन तन्त्र-मन्त्र जादू टोना में लोगों का विश्वास है, तो दूसरी ओर जाति-पाँति को अनावश्यक बताने वाला प्रगतिवादी स्वर भी मुखरित है।[13] धार्मिक आडम्बर के स्थान पर शाश्वत सत्य पर बल दिया गया है। ऐश्वर्य, डाह, निर्दयता, मदोन्मत्तता, विवेकशून्यता में एक-एक अनर्थकारी है।[14] क्षमा ही ब्राह्मण का वास्तविक धर्म है।[15] इस प्रकार के दर्शन से कथासरित्सागर कालीन समाज की प्रबुद्ध चेतना का पता चलता है।

---

१. क० स१ सा० २।१।४७ २. वही, १।४।१३३ ३. वही, १।४।१३४ ४. वही, ७।७।६०

५. क० स० सा० ७।६।१०९ ६. वही, १।१।२०९

इत्यैहिकेन च पुराविहितेन चापि स्वेनेव कर्मविभवेन शुभाशुभेन।

शश्वद् भवेत्तनुरूप विचित्रभोगः सर्वोहि नाम सुरासुर एष मार्गः॥

७. वही, ६।१।१३२ ८. वही, ६।१।१२१-२२ ९. वही, १।३।४४ १०. वही, १।४।१५

११. वही, १।३।२४ १२. वही, ३।५।५० १३. वही, ६।१।२२

१४. क० स० सा० ६।२।३२ १५. वही, ६।२।२६

षष्ठ परिच्छेद

तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना

तन्त्र-मन्त्र एवं जादू-टोना का व्यापक प्रभाव, उस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। समाज के अधिकांश लोगों की आस्था इस चमत्कारी विद्या के प्रति थी। अलबीरुनी ने लिखा है "तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोने में हिन्दुओं का अडिग विश्वास है, और इसके प्रति उनका झुकाव प्रायः बहुत है।"[1] कथासरित्सागर को इस विद्या के प्रयोग का विश्वकोप कहा जा सकता है। विभिन्न मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त करने की विधि, उनका प्रयोग एवं उनसे प्राप्त अलौकिक क्षमता का विशद उल्लेख हमें कथासरित्सागर में उपलब्ध है। स्त्रियों में इस विद्या का प्रचार सबसे ज्यादा है।[2] चंचलता, साहस और डायनपन, उस युग की स्त्रियों के तीन मुख्य दोप बताये गये हैं।[3] बताया गया है कि "अव्यक्त परमात्मा से वे शक्तियाँ और अनुशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उसी अव्यक्त से विन्दु मार्ग पर आवृत प्राण शक्ति का उद्गम हुआ। वही परमात्मतत्त्व की कला से युक्त होकर विद्या के मंत्रों का रूप धारण करती है।[4] अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में तान्त्रिक प्रयोगों का वर्णन मिलता है। मालती माधव, कर्पूरमंजरी एवं हर्षचरित में कतिपय उल्लेख हैं।

साधना विधि—इन तन्त्र-मन्त्रों की सिद्धि के लिए अघोर पन्थ का सेवन आवश्यक था। श्मशान भूमि इसकी साधना के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। आदित्य शर्मा एक संन्यासी के साथ श्मशान में जाकर दक्षिणी की सिद्धि करता है।[5] नग्नता, रक्त, मद्य और महामांस (नरमांस) इसकी सिद्धि के आवश्यक अंग हैं। रानी कुवलयावली मोटा सिन्दूर का तिलक लगाये, रंग विरंगे बड़े से मण्डल के भीतर बैठी हुई तथा रक्त, मद्य और नरमांस से उग्रवलि देती हुई मन्त्र जप करती है।[6] इसी प्रकार वह नंगी होकर कालरात्रि में मंडल के बीच बैठकर भैरव की पूजा करती थी। भैरव की पूजा में मनुष्य का मांस खाना आवश्यक था।[7] महाव्रती जालपाद श्मशान में जाकर वटवृक्ष के नीचे पूजा कर खीर नैवेद्य चढ़ाकर सिद्धि प्राप्त करता है।[8] पिशाच साधना प्रकार में बताया गया है कि रात को, केश खोलकर नंगे होकर हाथ में चावल लेकर मन्त्र का जप करते हुए चौराहे पर जाना चाहिए। वहाँ दो मुट्ठी चावल रख कर बिना पीछे देखे लौट आना चाहिए।[9] इससे स्पष्ट है कि नग्नता श्मशान एवं महामांस इन सिद्धियों के लिए आवश्यक थे।

आराध्य एवं आराधक—इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के आराध्यों की

---

१. ए० आ० इ० वोल्यूम ॥' पृ० १९३   २. क० स० सा० ३।६।८७-८८
३. वही, ७।३।१७०   ४. वही ८।३।११५-११६   ५. वही, ८।६।१६३
६. वही, ३।६।५०-५१   ७. वही, ३।६।११०-१२   ८. वही, ५।३।२०५-२०६
९. वही, ६।२।१६४-६६

आराधना की जाती थी। इनमें भैरव[1], वैताल[2], यक्ष[3], पिशाच[4], योगिनी[5], यक्षिणी[6], विद्याधरी[7], शाकिनी[8], डाकिनी[9], ब्रह्मराक्षस[10], भूत[11] आदि प्रमुख हैं। इनकी साधना करने वाले को महाव्रती[12], कापालिक[13], खण्डकापालिक[14], परिव्राजिका[15] आदि कहा जाता था।

सिद्धि—इन तन्त्र-मन्त्रों से विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ मिला करती थीं। कथासरित्सागर में बहुत सी सिद्धियों के नाम दिये गये हैं जिनमें प्रज्ञप्ति विद्या[16], कालसंकर्षिणी विद्या[17] मायावती विद्या[18], मोहिनी और परिवर्तिनी[19], विपरिवर्त्तिनी[20], कृत्या[21] हेमसिद्धि[22] आदि प्रमुख हैं। परकायप्रवेश विद्या का उल्लेख सर्वाधिक है। इन्द्रदत्त मृत राजा नन्द के शरीर में प्रवेश कर जाता है।[23] इस विद्या के सम्बन्ध में मय कहता है कि "जो व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक स्वतन्त्र रूप से दूसरे शरीर में योग की युक्ति से प्रवेश करता है, वह पहले अन्तःकरण में प्रवेश कर इन्द्रियों में प्रवेश करता है। उसका मन और उसकी बुद्धि ठीक रहती है। जैसे कोई व्यक्ति, एक घर से दूसरे घर में प्रवेश करता है वैसे ही वह व्यक्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। वह ज्ञानवान् योगेश्वर सब कुछ स्मरण रखता है।[24]

यद्यपि कथासरित्सागर कालीन समाज में तन्त्र-मन्त्र का प्रभाव व्यापक था, फिर भी इस विद्या को समाज हेय दृष्टि से देखता था। तन्त्र-मन्त्र जानने वाले व्यक्ति सिद्ध समझे जाते थे। मृत को जीवित करने वाला जीवदत्त ब्राह्मण पतित माना जाता है।[25] ऐन्द्रजालिक प्रयोगों को जानने वाला, किन्तु अपने कर्म से हीन ब्राह्मण सम्मान्य नहीं।[26] एक तपस्वी एक ब्राह्मण के घर पहुँचता है। किन्तु जब उसे मालूम होता है कि वह तान्त्रिक है, तो तपस्वी उसके यहाँ अन्न ग्रहण नहीं करता।[27] तपस्वी उस ब्राह्मण को पाप का अवतार एवं ब्रह्मराक्षस कहता है।[28] इससे स्पष्ट है कि तन्त्र-मन्त्र जानने वाले निकृष्ट व्यक्ति माने जाते थे। समसामयिक साहित्य में भी इसकी निन्दा की गई है।[29]

---

१. क० स० सा० ३।६।११० २. वही, २।३।४८ ३. वही, ३।६।३२ ४. वही, ६।२।१८४
५. वही, ८।५।१२२ ६. वही, ८।६।१६३ ७. वही, ९।१।९ ८. वही, १०।५।२९४
९. वही, ३।४।१५० १० वही, १२।२७।७१ ११. वही, १५।१।९६ १२. वही, ७।३।५४
१३. वही, १८।२।१६ १४. वही, १८।२।६ १५. वही, २।५।८७ १६. वही, ९।१।५१
१७. वही, १२।२।६९ १८. वही, ७।८।३८ १९. वही, ८।३।११८ २०. वही, ८।६।१२१
२१. वही, १५।१२१ २२. वही, १४।४।८१ २३ वही, १४।९९
२४. क० स० सा० ८।२।६०-६१ २५. वही, ९।२।११३ २६. वही, १२।१६।३७
२७. वही, १२।१०।२१-३१ २८. वही, १२।१०।२० २९. क्षेमेन्द्र—दर्पदलनम् (काव्यमाला) ३।७–४२

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

कथासरित्सागर की रचना ग्यारहवीं सदी में हुई। अतः हर्ष के बाद एवं मुस्लिम साम्राज्य के पूर्व की भारतीय संस्कृति इसमें चित्रित है। कथासरित्सागर में प्राप्त भौगोलिक वर्णन से विशाल भारत की सीमा का पता चलता है। यद्यपि समस्त देश का वाचक "आर्यावर्त्त" या "भारत" जैसा कोई शब्द नहीं मिलता फिर भी भारत के विभिन्न विभागों का स्पष्ट उल्लेख है। उत्तरापथ, दक्षिणापथ, मध्यदेश, पूर्वीभाग एवं अपरान्त के अन्तर्गत समस्त भारतीय प्रदेश वर्णित हैं। जनपदों में अंग, वंग, कलिंग, चोल, मुरल, लाट, कामरूप, मगध, अवन्ती, मरुकच्छ, कौशल, गान्धार, चोल, पांचाल, मालव, वत्स, विदर्भ, विदेह आदि प्रमुख थे। इन प्रदेशों की वर्तमान पहचान की जा चुकी है। अपर गांधार की राजधानी "पुष्पकलावती" का भी कथासरित्सागर में उल्लेख है।

ग्यारहवीं सदी तक भारत सुदूर देशों के घनिष्ट सम्पर्क में आ चुका था। सामुद्रिक यातायात के मार्ग प्रशस्त हो गये थे। पूर्वी द्वीप समूह इनकी पहुँच के भीतर थे। सुवर्ण द्वीप वर्तमान सुमात्रा है, नारिकेल द्वीप आधुनिक निकोवार एवं कटाह द्वीप आज का केड़ा द्वीप है। कर्पूर द्वीप हिन्देशिया से आगे सम्भवतः वरुस नामक द्वीप है। जिसे गुप्त युग में वारुषक द्वीप कहते थे। द्वीपान्तरों में मलयपुर द्वीप का भी उल्लेख है जो वर्तमान मलाया द्वीप है। श्वेतद्वीप क्षीरोद समुद्र के पास था जिसे आजकल कास्पियन सागर कहते हैं। हिमालयीय प्रर्वतीय प्रदेशों का विस्तृत विवरण इसमें दिया गया है। यह पृथ्वी चार समुद्रों से परिवेष्टित बताई गई है। नदी, पर्वत, वन, उपवन, फल-फूल, पशुपक्षी आदि का विस्तृत उल्लेख सांस्कृतिक सम्पन्नता प्रगट करते हैं।

कथासरित्सागर में तत्कालीन समाजगत विशेषतायें पूर्णतः चित्रित हैं। वैदिक युगीन वर्णाश्रम व्यवस्था इस युग में भी यथावत् थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध थी। धार्मिक क्षेत्र में उन्हें एकाधिकार प्राप्त था। उन्हें जीविका निर्वाह के लिए राजा की ओर से भूमि एवं ग्राम दान स्वरूप मिलते थे, जिसे अग्रहार कहा जाता था। क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य आपत्ति से रक्षा करना माना जाता था। हर्ष के समय से राजपूतों की समाज में मर्यादा पुनः प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कथासरित्सागर के समय भी क्षत्रिय उन्नति के शिखर पर थे। वैश्य अपने व्यावसायिक कर्म के लिए प्रसिद्ध थे। विभिन्न कठिनाइयाँ सहन कर भी वे दूर देशों की यात्रायें करते थे। वर्णाश्रम धर्मानुकूल सामाजिक व्यवस्था रहने पर भी जातिगत कट्टरता नहीं थी। अनेक ब्राह्मण राजा बन गये थे। कुछ ब्राह्मण भी युद्ध कला में निपुण थे। कोई ब्राह्मण कुश्ती लड़ने में कुशल था। अनुलोम विवाह प्रचलित थे। क्षत्रिय कन्या के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र भी प्रत्याशी बन कर आते हैं। अन्तर्जातीय विवाह को सामाजिक स्वीकृति थी। स्थान का भी कोई बन्धन नहीं था। पौण्ड्र निवासी युवक पाटलिपुत्र की कन्या से विवाह करता है।

विवाह-प्रकारों में गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ माना जाता था। वर की ओर से ही विवाह प्रस्ताव रखे जाते थे। विवाहोत्सव सोल्लास मनाया जाता था। विवाह के बाद वर कुछ दिनों तक ससुराल में

ही रहते थे। बहुपत्नित्व की प्रथा थी। नियोग की प्रथा समाप्त हो चुकी थी। वृद्ध विवाह निन्दित माना जाता था। स्त्रियों में चरित्र सम्बन्धी दुर्बलतायें उनकी उच्छृङ्खल मनोवृत्ति की सूचना देती है। कथा-सरित्सागर में प्राप्त कथा में अविश्वसनीय एवं दुष्टा पत्नियों की संख्या सबसे अधिक है। व्यापार में स्त्री को सहायिका बनाना उस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तन्त्र-मन्त्र की ओर स्त्रियों का अधिक झुकाव था। अपहरण के बाद प्राप्त स्त्री को ग्रहण करने में लोगों को कोई हिचक नहीं थी। उसके लिए किसी धार्मिक विधि की आवश्यकता नहीं थी। अपहृत पत्नियों को पति पुनः सहर्ष स्वीकार कर लेता था। समाज इसे अनुचित नहीं मानता था। वेश्यायें समाज में सम्मानित थीं। उनका व्यवसाय भी कला का अंग समझा जाता था। वे मनोरंजन के लिए आवश्यक थीं। उनकी सम्पन्नता से उनके वैभव का पता चलता है। देवदासी की प्रथा उस युग की महत्त्वपूर्ण घटना है। देवमन्दिर में भेंट की गई कन्या सबके लिए ग्रहणीय थी। सती प्रथा का विशेष प्रचार था। विधवाओं की स्थिति दयनीय थी। गर्भवती स्त्री सती नहीं होती थी। समाज में द्यूत खेलने का प्रचार था। इसके लिए कोई दण्ड नहीं था। जगह-जगह द्यूत गृह थे।

राजनीतिक अस्थिरता एवं उथल-पुथल भी उस युग की विशेषता है। छोटे-छोटे राजा परस्पर युद्ध रत थे। परस्पर ईर्ष्या राजलोभ एवं सुन्दरी कन्या के लोभ में युद्ध किये जाते थे। राजा की श्रेष्ठता सर्वमान्य थी। किन्तु उसकी निरंकुशता पर प्रजा का अंकुश था। अयोग्य राजा, प्रजा द्वारा गद्दी से हटाये भी गये हैं। मध्यकालीन राजा विलास प्रिय थे। राजकार्य मन्त्रियों पर छोड़, वे विलासी जीवन बिताया करते थे। हर्ष के बाद कोई ऐसा शक्ति शाली राजा नहीं था जो सभी को एक सूत्र में बांध सके। उधर भारत की उत्तरी सीमा पर म्लेच्छ संघ स्थापित थे। म्लेच्छों का उत्तरी सीमा पर प्रभाव था। कभी वे भारतीय को पकड़कर गुलाम बनाकर बेंच भी लेते थे। शासन-प्रणाली प्राचीन राजतन्त्र के अनुसार ही थी।

सैन्य संगठन वैज्ञानिक था। चतुरंगिणी सेना का संगठन किया जाता था। सर्वोच्च अधिकारी राजा था। समूची सेना कई वर्गों में विभक्त थी। रथ सेना एवं गजबल का विशेष महत्त्व बताया गया है। वीरों के लिए युद्ध महोत्सव था। युद्ध में मृत सैनिक स्वर्ग से भी ऊपर जाते हैं, ऐसी धारणा थी। व्यूह प्रतिव्यूह रचे जाते थे। अस्त्र प्रत्यस्त्रों का पूर्ण विकास हो चुका था। आग्नेयास्त्रों के प्रयोग का भी उल्लेख है। युद्ध की आचारसंहिता का पालन आवश्यक था। निरस्त्र की हत्या नहीं की जाती थी। ब्राह्मण एवं दूत अवध्य थे। विषकन्या के प्रयोग का उल्लेख है। युद्ध के समय विष प्रयोग द्वारा शत्रु सैनिक को क्षति पहुंचाना स्वीकृत था। जासूसों का समुचित संगठन था। उसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं।

आर्थिक सम्पन्नता रहने पर भी बड़े छोटे के बीच अन्तर बढ़ रहा था। एक ओर धनाढ्य लोग थे। दूसरी ओर ऐसे परिवार का भी वर्णन है, जो मजदूरी कर किसी तरह भरण-पोषण कर पाता है। चावल उस समय का मुख्य भोजन था। गेहूँ का भी उल्लेख है। गेहूँ अधिकतर निर्धन व्यक्ति का भोजन था। विभिन्न पेय के अतिरिक्त मद्य सेवन का पूर्ण प्रचार था। विशिष्ट अवसरों पर मधुपान आवश्यक सा प्रतीत होता है। स्त्रियाँ भी मद्यपान में भाग लिया करती थीं। स्त्रियों द्वारा मद्यपान समाज में प्रचलित था। पुरुष भी आभूषण धारण करते थे। कंगन, केयूर, हार पुरुषों के भी आभूषण थे। पुरुष

कानों में कुण्डल एवं अंगुलियों में अँगूठी धारण करते थे। पुरुष पुष्पमाला भी धारण करते थे। कंचुक एवं कूर्पासक स्त्रियों के पहनावे का विशेष अंग था। अधोवस्त्र, उत्तरीय एवं उष्णीष पुरुष धारण करते थे। मौक्तिक हार, कंगन, कर्णाभूषण, अंगुलीयक, मेखला, नूपुर स्त्रियों के प्रिय आभूषण थे। कानों में कर्णाभूषण धारण करती थी। वे पुष्प-प्रसाधन में भी कुशल थीं। बालों को फूलों से सजाया करती थीं। कानों में कर्णोत्पल धारण करती थीं।

वसन्तोत्सव सर्वाधिक प्रचलित लोकोत्सव था। आबालवृद्ध उस अवसर पर आनन्द मनाया करते थे। कथासरित्सागर में प्राप्त विवरणों के अनुसार विवाह के दिन स्त्रियाँ कामदेव मन्दिर में जाकर पूजा करती थीं। वर्षा के अधिष्ठातृ देवता इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए भाद्र महीने में इन्द्रोत्सव मनाया जाता था। दुर्गापूजा के उपलक्ष्य में आश्विन में उत्सव मनाया जाता था। मुहूर्त्त विचार का विशेष प्रचलन था। शुभ लग्न एवं मुहूर्त्त में ही विवाहादि शुभ कार्य किये जाते थे। मनोरंजन के लिए गीत, वाद्य, नृत्य आदि गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था।

शिक्षा गुरुकुलों में दी जाती थी। ब्रह्मचारी गुरुकुलों में रहकर गुरु सेवा करते थे। ब्रह्मचारियों को कुछ विशेष नियमों का पालन करना पड़ता था। प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र समस्त भारत में फैले हुए थे। जीवन निर्वाह के लिए विद्वानों को राज्य की ओर से दान के रूप में भूमि ग्रामादि दिये जाते थे, जिसे अग्रहार कहा जाता था। ये अग्रहार उस समय शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। ब्राह्मणमठ भी स्थापित थे जहाँ शिक्षा की व्यवस्था थीं। वलभी, काश्मीर एवं पाटलिपुत्र उस समय के प्रमुख शिक्षा केन्द्र थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय छात्र इन गुरुकुलों में अध्ययन करते थे। सम्पन्न परिवार के छात्रों में भी विद्या का व्यसन था। वैश्य के लिए साधारण गणित का ज्ञान आवश्यक बताया गया है।

पाठ्यविषय व्यापक था। वेद के साथ-साथ ब्राह्मणों को भी शस्त्र विद्या की शिक्षा दी जाती थी। अन्य विद्याओं में व्याकरण शास्त्र का प्रमुख स्थान था। समाज में ज्योतिष एवं आयुर्वेद का प्रचार देखने से प्रतीत होता है कि इनकी शिक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध था। ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ बौद्ध मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे, जहां हीन वर्ण के लोग शिक्षा ग्रहण करते थे। विद्वत्ता की परीक्षा शास्त्रार्थ द्वारा की जाती थी। प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों में जाकर विद्वान् शास्त्रार्थ द्वारा अपनी विद्वत्ता प्रमाणित करते थे। स्त्रीशिक्षा का भी प्रचार था। उनके पाठ्यक्रम में विविध विद्या के अतिरिक्त विभिन्न कला में निपुणता आवश्यक मानी जाती थी। कुछ वैज्ञानिक आविष्कार आश्चर्यजनक हैं। संगीत, नृत्य, वाद्य, वास्तुकला मूर्तिकला आदि अपने वैभव के चरमोत्कर्ष पर थे। वैदिक धर्म का व्यापक प्रचार था। कुछ अनार्य देवता एवं उपासना पद्धति को आर्यों ने भी अपना लिया था। ब्राह्मण धर्म में कई सम्प्रदाय बन चुके थे। उनमें शैव सम्प्रदाय की व्यापकता सर्वाधिक थी विभिन्न देवताओं में शिव, गणेश एवं कार्त्तिकेय की पूजा का अधिक प्रचार था। विन्ध्यवासिनी देवी की प्रसिद्धि अधिक थी।

शबर, किरात, पुलिन्द आदि जंगली जातियों के साथ आर्यों का सम्पर्क घनिष्ठ होता जा रहा था। राजा उनसे भी सहायता लिया करते थे।

तीर्थों में बदरिकाश्रम एवं कनखल विशेष प्रसिद्ध थे। यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर आदि के प्रति लोगों का विश्वास था। अधिकतर हीनवर्ग के लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित थे। बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण हो चुका था। तन्त्रमन्त्र एवं जादू-टोना में लोगों की दृढ़ आस्था थी। इनके विविध प्रयोगों से वे परिचित थे। तत्कालीन समाज में इनका व्यापक प्रभाव था।

इस प्रकार भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं शिक्षा सम्बन्धी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ :—

अपरार्क : याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, पूना १९०३

अमरकोष : रामाश्रमी टीका, चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, वाराणसी

आपस्तम्ब गृह्य सूत्र : हरदत्त टीकासहित

आश्वलायन गृह्य सूत्र : नारायण टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

ऋग्वेद : सायण भाष्य सहित, सम्पादक एफ० मैक्समूलर, द्वि० सं०, १९९०-९२

आर्यासप्तशती :

कथासरित् सागर : मूल—मोतीलाल बनारसीदास, १९७१

कथासरित् सागर—दो भाग : अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

काव्यमीमांसा : अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

कौटलीय अर्थशास्त्र : अनु० वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा प्रकाशन

कर्पूर मंजरी : राजशेखर, चौखम्भा प्रकाशन

कृत्य कल्पतरु : लक्ष्मीधर, सम्पादक, के० पी० रंगस्वामी आयंगर, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा।

कामसूत्र : चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, वाराणसी

कादम्बरी : बाणभट्ट, चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, वाराणसी

गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, १९१०

गाथा सप्तशती :

गृह्य रत्नाकर : आनदाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना

गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर

मनुस्मृति : चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, वाराणसी

मेघदूत : कालिदास, चौखम्भा प्रकाशन

मालविकाग्निमित्र : कालिदास, चौखम्भा प्रकाशन

महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर

याज्ञवल्क्य स्मृति : चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय

यशस्तिलक चम्पू : चौखम्भा प्रकाशन

दशावतार चरित : काव्यमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

रघुवंश : कालिदास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, वाराणसी

बृहदारण्यकोपनिषद् : चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

विष्णुपुराण : गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी, १९०२